समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष 15 अंक 57 : जुलाई-सितंबर 1994

संपादक मंडल

यू.आर. अनंतमूर्ति

रमाकांत रथ

इंद्रनाथ चौधुरी

संपादक

गिरधर राठी

त्रैमासिक
समकालीन भारतीय साहित्य
वर्ष 15 अंक 57 : जुलाई-सितंबर 1994

प्रकाशक : साहित्य अकादेमी
रवीन्द्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग
नई दिल्ली 110001
फ़ोन : 386626, 386621, 386623
386088, 387064
तार : साहित्यकार
टेलेक्स : 31/65445 सैंड इन
फ़ैक्स : 091-11-382428

© सर्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक, अनुवादक एवं साहित्य अकादेमी की स्वीकृति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से साहित्य अकादेमी, संपादक मंडल या संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

आवरण / रेखाचित्र / रूपांकन : **करुणानिधान**
आवरण—प्रथम : **भग्नावशेष**
द्वितीय : **खंडहर से निकलकर**
तृतीय : **रूमानी हवाओं में**
चतुर्थ : **उद्बोधन**

मूल्य 15 रुपए

शुल्क-दर : एक वर्ष 50 रुपए : तीन वर्ष 135 रुपए
हवाई डाक : एक वर्ष 28 डॉलर/15 पौंड : तीन वर्ष 75 डॉलर/40 पौंड
समुद्री डाक : एक वर्ष 10 डॉलर/6 पौंड : तीन वर्ष 25 डॉलर/15 पौंड

शुल्क इस पते पर भेजें (केवल मनीऑर्डर, ड्राफ्ट या नकद) :

सचिव, साहित्य अकादेमी,
विक्रय विभाग, 'स्वाति', मंदिर मार्ग, नई दिल्ली 110001
फ़ोन : 3735297

SAMAKĀLĪN BHĀRATĪYA SĀHITYA:
A quarterly journal of Indian Literature from 22 languages in Hindi, published by Sahitya Akademi, Rabindra Bhavan, 35 Ferozeshah Road, New Delhi-110001, India.

समकालीन
भारतीय साहित्य
साहित्य अकादेमी की त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष 15 अंक 57 : जुलाई-सितंबर 1994

चिन्तन-भूमि

गोपीचंद नारंग : संस्कृत भाषा-दर्शन और संरचनावादी एवं उत्तर-संरचनावादी चिन्तन (उर्दू) / 9
कैलाश वाजपेयी : रचना और चेतना (हिन्दी) / 28
हेमचंद्र पांडे : भाषा और चेतना (हिन्दी) / 31

नाटक

शा. बालुराव : कुआँ और बिल्ली (कन्नड) / 34

असमिया युवा कविता :जीवन नरह : प्रेम / 55 **सावित्री शइकिया बरुवा :** स्वाधीनता / 56 **नीलिम कुमार :** आसिना की तबीअत / 57 **अनुपमा बसुमतारी :** संगम / 58 **अर्चना पुजारी :** माजुली / 59 **सनंत तांती :** गैंडा / 60 **समीर तांती :** तब मैं रोशनी से हमदर्दी जताऊँगा / 60 **नाहेन्द्र पादुन :** कविता / 61 **दिनेश डेका :** मनुष्य एक नदी है / 62

मराठी युवा कविता : शरण कुमार लिम्बाळे : मैं / 63 **अरुणा ढेरे :** किसी को नहीं मालूम / 63 **नारायण कुळकर्णी कवठेकर :** शिकार/लालटेन / 64 **सुलभा कोरे :** दहशत / 67 **अरुण म्हात्रे :** रात को जाग कर / 67 **नितीन तेंडूलकर :** एक सरल सादा धागा / 68 **अनुराधा पाटील :** कहने की इच्छा नहीं होती मुझे अब / 69 **रमेश इंगळे उत्रादकर :** दगा / 71 **विवेक मोहन राजापुरे :** इंटेन्सिव केयर यूनिट/मूँगे मोती की वर्षा / 70 **रवि कुरसुंगे :** वस्त्र / 73 **अशोक नायगावकर :** वे और तू / 74 **रजनी परूलेकर :** मानव के झुंड, शब्दों के झुंड / 75 **वसंत पाटणकर :** यह नींद में निश्चल महानगर/ शाम को अकेले पेड़ पर / 76

कोंकणी : माया सरदेसाय : साया / 78 **अरुण साखरदांडे :** एक पेड़ को घर चाहिए / 78 **काशिनाथ शांबा लोलयेकार :** हम तीन / 79

अन्य : मोहन निराश : एक था खुदा(कश्मीरी) / 81 **रश्मि धवन :** अस्तित्व (हिन्दी) / 84 **प्रेमशंकर रघुवंशी :** धनपाड़ा (18) (हिन्दी) / 85 **शेफालिका वर्मा :** इतिहास हूँ (मैथिली) / 85 **सुखचैन मिस्त्री :** गाँव: जंग की एक शाम (पंजाबी) / 86 **सौभाग्यवंत महारणा :** मायामृग (ओड़िया) / 87

कहानी

क़ादिर ज़मां : पाड़ा (उर्दू) / 89
शमोएल अहमद : बहराम का घर (उर्दू) / 92
ओबैद क़मर : मुजरिम (उर्दू) / 96
अली इमाम नक़वी : एक बहुत लंबी सड़क (उर्दू) / 99
प्रेम प्रधान : काला सर्प (नेपाली) / 105
रामसरूप अणखी : जड़ें (पंजाबी) / 109
शकुंतला पंडा : अलबम की तस्वीर (ओड़िया) / 114
बटरोही : बिच्छी बुआ पर श्वेतपत्र जारी होगा (हिन्दी) / 117
कर्त्तार सिंह दुग्गल : कमबख़्त लकीरें हाथ की (हिन्दी) / 124

ललित निबंध

ग्रेस : दंत कथाओं के संदर्भ (मराठी) / 130

अनुस्मरण [फ़कीरमोहन सेनापति]

हरप्रसाद दास : गल्प का सत्य—आत्मजीवन चरित का अंतर्ग्रन्थन (ओड़िया) / 134

आलेख

अभय कुमार दुबे : दलित चेतना—नए शहर की तलाश / 141
जयंत परमार : गुजराती दलित कविता / 154
माता प्रसाद : लोकगीतों, आंचलिक गीतों एवं अन्य गीतों में दलित / 159
कृष्णदत्त पालीवाल : विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य / 162
एम. शेषन : तमिष़ कहानी के विभिन्न सोपान—एक परिचय / 169

किताबें

अमर गोस्वामी : तमिष़ असमिया उर्दू—चार उपन्यास / 175
मोहन थपलियाल : ओड़िया और हिन्दी के दो कथा-संग्रह / 181
मिथिलेश श्रीवास्तव : कहानी में अच्छे दिन / 184
मूलचंद गौतम : व्यंग और विनोद का फ़र्क़ / 187

पाठांतर / 191

इस अंक के रचनाकार / 194

ग्राहकों/विक्रेताओं से निवेदन

☐ *समकालीन भारतीय साहित्य* का वार्षिक शुल्क जनवरी से दिसंबर के बीच प्रकाशित चार अंकों के लिए होता है। अपना वार्षिक शुल्क समाप्त होने से पहले दिसंबर में ही अगला शुल्क भेज दें तो आप की प्रति नियमित रूप से डाक से पहुँचती रहेगी।

☐ *समकालीन भारतीय साहित्य* का तीन वर्ष का शुल्क केवल 135 रुपए है। तेज़ी से बढ़ती महँगाई और नई नीतियों के तहत संभव है कि इस का शुल्क फिर बढ़े। अतः तीन वर्ष का शुल्क एक साथ और तुरंत भेजने में बचत है और सुविधा भी।

☐ *समकालीन भारतीय साहित्य* अनेक शहरों में तथा कुछेक स्टेशनों पर विक्रेताओं के पास उपलब्ध है। यदि आप के गाँव-क़स्बे-शहर में यह उपलब्ध न हो तो कृपया अपने पुस्तक विक्रेता या समाचार-पत्र विक्रेता से संपर्क करें। विक्रेता अपनी प्रतियाँ डाक, रेल या सड़क-परिवहन से मँगा सकते हैं तथा हमें सूचना दें। हमारा पता है :

सचिव, साहित्य अकादेमी,
विक्रय विभाग,
'स्वाति' मंदिर मार्ग,
नई दिल्ली-110001.
फ़ोन : 3735297

रचनाकारों से निवेदन

- ☐ रचनाएँ काग़ज़ के एक ओर हाशिया छोड़ कर डबल-स्पेस टाइप कराके ही भेजें।
- ☐ रचना की प्रति अपने पास अवश्य रखें। रचनाएँ किसी भी दशा में वापस नहीं की जाएँगी।
- ☐ रचना के साथ मूल रचना का शीर्षक, रचनाकार की अनुमति, और रचनाकार तथा अनुवादक का परिचय अवश्य भेजें।
- ☐ रचना भेजने के बाद डेढ़ माह में स्वीकृति या अस्वीकृति की सूचना न मिलने पर पत्र लिखें।
- ☐ रचना के साथ टिकट लगा पता लिखा लिफ़ाफ़ा क़तई न भेजें।

चिन्तन-भूमि : 1

गोपीचंद नारंग

संस्कृत भाषा-दर्शन और संरचनावादी एवं उत्तर-संरचनावादी चिन्तन[1]

भारतीय चिन्तन एवं दर्शन में भाषा की प्रकृति, उस के स्वरूप और अर्थ की समस्या पर विचारणा का इतिहास बहुत प्राचीन है। इन में मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध और जैन आदि चिन्तन परंपराएँ विशेष रूप से सहभागी रही हैं। प्राचीन भारतीय चिन्तन में दर्शन के जो छह प्रधान संप्रदाय हैं उन में भाषा-दर्शन पर किसी-न-किसी कोण से अवश्य विचार हुआ है। इन में से कुछ मूलग्रंथ तो बहुत ही पुराने हैं और उन का काल वेदों के तुरंत बाद का है। कुछ मूलग्रंथ तो समय की नोच-खसोट से सुरक्षित न रह सके, किन्तु परवर्ती विचारकों के यहाँ इन का उल्लेख मिलता है, और इन की उठाई हुई समस्याओं की गूँज मिलती है। संस्कृत में यह परंपरा रही है कि परवर्ती आचार्यों ने पूर्ववर्ती मूल पाठों के भाष्य लिखे और समस्याएँ निराकृत कीं। इन में से कुछ भाष्य स्वयं इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उन का स्वरूप मूल पाठ का-सा हो गया है। दार्शनिकों और तर्कविदों के अतिरिक्त व्याकरण, अलंकारशास्त्र और काव्यशास्त्र के विशेषज्ञों ने भी काव्य-भाषा और अर्थ की समस्याओं पर चिन्तन-मनन किया है। यूँ तो पाणिनि के चमत्कारों का पाश्चात्य भाषाविद् भी लोहा माना करते हैं और भाषा पर उस की सूक्ष्म दृष्टि और फिर उस के अत्यंत निपुण पदरचना-संबंधी श्रेणीकरण से लाभान्वित होते हैं, किन्तु शब्द और अर्थ के संबंध और शब्दार्थ की समस्या के बारे में जो कुछ भी प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने लिखा है, उस की जानकारी व्यापक रूप से ज्ञात नहीं है। यह वास्तविकता है कि यह मीमांसा इतनी विचारोत्तेजक और आधारभूत है कि वर्तमान युग की नई साहित्यिक 'थ्योरी' के संदर्भ में उस पर नए सिरे से विचार हो सकता है। प्रस्तुत आलेख का उद्देश्य यही है कि सॉस्युअर के भाषा-दर्शन उत्तर-संरचनावाद और विरचनावाद के शब्दार्थ-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में यह देखा जाए कि इस विषय पर भारतीय परंपरा में क्या-क्या बहसें उठाई गई हैं और भारतीय मानस का दृष्टिकोण क्या रहा है। इस दृष्टि से भारतीय चिन्तन परंपरा और काव्यशास्त्र का विश्लेषण करने पर कुछ आश्चर्यजनक परिणाम सामने आते हैं। अर्थात् पश्चिम में जो अंतर्दृष्टियाँ अब संरचनावादी और विरचनावादी चिन्तन के द्वारा सामने आ रही हैं, उन से मिलती-जुलती अंतर्दृष्टियाँ भारतीय चिन्तन और दर्शन, और विशेष रूप से

1. यहाँ विरचनावाद सहित सास्युअर से देरीदा तक की समस्त चिन्ता-धारा अभिप्रेत है।

बौद्ध-दर्शन में शताब्दियों पूर्व से विमर्श का विषय रही हैं। उन के उल्लेख से पूर्व भारतीय चिन्तन और काव्यशास्त्रीय परंपरा की एक संक्षिप्त-सी रूपरेखा का दृष्टिगत रहना आवश्यक है।

प्राचीन भारतीय चिन्तन में भाषा की समस्या पर कई प्रकार से बहस उठाई गई है। प्रथम वैयाकरणिक चिन्तन के संप्रदाय में, द्वितीय न्याय और वेदांती चिन्तन और मीमांसा चिन्तन के संप्रदाय में, और तृतीय अलंकारशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र के संप्रदाय में। इन में वैयाकरण सब से प्राचीन हैं जिन में यास्क पाणिनि के भी पूर्ववर्ती माने जाते हैं। पाणिनि ने अपने लब्धकीर्ति ग्रंथ *अष्टाध्यायी* में संस्कृत संरचना के सिद्धांत गढ़े और उन्हें वैज्ञानिक सर्वदेशीयता के साथ नियमबद्ध किया। कात्यायन ने उस पर *वार्तिक* लिखा और पाणिनि के सूत्रों में वृद्धि की। पाणिनि के विषय में प्रसिद्ध है कि सूर्य पश्चिम से उदित हो सकता है किन्तु पाणिनि का लिखा मिथ्या नहीं हो सकता। पतंजलि ने पाणिनि और कात्यायन दोनों के मूलपाठों की टीका *महाभाष्य* के नाम से लिखी। व्याडि *महाभाष्य* से पूर्व ही *संग्रह* लिख चुका था, किन्तु *संग्रह* का मूलपाठ नहीं मिलता। पतंजलि के पश्चात् व्याकरण परंपरा का सब से बड़ा चिन्तक भर्तृहरि को माना जाता है जिस ने न केवल पतंजलि के *महाभाष्य* की टीका लिखी अपितु *वाक्यपदीय* के नाम से भाषा-दर्शन पर एक संवर्धित ग्रंथ लिख कर ऐसे सिद्धांत भी स्थापित किए जिन की अर्थवत्ता कहीं अब जा कर पूरी तरह स्पष्ट हो रही है। भर्तृहरि के उत्तरवर्ती युग में नागेश भट्ट कृत *स्फोटवाद* जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ मिलते हैं किन्तु छठी-सातवीं शताब्दी के उपरांत व्याकरण-परंपरा का वेग क्षीण हो गया और यह अलंकारशास्त्र और काव्यशास्त्र की परंपराओं में समाविष्ट हो गई।

दूसरी धारा भारतीय दर्शन के छह मुख्य संप्रदायों की है। इन में शब्दार्थ की समस्या पर सर्वाधिक बहसें मीमांसकों ने उठाई हैं। इस शृंखला का मूलपाठ जैमिनि का *मीमांसा-सूत्र* है जिस पर शबर ने विस्तृत भाष्य लिखा। शबरकृत भाष्य के निष्कर्षों से मतामत के आधार पर कुमारिल भट्ट और प्रभाकर के वाद-प्रतिवाद से दो आनुषंगिक संप्रदाय अस्तित्व में आए जो सिलसिला मध्यकाल तक चलता रहा। अद्वैत मतावलंबियों में अधिसंख्य कुमारिल भट्ट के अनुयायी हैं। योग-संप्रदाय का मूलग्रंथ *योग-सूत्र* है जिस का संबंध पतंजलि से है। नियमनिष्ठ विशेषज्ञ इस पतंजलि को पाणिनि के भाष्यकार पतंजलि से भिन्न मानते हैं। भारतीय दर्शन में भाषा और अर्थ की समस्या पर मीमांसा के पश्चात् सर्वाधिक विचारणा न्याय दर्शन में हुई है जो मूलतः तर्कविदों का समुदाय है।

बौद्ध तार्किकों में नागार्जुन और दिङ्नाग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिन के शून्य और अपोह के सिद्धांतों की विवेचना में बीसवीं सदी के सॉस्युअर और देरीदा की विवेचनाओं से विलक्षण समानताएँ मिलती हैं। नागार्जुन का काल दूसरी शताब्दी ईस्वी और दिङ्नाग का काल 450 ईस्वी का है। बौद्ध अपोह चिन्तन को आगे बढ़ाने वालों में धर्मकीर्ति और रत्नकीर्ति (*अपोह-सिद्धि*) विशेष रूप से उल्लेख्य हैं।

भाषा-दर्शन और अर्थ-दर्शन के संबंध में तीसरी धारा साहित्यिक-चिन्तन अर्थात् नाट्यशास्त्र/काव्यशास्त्र/अलंकारशास्त्र/साहित्यशास्त्र की है। सिद्धांततः *नाट्यशास्त्र* ही को भारतीय काव्यशास्त्र का सर्वाधिक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। कालांतर में उठाए गए सभी विवादों

का मूलस्रोत *नाट्यशास्त्र* ही है जिस का समय छठी-सातवीं शताब्दी ईसा-पूर्व कहा जाता है, यद्यपि बाद में भी इस में बहुत कुछ जुड़ता गया। भरत का उल्लेख कालिदास के यहाँ भी मिलता है। भरत के बाद आने वालों में भामह (*काव्यालंकार*), दंडी (*काव्यादर्श*), वामन (*काव्यालंकार सूत्रावर्ती*) और उद्भट (*काव्यालंकार सार-संग्रह*) ने काव्यशास्त्र संबंधी प्रश्नों पर पुनर्विचार किया। गुप्त-युग के बाद नाट्य का ह्रास और काव्य का उत्कर्ष आरंभ होता है। अतः नवीं शताब्दी में आनंदवर्धन ने भरत के रस-सिद्धांत को विधिपूर्वक काव्य पर चरितार्थ करते हुए काव्य-भाषा की बहस को अपनी प्रसिद्ध कृति *ध्वन्यालोक* से स्थापित किया। सैद्धांतिक व्यवस्थापन की दृष्टि से *ध्वन्यालोक* को संस्कृत काव्यशास्त्र के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मूलग्रंथ के रूप में स्वीकार किया जाता है। अभिनव गुप्त ने *ध्वन्यालोक* के समर्थन में अपनी सशक्त कृति *ध्वन्यालोक लोचनम्* में भरत के नाट्यशास्त्र पर नए सिरे से विचार किया और उस की भी नई टीका *अभिनव भारती* लिखी। अभिनव गुप्त का आनंदवर्धन से वैचारिक संबंध वही है जो पतंजलि का पाणिनि से है, अर्थात् अभिनव गुप्त ने आनंदवर्धन के ध्वनि-सिद्धांत के समर्थन और उसे सैद्धांतिक आधारों पर दृढ़ बनाने में ऐतिहासिक भूमिका निभाई और काव्यशास्त्र की बहसों को नाट्य की नहीं वरन् काव्य की दृष्टि से निरूपित किया। काव्यशास्त्र की इस परंपरा में आगे चल कर धनंजय, भोज, विश्वनाथ, नागभट्ट, हेमचंद्र, जयदेव, जगन्नाथ और कई दूसरों ने परिवर्धन किए।

प्राचीन भारतीय परंपरा का एक रोचक पक्ष यह भी है कि संस्कृत काव्यशास्त्र पर सब से अधिक कार्य हिमालय की उन चोटियों और घाटियों में हुआ जो कश्मीर में हैं। आनंदवर्धन, अभिनव गुप्त और मम्मट, सभी कश्मीरी शैव ब्राह्मण थे। बौद्ध विचारकों की संख्या भी कम नहीं। नागार्जुन और दिङ्नाग बौद्ध थे और पूर्वी हिमालय क्षेत्र नागादेश के रहने वाले थे। फिर भामह और दंडी भी बौद्ध या जैन थे। इस से यह रोचक वास्तविकता भी दृष्टिगत होती है कि संस्कृत काव्यशास्त्र पर यद्यपि अधिक कार्य शैव ब्राह्मणों ने किया है किन्तु संस्कृत काव्यशास्त्र केवल ब्राह्मण चिन्तकों का ऋणी हो, ऐसा नहीं है। इस की दो धाराएँ स्पष्ट रूप से मिलती हैं। यानी ब्राह्मण-धारा जो ब्रह्म और आत्मा को मानती है और ब्राह्मणेतर धारा जो इन का प्रतिवाद करती है। नागार्जुन और दिङ्नाग के बारे में तो ज्ञात है कि ये बौद्ध थे, भामह, दंडी, शिवधूधनी, शिलामेध वरुण और रत्नश्री ज्ञान के बारे में भी समझा जाता है कि ये भी बौद्ध या जैन थे। यह एक अद्भुत संयोग है कि संरचनावादी और उत्तर-संरचनावादी पाश्चात्य चिन्तन एवं प्राचीन भारतीय चिन्तन में जो विस्मयकारी समानताएँ मिलती हैं उन का संबंध ब्राह्मणेतर चिन्तन परंपरा से अपेक्षया अधिक है, विशेष रूप से बौद्ध चिन्तक नागार्जुन और दिङ्नाग के सिद्धांतों से, जिस की चर्चा आगे आएगी।

स्पष्ट रहे कि संस्कृत काव्यशास्त्र के अवयवों, यथा अलंकार, गुण, लक्षण, व्यंजना और रीति या इसी प्रकार की दूसरी कई तकनीकी समस्याओं की बहस यहाँ जान-बूझ कर नहीं उठाई जाएगी, अपितु संस्कृत काव्यशास्त्र की केन्द्रीय अवधारणाएँ यानी भाषा-दर्शन और अर्थ के दर्शन की उन समस्याओं से सरोकार रखा जाएगा जिन की स्थिति मूल उत्प्रेरकों की है और जिन पर संस्कृत काव्यशास्त्र मूलतः

स्थापित है। आनुषंगिक बहसों और प्राविधिक शब्दों की परिभाषाओं से यथाशक्य बचा जाएगा जिस से कि अनावश्यक उलझाव न पैदा हो और ध्यान केन्द्रीय प्रतिपाद्य विषय से हटने न पाए। हमारी इस गवेषणा का उद्देश्य यही है कि वे विचार बहस में आ जाएँ जो संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद और विरचनावाद की अंतर्दृष्टियों से लग्गा खाते हैं और जिन के आधुनिक सिद्धांतीकरण से नई साहित्यिक 'थ्योरी' में विचारणा के नए पथ प्रशस्त हो रहे हैं।

शब्द की सब से बड़ी क्षमता उस की अर्थोत्पादकता है; इसे शक्ति कहा गया है। शब्द-शक्ति जो शब्द को अर्थ से जोड़ती है। शब्द और अर्थ के संबंध के बारे में भारतीय काव्यशास्त्र में दो सिद्धांत हैं : मीमांसकों का कहना है कि 'शब्द' का 'अर्थ' से संबंध नैसर्गिक है, जब कि नैयायिकों का कहना है कि संबंध नैसर्गिक नहीं है बल्कि इस का स्वरूप औपचारिक और पारंपरिक है। मीमांसकों ने *मीमांसा-सूत्र* में यह बहस उठाई है कि अर्थ के मर्म तक पहुँचना चूँकि असंभव है अतः यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि शब्दों के अर्थ उसी प्रकार नैसर्गिक हैं जिस प्रकार मानवेन्द्रियों में संवेदनों की क्षमता नैसर्गिक होती है। मीमांसक इस क्षमता को शब्द की योग्यता कहते हैं अर्थात् शब्द में निसर्गतः यह क्षमता होती है। अर्थात् शब्द सत्तावान है और अर्थ नित्य। शब्द और अर्थ का संबंध नित्य एवं अपरिवर्तनशील है। मीमांसक चूँकि वेदों के अलौकिक अर्थ स्थापित करना चाहते थे, इसलिए अर्थ की नित्यता पर बल देना और शब्द को सत्तावान सिद्ध करना उन की मुख्य समस्या थी। किन्तु नैयायिक और वैशेषिक इस सिद्धांत से तर्कसंगत असम्मति रखते हैं। इन का कहना है कि न शब्द सत्तावान है न अर्थ नित्य; यानी शब्द और अर्थ का संबंध नैसर्गिक नहीं है, और यह संबंध स्थायी भी नहीं है अपितु यह औपचारिक और पारंपरिक स्वरूप का है। यानी शब्द में अर्थ अंतर्हित या अंतर्भूत नहीं है। अर्थ रीति और चलन से निर्धारित होते हैं। गौतम ऋषि का कहना है कि शब्द और अर्थ में सीधे कोई संबंध नहीं है। यदि हमारा आशय शब्द 'अग्नि' से जलाने वाली चीज़ और 'गाय' से एक पशु-विशेष होता है तो ऐसा इसलिए नहीं है कि शब्द 'अग्नि' में जलाने और शब्द 'गाय' में पशु के गुण हैं, वरन् ऐसा मात्र इसलिए है कि परंपरा और चलन से इन शब्दों के यही अर्थ निश्चित हो गए हैं। नैयायिक इसे शब्द की 'शक्ति' या अभिधा कहते हैं और चूँकि यह रीति से स्थापित हुआ है इसलिए इसे 'परिभाषा' भी कहा गया है। यह भी स्पष्ट किया गया है कि यदि शब्द और अर्थ का संबंध नैसर्गिक होता तो 'शब्द' और 'अर्थ' साथ-साथ मौजूद होते। तलवार कहने से जिह्वा कट नहीं जाती, न ही 'मधु' कहने से मुँह मीठा हो जाता है। नैयायिकों ने यह नुकता भी उठाया कि यदि शब्द और अर्थ का संबंध स्वाभाविक और नित्य होता तो हर जगह अर्थात् हर भाषा में शब्दों के अर्थ और वस्तुओं के नाम समान होते। यदि शब्द और अर्थ के नैसर्गिक संबंध की बात को मान भी लिया जाए तो शब्दों के विभिन्न अर्थों, या एक अर्थ के लिए विभिन्न शब्दों के चलन का कोई तर्कसंगत स्पष्टीकरण संभव नहीं है। इसी प्रकार एक वस्तु के लिए विभिन्न नामों के प्रयोग से भी 'शब्द' और 'अर्थ' के स्वाभाविक संबंध के सिद्धांत का खंडन अपरिहार्य हो जाता है। ध्यान से देखा जाए तो नैयायिकों का दृष्टिकोण वही है जो आधुनिक भाषिकी यानी सॉस्युअर के भाषा-दर्शन का है : 'शब्द' और 'अर्थ' में कोई अंतर्हित संबंध नहीं है। यह संबंध मनमाना (आर्बिट्ररी) है और मनुष्य द्वारा निर्धारित है;

औपचारिक है और परंपरा या रीति से अस्तित्व में आया है। नैयायिकों के यहाँ 'शब्द' और 'अर्थ' से वही भाव अभिप्रेत है, जिन के लिए सॉस्युअर अपने दो विशेष पदों, 'संकेतित' (सिग्निफ़ाइड) और 'संकेतक' (सिग्निफ़ाइर) का प्रयोग करता है, और बल देता है कि इन दोनों का संबंध व्यक्तिनिष्ठ है अर्थात् मानव-मन से निर्धारित है और मनमाना है। नैयायिकों ने स्पष्ट किया है कि 'शब्द' मात्र उन ध्वनियों का पुंज नहीं जो वस्तुतः बोली गई हैं, (अर्थात् 'पारोल'); बल्कि 'शब्द' उस ध्वनिशास्त्रीय या आक्षरिक ढाँचे पर स्थापित है जो वास्तव में मानसिक अवधारणा है और भाषा-तंत्र (सॉस्युअर के 'लांग') का अंग है। इसी प्रकार अर्थ भी वस्तुमात्र नहीं है अपितु 'वस्तु' की मानसी अवधारणा या विकल्प है; अर्थात् मानसिक संरचना या वस्तु की वह सार्वजनीन सामान्य संकल्पना है जो इस प्रकार की सारी वस्तुओं पर हावी है और कोई भी वस्तु-विशेष उस का एक संदर्भ-मात्र है (*न्याय-सूत्र*, 2, 1, 55)।

नैयायिकों ने इस संदर्भ में समानार्थक शब्दों और समान ध्वनि वाले किन्तु नानार्थ शब्दों की भी चर्चा की है। अर्थात् पहली वह अवस्था जहाँ शब्द अलग-अलग हैं और अर्थ एक है और दूसरी वह जहाँ शब्द एक जैसे हैं और अर्थ अलग-अलग हैं। यह शब्द और अर्थ का वह मूलभूत 'विभेद' है जिस पर सॉस्युअर ने अपने भाषा-दर्शन की इमारत खड़ी की है। इस 'विभेद' का प्रथम उल्लेख यास्क के यहाँ आया है जिसे पाणिनि का भी पूर्वगामी कहा जाता है। पतंजलि ने इस बहस को आगे बढ़ाया है कि शब्द और अर्थ का संबंध अनित्य या नाशवान है। *काव्यालंकार सार-संग्रह* का प्रणेता उद्भट इस संबंध में 'श्लेष' का तर्क लाता है।

यहाँ यह संकेत करना भी आवश्यक है कि मीमांसकों और वैयाकरणों का दृष्टिकोण यद्यपि अर्थ की नित्यता का है किन्तु उन में थोड़ा अंतर है। व्याडि, जो भर्तृहरि का अगुवा है, अर्थ-विशेष को 'द्रव्य' कहता है। भर्तृहरि इस से बहस करते हुए कहता है कि प्रथम तो शब्दार्थ परिकल्पनात्मक अर्थात् अमूर्त होता है जो अपनी जाति की सारी चीज़ों पर हावी है, यानी वह 'फ़ॉर्म-मेन्ट' है; अनंतर वह उस वस्तु-विशेष पर चरितार्थ होता है जिस के लिए शब्द उच्चरित हुआ है। भर्तृहरि जाति और व्यक्ति में भेद करता है और जाति से उस का अभिप्राय समूह की अमूर्त अवधारणा से है। वैयाकरणों के 'द्रव्य' से तात्पर्य किसी वस्तु-विशेष का ठोस अस्तित्व नहीं अपितु उस की मानसिक अवधारणा है; यानी अर्थ मानसिक अमूर्तन है, कोई ठोस सामयिक चीज़ नहीं। देखा जाए तो 'द्रव्य' की अवधारणा 'पारोल' की अवधारणा की अपेक्षा बहुत कुछ सॉस्युअर के 'लांग' की अवधारणा से मिलती-जुलती है। पतंजलि ने (सूत्र 5, 1, 119) में बहस की है कि द्रव्य वह है जिस की सत्ता विभिन्न व्याख्याओं के सम्मुख भी अडिग रहे। द्रव्य असल है और व्याख्याएँ गुणों के रूप में सापेक्ष हैं। संदर्भों और गुणों के संयोजन से मूल में कोई दोष या परिवर्तन घटित नहीं होता। यहाँ यह स्पष्टीकरण भी आवश्यक है कि वैयाकरणों के भाषा-विन्यास के अध्ययन का प्राक्कलन अधिकतर 'समकालिक' है जिसे सॉस्युअर 'डायाक्रॉनिक' (ऐतिहासिक विकासशील) की तुलना में 'सिंक्रॉनिक' कहता है। ऐसा नहीं है कि संस्कृत परंपरा में भाषा के ऐतिहासिक विकास और परिवर्तन की समस्याएँ नहीं उठाई गईं, लेकिन चूँकि वैयाकरणों का

अधिक ध्यान भाषा की संरचना के निरूपण और उस के तंत्र (सिस्टम) के निर्धारण पर था इसलिए उन का रवैया सामान्यतया समकालिक (सिंक्रॉनिक) है, ऐतिहासिक क्रमिकविकासशील (डायाक्रॉनिक) नहीं। संस्कृत कोशकारों ने भी शब्द के उद्‌भव और उस के परिवर्तनों की बहसें उतनी नहीं उठाईं। उन का विशेष ध्यान शब्दों की धातुओं, व्युत्पत्तियों और प्रयोग-रूपों के पारस्परिक संबंधों की संसक्ति पर रहा। मानो प्राचीन भारतीय चिन्तन भाषा की उस संरचना का वर्णन करता है जो समय के किसी एक स्तर पर मिलती है, न कि उस रूप का जिस में विकास के साथ परिवर्तन होता रहा है। पाणिनि और पतंजलि अधिक वैज्ञानिक इसलिए हैं, और पश्चिम के आधुनिक भाषा-चिन्तन को इसीलिए आकृष्ट करते हैं कि वे भाषा के विकास की आनुमानिक एवं काल्पनिक और अवैज्ञानिक बहसों में नहीं पड़ते, बल्कि समकालिक वैज्ञानिक वस्तुपरकता से भाषा की संरचना का विश्लेषण करके उसे नियमबद्ध करते हैं। भारतीय परंपरा में इस बात को भी स्वीकार किया जाता रहा है कि ऐतिहासिक अर्थ की तुलना में वह अर्थ प्रधान होता है जो चलन में है या प्रस्तुत अर्थ है। अर्थात् रीति और चलन की स्थिति प्रभुत्वशाली है। पाणिनि कहता है संज्ञा अर्थात् वर्तमान 'अर्थ' को पूर्व-अर्थ पर वरीयता मिली हुई है। पतंजलि भी इसी पर बल देता है। शिष्ट या वाग्विदग्ध लोग जो बोलते और समझते हैं वही प्रभुत्वशाली है। कात्यायन और पतंजलि बहुधा विवादास्पद भाषाई समस्याओं में प्रचलित प्रयोग से प्रमाण लेते हैं। भाषा की संरचना के विश्लेषण का यह वह रवैया है जिसे सॉस्युअर ने वैज्ञानिक अध्ययन हेतु प्राथमिकता दी। वह इसलिए कि किसी ऐसे पदार्थ पर वैज्ञानिक विश्लेषण की नींव नहीं रखी जा सकती जो अनिश्चित हो या परिवर्तनशील हो। अर्थात् भाषा का मात्र वह स्तर वैज्ञानिक अध्ययन का औचित्य रखता है जिस पर वह उपस्थित क्षण में अवस्थित है; शेष परिवर्तित होते रहते विवरण को उस ने ऐतिहासिक अध्ययन के लिए छोड़ दिया।

भारतीय चिन्तन परंपरा में बौद्ध परंपरा ब्राह्मण परंपरा के साथ-साथ मिलती है। ऊपर हम ने देखा कि भाषा-दर्शन की दृष्टि से ब्राह्मण परंपरा में न्याय-वैशेषिक की परंपरा अपने तार्किक वैशिष्ट्य के कारण मीमांसा या किसी भी दूसरे विचार-संप्रदाय की अपेक्षा अधिक व्यापक है। बौद्ध परंपरा की विशेषता यह है कि अधिकांश मामलों में यह न्याय परंपरा से भी अधिक दृढ़ और तर्कसंगत है। इस का कारण यह है कि बौद्ध परंपरा तत्त्वमीमांसात्मक अलौकिकता और प्रत्ययवाद की अवधारणा से पूर्णतया स्वतंत्र है। मुद्दे, मुद्दे ही हैं और किसी अलौकिक अवधारणा से व्युत्पन्न नहीं हैं और न ही किसी ऐसे निष्कर्ष पर समाप्त होते हैं। बौद्ध-चिन्तन में अपोह-सिद्धांत वास्तविकता की बौद्ध अवधारणा 'शून्य' का ही एक अनिवार्य अंग है। इस सिद्धांत का स्वरूप ऐसा है कि उस के निहितार्थ पर विचार करते हुए आश्चर्य होता है कि जिन परिणामों तक आधुनिक भाषिकी और उत्तर-संरचनावाद तथा विरचनावाद बीसवीं शती में पहुँचे हैं, उन तक बौद्ध-मनीषा शताब्दियों पूर्व पहुँच चुकी थी। जैसा कि हम ने देखा कि 'शब्द' और 'अर्थ' के संबंध को मीमांसक, नैसर्गिक और नैयायिक औपचारिक एवं पारंपरिक मानते हैं, लेकिन दोनों का दृष्टिकोण

सकारात्मक है—अर्थात् शब्द और अर्थ के संबंध की वे जो भी व्याख्याकरते हैं, सकारात्मक दृष्टिकोण से करते हैं। बौद्ध-विचारणा इस दृष्टि से इन दोनों ब्राह्मण-परंपराओं से बहुत आगे है। यह 'शब्द' और 'अर्थ' के संबंध को इस प्रकार देखती ही नहीं, बल्कि उसे पूर्णतया विभेदात्मक मान कर उस की तार्किक व्याख्या करती है। यथार्थतः यह वही रवैया है जिस पर आधुनिक भाषिकी, उत्तर-संरचनावाद और विरचनावाद स्थित हैं। बौद्ध मनीषी कहते हैं कि शब्द में सीधे-सीधे कदापि कोई वस्तुमत्ता नहीं होती। अर्थ अपनी प्रकृति से विभेदात्मक अर्थात् नकारी है। उन के अनुसार 'शब्द' चूँकि केवल परिकल्पनात्मक बिम्ब हैं, यह विशुद्ध रूप से मानस-जनित विकल्प हैं; अतः शब्द और 'वस्तु' में कोई वास्तविक संबंध नहीं हो सकता। बौद्ध-चिन्तक दिङ्नाग का कहना है कि 'शब्द' ऐसा 'विकल्प' है जिस का प्रमुख वैशिष्ट्य उस की नकारात्मकता है। अपनी 'जाति' के दूसरे सारे तत्त्वों से उस के संबंध का स्वरूप विभेदात्मक है। शब्द 'गाय' से आशय सीधे 'गाय' नहीं है बल्कि उन सब चीज़ों का नकार है जो 'गाय नहीं' हैं। धर्मकीर्ति कहता है कि शब्द से अर्थ की सकारात्मकता का बोध इसलिए होता है कि भाषा में मानसिक अवधारणा की आवृत्ति होती रहती है। बौद्ध चिन्तन का यह बिन्दु बहुत महत्त्वपूर्ण है कि अर्थ का सापेक्ष विभेद प्रयोगाधिक्य के कारण प्रतीत नहीं होता, जबकि अर्थ की विधेयात्मकता निरंतर अनुभूत होती है। बौद्ध तर्कविदों के अनुसार 'प्रत्यक्ष' केवल वह है जो इंद्रियों के माध्यम से हमारे बोध का अंग बनता है। चीज़ों के सामान्य नाम और मानसिक बिम्ब या अवधारणा, जिन के माध्यम से हमें विशेष वस्तुओं का बोध होता है, इंद्रियों का भाग नहीं, क्योंकि उन्हें प्रत्यक्ष कदापि नहीं कहा जा सकता है। स्पष्ट है कि बौद्ध चिन्तन के इन बिन्दुओं और सॉस्युअर के विचारों और देरिदा के विभेदात्मकता-सिद्धांत में आश्चर्यजनक सामंजस्य और समानता है। बौद्धों के यहाँ यह बिन्दु बिलकुल सॉस्युअर से मिलता-जुलता है कि भाषा के परिकल्पनात्मक बिम्ब में (जिस का वाहक शब्द है) और चीज़ों में कोई अनिवार्य संबंध नहीं है और अर्थ की वैयक्तिकता केवल उस की विभेदात्मकता में है। इस समस्या पर मीमांसकों और नैयायिकों ने भी विचार किया है और वैयाकरणों ने भी, लेकिन बौद्धों की बहस सब से अधिक परिपक्व है और उन्हीं धाराओं में है जो सॉस्युअर के भाषा-दर्शन की भी विशिष्टता है। बौद्धों का कहना है कि श्वेत या काली गाय केवल इसलिए श्वेत या काली गाय है कि वह भूरी या चितकबरी या किसी दूसरे वर्ण की नहीं है। शब्द 'काली' या 'श्वेत' में कोई उपस्थिति (प्रेज़ेन्स) उस वर्ण की नहीं है। संकेतन-व्यापार (सिग्निफ़िकेशन) की विभेदात्मकता का यह वही नुकता है जिसे देरीदा ने सॉस्युअर से ले कर अपने चिन्तन और तर्कना के ज़ोर से क्या से क्या बना दिया है, और जो अब विरचनावादी दर्शन की नई चिन्तन परंपरा का प्रस्थान-बिन्दु है। देरीदा के विरचनावाद का स्रोत भाषा की यही नकारात्मकता और विभेदात्मकता है।

बौद्ध चिन्तक यह भी कहते हैं कि शब्द से जो बिम्ब बनता है वह पूर्णरूपेण मानसिक और परिकल्पनात्मक अर्थात् मूलहीन और अवास्तविक है। किन्तु हम उसे वास्तविक समझते हैं। नागार्जुन ने *माध्यमिककारिका* (24, 8) में यह बहस उठाई है कि सच्चाई वह भी है जो वास्तविकता है और वह भी जो निरपेक्ष है : अर्थात् मानसी बिम्ब या रूप या वास्तविक सार्वजनीन रूप जिस से घटनात्मक

यथार्थ मूर्तिमान होता है।

शून्य या शून्यता बौद्धमत का आधारभूत सिद्धांत है। प्रथम दृष्टि में यह सिद्धांत नकारात्मक प्रतीत होता है किन्तु अपने तार्किक निष्कर्षों में यह नकारी और द्वंद्वात्मक है। शून्य की अवधारणा की नींव नागार्जुन के नकारी तर्क-वितर्क से पड़ी और क्रमशः यही तर्कणा-प्रणाली बौद्ध दर्शन की केन्द्रीय प्रवृत्ति बन गई। नागार्जुन ने बड़ी ही युक्तियुक्त बहस की है कि सारे मानवीय संबंध और अस्तित्व की सारी अवधारणाएँ और उन के सारे प्रकार जो इन से उद्भूत हैं, उन को द्वंद्वात्मक रूप से खंडित किया जा सकता है, और जो भी कुछ बचा रहता है वह 'शून्य' है। शून्य हर प्रकार की परिभाषा और स्थिरीकरण से इतर है क्योंकि हर परिभाषा संग्रथन और सीमांकन की ओर ले जाती है। शून्य वास्तविकता का कुल उपस्थिति का मूल है इसलिए हर परिभाषा के इतरेतर है। 'सत्य' का मूल सिद्धांत या तत्त्व यदि कुछ है तो 'शून्य' है तथा शून्य ही संपूर्ण सार्वभौम सत्य है; यानी इसी 'तथता' का लक्ष्य निर्वाण या अखंड निरपेक्षता का लक्ष्य है। बौद्धमत के विरोधियों ने शून्यवाद पर कठोर आपत्तियाँ करते हुए कहा है कि यह अराजकतावाद का दर्शन है या निराशावाद और नकारवाद की ओर ले जाता है। किन्तु बौद्धों के निकट 'शून्य' बुद्धि की पराकाष्ठा है। उन का कहना है कि इस के बिना न तो ज्ञान संभव है और न ही ज्ञान का संप्रेषण। सांसारिक सत्य को भी इस के बिना नहीं जाना जा सकता। अपनी निरपेक्ष सत्ता से 'शून्य' नैसर्गिक मानव-अस्तित्व (जो अस्थायी है) में अनस्तित्ववाद की अनुभूति है। यह नकार-मात्र नहीं है बल्कि अस्तित्व या अस्तित्व के होने से इतर जो अस्तित्व या अस्तित्व के होने की अनुभूति है उस के नकार का नकार है।

'शून्य' की इस अवधारणा को नकारात्मक रूप से ही समझाया जा सकता है क्योंकि सारी विधेयात्मक प्रणालियाँ और परिभाषाएँ न केवल 'शून्य' को सीमित कर देती हैं अपितु उस की निरपेक्षता को अम्लान भी नहीं रहने देतीं। बौद्ध-मनीषियों ने स्पष्ट किया है कि बौद्धेतर भारतीय चिन्तन में यद्यपि 'शून्य' की अवधारणा इतनी सर्वव्यापी नहीं है लेकिन उस में भी ऐसे अनेक स्थलों पर शून्य से काम लिया गया है जहाँ निरपेक्षता या अनस्तित्व पर बल देना अभिप्रेत है। उपनिषदों में जब ब्रह्म के स्वरूप का प्रश्न उठाया गया तो सारे वाद-प्रतिवाद के बाद 'नेति-नेति' ही कहा गया। ब्रह्म निर्गुण है। ब्रह्म को अमूर्त भी कहा गया है। यानी ब्रह्म की कोई अवधारणा हो ही नहीं सकती। ऐसी कोई कोशिश की जाए तो 'सत्य प्रदूषित' हो जाएगा। शून्य के संदर्भ में 'मौन' एक प्रबल गतिशील अवधारणा है जो स्वर से कहीं अधिक शक्तिशाली और ध्वनियों और अर्थ की अनंत संभावनाओं से परिपूर्ण है; गहरे रहस्य या मानव-नियति के गहरे भेदों को उद्घाटित करने हेतु 'शून्य' अर्थात् 'मौन' से श्रेष्ठतर प्रणाली संभव नहीं। स्वर का श्रेष्ठ से श्रेष्ठ प्रकार अर्थात् शब्द 'मौन' ही का एक रूप है। नीरव मंत्र या नीरव जाप धीमे-धीमे गुनगुनाए या पढ़े जाने वाले जाप से श्रेयस्कर है। वाद्ययंत्र से निकले स्वर सौन्दर्यपरक आनंद का हेतुक तो होते हैं किन्तु जो स्वर सुनाई नहीं देते वे अनंत का संकेत हैं। योगी और ऋषि अपने मस्तिष्क को स्वरावगुंठन में उस श्रवण न किए जाने वाले स्वर पर केन्द्रित करते हैं जो मौन

के गर्भ से फूटता है तथा अनंत निरपेक्षता एवं अथाह स्वतंत्रता की अनुभूति कराता है। इस संदर्भ में 'ग़ालिब' का यह शेर असंगत नहीं— *आगही दामे-शुनीदन जिस क़दर चाहे बिछाए, मुद्दआ अन्क़ा है अपने आलमे-तक़रीर का।* बौद्ध दार्शनिकों ने शून्य का जो प्रयोग शब्दार्थ-विज्ञान पर किया है वह संरचनावादी और उत्तर-संरचनावादी दृष्टि से रोचक भी है और विस्मयकर भी। संभव है कि सॉस्युअर का भाषा की विभेदात्मकता का प्रत्यय बौद्धों से ही गृहीत हो। 'अपोह' का अर्थ ही है नकारना, अपवर्जित करना, परिणामतः किसी शब्द, अभिव्यक्ति या अवधारणा से कोई भी अर्थ केवल उतना ही प्रकट होता है जितना वह अपने अर्थ में 'अनर्थ' के विभेद से स्थापित है। अर्थात् 'गाय' से अभिप्राय वह अवधारणा है जो अ-गाय नहीं है। तात्पर्य यह कि यथार्थ का बोध शब्द के विभेदक संबंधों के वैशिष्ट्य से होता है; दूसरे शब्दों में, किसी भी चीज़ के अस्तित्व की परिकल्पना उस के अस्तित्व से संरचित होती है, नितांत वैसे ही जैसे संसार 'अ-संसार' से अस्तित्व में आया है।

बौद्ध मतानुयायी नागार्जुन को अपना सब से बड़ा विचारक और तर्कविद् मानते हैं। नागार्जुन का कहना है कि यद्यपि संसार ठोस दिखाई देता है किन्तु यथार्थ की श्रेष्ठ व्याख्या के अनुसार यह अवास्तविक है, यह कार्य-कारण के फलस्वरूप आविर्भूत होता है और उस का अपना कोई 'स्वभाव' नहीं होता। वह वैयक्तिक संवेद भी उसी अवास्तविक का एक अंश है जिस के माध्यम से उस के अवास्तविक होने का बोध होता है, अतएव वह भी अवास्तविक है। अतः अवास्तविक के माध्यम से वास्तविकता को जानना और समझना असंभव है। न तो उसे नकारा जा सकता है और न ही उसे स्वीकार किया जा सकता है। यही कारण है कि सारे तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों का उत्तर बुद्ध ने 'मौन' (शून्य) से दिया है। इस पराकाष्ठा या उस पराकाष्ठा से बचने और मध्यम मार्ग स्वीकार करने का कारण भी यही है। इस पर भी चेतावनी दी गई है कि मध्यम मार्ग की अवधारणा भी सापेक्षतावादी और विश्वसनीय है क्योंकि निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि (1) यह अस्तित्व रखता है, (2) अस्तित्व नहीं रखता, (3) ये दोनों स्थितियाँ संभव हैं, (4) ये दोनों स्थितियाँ असंभव हैं। तात्पर्य यह कि 'शून्य' एक निरपेक्ष 'रिक्तता' है जिस में वैयक्तिकता, स्वीकार, अस्मिता आदि किसी चीज़ की निश्चित सकारात्मकता तर्कसंगत रूप से संभव नहीं। विस्तृत व्याख्या के लिए देखें : (शेर्बात्स्की, *बुद्धिस्ट लॉजिक*, बिब्लिऑथिका, बुद्धिका 26, लेनिनग्राद, 1930)। बौद्ध-विचारणा से सामंजस्य के संदर्भ में प्रोफ़ेसर फ़र्थ का 55 वर्ष पूर्व का यह वाक्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है : 'यह बिल्कुल संभव है कि उसे (सॉस्युअर) भारतीय दर्शन का कुछ बोध रहा हो (*टेक्नीक ऑफ़ सिमैन्टिक्स*, ट्रैन्ज़ैक्शंस ऑफ़ द फ़िललॉजिकल सोसाइटी)।

रॉबर्ट मैग्ल्यूला ने अपनी पुस्तक में पूरा तीसरा अध्याय इसी बहस पर केन्द्रित किया है कि देरीदा का विरचनावादी चिन्तन और नागार्जुन की 'शून्यता' में गहरा संबंध है : और आगे यह कि बौद्ध परंपरा में अर्थ 'सकारात्मकता' नहीं रखता इसलिए कि यह क्षणिक है, केवल स्वलक्षण है; अर्थ चूँकि केवल

विकल्प है इसलिए वह वस्तुनिष्ठ यथार्थ नहीं हो सकता। यह मूलतः नकारी है क्योंकि यह स्वतः अपनी विशिष्टता स्थापित नहीं कर सकता और केवल दूसरे तत्त्वों के अपवर्जन से प्रभावकर होता है। परिणामतः अर्थ को उस की नकारात्मकता के आधार पर ही पहचाना जा सकता है। अर्थात् दूसरे संपृक्त तत्त्वों से विभेदकारी वैशिष्ट्य के आधार पर। बौद्ध परंपरा में इसे 'अन्यापोह' कहा गया है। अर्थ की नकारी क्रिया के सिद्धांत से दिङ्नाग ने 'प्रमाण-समुच्चय' के पाँचवें अध्याय में बहस की है। कुञ्जुन्नी राजा का कहना है कि इस क्रम में कुछ मूल पाठ जो सुरक्षित रह सके हैं वे तिब्बती भाषा में हैं जिन का विस्तृत परिचय शेर्बास्की ने दिया है (पृ. 82)। धर्मकीर्ति के यहाँ भी अपोह-सिद्धांत की गूँज मिलती है। किन्तु अधिकांश मूलपाठ नष्ट हो चुके हैं। निस्संदेह बौद्धों के भाषा-सिद्धांत के विरोध में वामन, कुमारिल भट्ट और दूसरे ब्राह्मण विचारकों ने जो कुछ लिखा उस में 'अन्यापोह' का प्रश्न भी उठाया गया है। दिङ्नाग का अपोह-सिद्धांत चूँकि तार्किक रूप से अर्थ की विधेयात्मकता का नकार करता है, इसलिए ब्राह्मण-परंपरा का उस का विरोध करना सहज ही समझ में आ सकता है।

बौद्ध-सिद्धांत 'अपोह' और सॉस्युअर के चिन्तन में सामंजस्य और समरूपता की यह खोज काफ़ी महत्त्वपूर्ण है, विशेषतया देरीदा के विभेदात्मकता-सिद्धांत और विरचनावाद के प्रादुर्भाव के बाद, जिन की नींव ही भाषा के विभेदक संबंधों पर है। इस से इस 'समरूपता' और 'सामंजस्य' का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। इस क्रम में अंतिम बात यह कि अर्थोत्पत्ति की प्रक्रिया वस्तुतः दोहरी प्रक्रिया है और यह प्रक्रिया समय की एक ही धुरी पर अर्थात् युगपत् होती है। यह भी बौद्ध चिन्तन की ही देन है। सकारात्मक अर्थ तत्काल प्रकट हो जाते हैं और अनुपस्थित अर्थ परिकल्पनात्मक और अवचेतन रूप में सक्रिय रहते हैं। अर्थात् वे तत्त्व जिन के नकार से अर्थ की सकारात्मकता स्थापित होती है उन की अवधारणा अनुपस्थिति में कारगर रहती है। यह बिलकुल वही बिन्दु है जिसे विभेदात्मकता-सिद्धांत के प्रसंग में देरीदा बार-बार उठाता है—अर्थ विभेद से भी स्थापित होता है और 'स्थगन' में भी रहता है, और 'अनर्थ' अनुपस्थित होते हुए भी अवचेतन में अपनी झलक (ट्रेस) रखता है। देरीदा का सारा बल इसी बात पर है कि अनर्थ कभी विस्थापित नहीं होता। वह भाषा-क्रिया का अपरिहार्य अंग है और सामने के जाने-पहचाने या औपचारिक अर्थ के विस्थापन हेतु 'अनर्थ' हर समय व्यग्र रहता है। शांतरक्षित कहता है कि प्रत्यक्ष अर्थ, जिसे सकारात्मक समझा जाता है वह नकारात्मक है क्योंकि अद्वितीय है। यों बौद्ध चिन्ताधारा में उपस्थित अर्थ के साथ अप्रत्यक्ष अर्थ की क्रिया कभी समाप्त नहीं होती। देरीदा भी यही बात कहता है। दोनों में अंतर केवल सिद्धांत-निरूपण की शैली का है।

भर्तृहरि के स्फोट-सिद्धांत की मूल्यवत्ता अनेक स्तरों पर असंदिग्ध मानी जाएगी। इस के अनुसार 'वाक्य' मात्र विभिन्न ध्वनियों अथवा शब्दों का समूह नहीं बल्कि एक ऐसी इकाई है जिस से युगपत् अर्थ प्रतिबिम्बित होता है। भर्तृहरि ध्वनियों या शब्दों की 'इकाई' को, जिस से तत्क्षण अर्थ

फूटता है, 'स्फोट' की संज्ञा देता है : अर्थात् भाषिक कथन में ध्वनियाँ मात्र माध्यम हैं जिन से 'प्रतीक' बनता है और यह प्रतीक अर्थ का वाहक होता है। भर्तृहरि के यहाँ 'इकाई' अविभाज्य है और स्वभावतः उस में कोई कालगत क्रमिकता नहीं होती। वाणी के अवयवों से निसृत होने वाली ध्वनियों में निःसंदेह कालगत क्रमिकता होती है अर्थात् ध्वनियाँ समय की धुरी पर एक विशेष क्रम से एक के बाद एक घटित होती हैं। लेकिन अर्थ का निस्सरण बिलकुल बिजली कौंधने की प्रक्रिया के समान तुरंत होता है। प्रोफ़ेसर ब्रो का कहना है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में 'स्फोट' आधुनिक भाषिकी के पद (टर्म) 'संकेत' (साइन) का स्थानापन्न है, इस अर्थ में जिस में 'संकेत' सॉस्युअर के यहाँ विवेच्य है और जिस के अर्थगत ऐक्य को देरीदा द्वारा दी गई चुनौती से विभेदात्मकता की अवधारणा सामने आई।

भर्तृहरि ने व्यंजना के आधार पर 'वाणी' या 'वाक्य' को चार वर्गों में रखा है : 1. परा, 2. पश्यंती, 3. मध्यमा, 4. वैखरी। भर्तृहरि ने मूलतः तीन का उल्लेख किया था। सोमानंद ने *शिवदृष्टि* में 'परा' की वृद्धि की और उसे भाषा का सूक्ष्मतम स्तर कहा। भर्तृहरि का कथन है कि ध्वनियाँ और अर्थ वाक्-प्रक्रिया के दो जुड़वाँ पक्ष हैं, अतः 'शब्द' को एक अविभाज्य 'इकाई' के रूप में ही लिया जा सकता है : *एकोऽनवयश शब्दः* (वाक्यपदीय 11, 1) तथा यह कि अर्थ का स्वरूप कौंधे की लपक का-सा है जिसे वह 'प्रतिभा' कहता है। भर्तृहरि इस बात पर बल देता है कि शब्द मानसिक अमूर्तन है, वाक्य अर्थ को 'उपस्थित' करता है। वाक्य उस पौराणिक देव के समान है जो अंदर की ओर भी देख सकता है और बाहर की ओर भी। 'ध्वनि' वाक्य का बाह्य रूप है और 'अर्थ' वाक्य का आंतरिक रूप है। इसी को सॉस्युअर 'संकेतक' (सिग्निफ़ाइर) और 'संकेतित' (सिग्निफ़ाइड) कह कर काग़ज़ की दोनों तरफ़ों के समान बताता है और उन में ऐक्य का टाँका लगा देता है। पाणिनि का कथन है : *स्वम् रूपम् शब्दस्याशब्दसंज्ञा*।

शब्द जो 'पद' (टर्म) नहीं है वह अपना रूप स्वयं है, (पाणिनि 68,1,1) यानी शब्द अपने रूप को भी व्यक्त करता है और अर्थ को भी। भर्तृहरि ने इस द्वित्व को सॉस्युअर की तरह एक ऐक्य में पिरो दिया है। वह बार-बार कहता है कि शब्द दोहरी शक्ति रखता है। वह रूप अर्थात् मानसिक अमूर्तन भी है और इस मानसिक अमूर्तन के निरूपण का यानी अर्थ का द्योतक भी। बिलकुल प्रकाश या बोध की तरह, जैसे प्रकाश अपने आप को भी प्रकट करता है और दूसरी चीज़ों को भी। यथार्थतः वाक्य अपने रूप को भी स्थापित करता है और 'स्फोट' को भी। दर्शन की एक विशेष समस्या रही है शब्द और अर्थ का द्वित्व। निस्संदेह भारतीय भाषा चिन्ता धाराओं में भर्तृहरि एकमात्र ऐसा दार्शनिक है जिस ने भाषा के द्वित्व में ऐक्य की राह निकाल ली। भर्तृहरि से पूर्व भाषा-दर्शन मुख्यतः व्युत्पत्ति और पदयोजना संबंधी विवादों में उलझा रहा और काफ़ी हद तक शाब्दिक अर्थ का मुखापेक्षी भी रहा। भर्तृहरि ने शब्द-व्यापार को नियमबद्ध करके उसे ऐक्य प्रदान किया। पश्चिम में यह महत् कार्य शताब्दियों बाद सॉस्युअर ने आधुनिक भाषिकी में 'संकेतक' (सिग्निफ़ाइर) और 'संकेतित' (सिग्निफ़ाइड) के विभेद को स्वीकार करके निष्पन्न किया। किन्तु उस की अव्यवस्था पर नियंत्रण पाने के लिए इन दोनों पदों के युग्म को 'संकेत' (साइन) कहा। संरचनावाद में साहित्य के पूरे तंत्र की

गवेषणा का कार्य ऐक्य की इसी अवधारणा से आरंभ हुआ है लेकिन बाद में देरीदा ने अपनी सूक्ष्म तार्किकता से इस जोड़ का टाँका खोल कर इस पर बल दिया कि भाषा का मूल तत्त्व और उस की प्रवृत्ति विभेदात्मकता ही है। संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद में जो विशेष अंतर है उस के मूल में भाषा के ऐक्य और विभेदात्मकता का द्वंद्व है। कुछ भी हो, भर्तृहरि के सिद्धांत 'स्फोट' और सॉस्युअर के 'संकेत' की अवधारणा में जो सामंजस्य और समानांतरता है, वह प्रकट है।

स्फोट-सिद्धांत के बाद ध्वनि-सिद्धांत की चर्चा अपरिहार्य है। इन दोनों में गहरा संबंध है। भर्तृहरि ने यह सिद्ध कर दिया था कि 'वाक्य' के अर्थ का आधार उस की समग्रता है; और वाक्य के अर्थ अलग-अलग शब्दों के अर्थ से भिन्न भी हो सकते हैं और उन से अधिक भी। आनंदवर्धन ने इस विचार को और अधिक विस्तार दिया। आनंदवर्धन का सरोकार चूँकि अर्थतत्त्व से अधिक काव्य की सौन्दर्यपरक विवेचना से था, उस ने काव्यार्थ के प्रभाव पर अपना ध्यान केन्द्रित कर ध्वनि का सिद्धांत प्रस्तुत किया। वह भर्तृहरि के स्फोट-सिद्धांत से लाभान्वित होना स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है। आनंदवर्धन की उपलब्धि यह है कि उस ने नवीं शती तक संस्कृत व्याकरण, दर्शन और काव्यशास्त्र की परंपरा को दृष्टि में रखते हुए *नाट्यशास्त्र* से *वाक्यपदीय* तक की परंपरा के विभिन्न तत्त्वों में मैत्री पैदा की और साहित्यिक सौन्दर्यशास्त्र का एक संपूर्ण एवं सर्वतोमुखी सिद्धांत दिया। अर्थात् पहले से चले आ रहे रस-सिद्धांत को (जो नाटक के लिए गढ़ा गया था) आनंदवर्धन ने 'काव्य' पर चरितार्थ किया और 'स्फोट' के मिश्रण से उसे काव्यात्मक सौन्दर्यशास्त्र के एक नए सिद्धांत 'ध्वनि' का रूप दे दिया। 'ध्वनि' से आनंदवर्धन का आशय काव्यमय सांकेतिकता या प्रभाव या सौन्दर्य-प्रतीति है। आनंदवर्धन स्वयं कहता है कि उस ने शब्द 'ध्वनि' वैयाकरणों से लिया है जहाँ उस से तात्पर्य ध्वनियाँ हैं, अर्थात् जिस तरह ध्वनि से 'स्फोट' यानी 'संकेत' उभरता है, बिलकुल उसी तरह एक अच्छे वाक्य या पद्य की ध्वनियों और अर्थ से सौन्दर्यपरक अवस्था यानी ध्वनि उभरती है जो शाब्दिक अर्थ से श्रेष्ठतर और उच्चतर है। ध्वनि कविता की आत्मा है। आनंदवर्धन का प्रसिद्ध कथन है : *काव्यास्यात्मा ध्वनिः*।

आनंदवर्धन कहता है कि 'ध्वनि' उन लोगों की पहुँच से बाहर है जिन का ज्ञान व्याकरण, शब्द या छंदों की तकनीकी जानकारी का बंधक है। ध्वनि से आनंदित होने और उस के प्रभाव को आत्मा की गहराइयों में अनुभव करने के लिए सहृदय होना अनिवार्य है, अन्यथा 'ध्वनि' तक पहुँच नहीं होगी। हीरे का मूल्य केवल पारखी ही जानता है।

ध्वनि का सौन्दर्यपरक अनुभव स्वयं अपना औचित्य है और यह दैनंदिन जीवन और अनुभव से पृथक अपना अस्तित्व रखता है। यह पूर्णरूपेण भाषिक संरचना है। ध्वनि को सौन्दर्यपरक अनुभव के अतिरिक्त दूसरा कोई नाम दिया ही नहीं जा सकता। यह किसी *चीज़* का प्रतिरूप भी नहीं है और न ही कोई चीज़ इस का प्रतिरूप है। अभिनव गुप्त के अनुसार यह अस्तित्व की वह श्रेष्ठतम अनुभूति है जिसे वाक्चार में 'आनंद' कहा है, या जिस के लिए उपनिषदों के इस कथन की ओर ध्यान जाता है :

रसो वै सः; रस ही वह है यानी 'रस ही आनंद है।'

यह तो स्पष्ट है कि ध्वनि एक सौन्दर्यपरक अवधारणा है, लेकिन चूँकि वह सांकेतिक अर्थ से संबद्ध है या उस अर्थ से जो परिचित अर्थ से आगे जाता है, अतः उस की व्याख्याओं में अर्थ के 'दूसरेपन' (अदरनेस) पर भी ज़ोर है जो सदैव 'अनुपस्थिति' (ऐब्सेन्स) में रहता है। अर्थ के 'दूसरेपन' की न्यूनाधिक यह वही अवधारणा है जिस पर देरीदा का आग्रह है और जिसे वह भाषा की मूल शक्ति भी कहता है। इस दृष्टि से देखें तो ध्वनि की व्यापक अवधारणा में देरीदा के विभेदात्मकता-सिद्धांत की झलक स्पष्टतः मौजूद है, अर्थात् अर्थ 'विभेद' में भी है और 'स्थगन' में भी। एडविन गेरो की गणना संस्कृत काव्यशास्त्र के विषयज्ञों में होती है। उस की 1971 की कृति से यह उद्धरण और उस में देरीदा की विशेष 'टर्म्स' (प्राविधिक शब्दों) 'अदर', 'प्रेज़ेन्स', 'ऐब्सेन्स' की उपस्थिति और उन का 'ध्वनि' से सामंजस्य विचारणीय है।

यह तो ज्ञात ही है कि हमारे यहाँ सौन्दर्यशास्त्रियों ने सौन्दर्यपरक अनुभव का बयान करते हुए 'सुख' और 'भोग' में अंतर किया है। वैसे तो सौन्दर्यपरक अनुभव की पराकाष्ठा सार्वभौम आनंद को कहा गया है किन्तु स्पष्ट किया गया है कि 'सुख' निजी, वैयक्तिक और सीमित अनुभव है, जब कि 'आनंद' अनंत और समष्टिगत अवस्था है जहाँ अहं स्वयं से इतर हो जाता है। सौन्दर्यपरक अनुभव की इस पराकाष्ठा को 'रस', या 'आनंद', या 'ध्वनि' आदि विभिन्न नामों से पुकारा गया है। स्मरण रहे कि इस को 'परम भोग' कहा गया है। भटनायक का कथन है : *रस भोगेन भुज्यते*— रस भोग से भोगा जाता है। अर्थात् रसानुभव आस्वाद के रूप में ही किया जा सकता है। भोग अहं तथा अनहं के बौद्धिक धरातल पर शेष नहीं रहता अपितु वैयक्तिक अहं का परिसीमन भी कुहासाछन्न हो जाता है। यह उस अवस्था से भी आगे की बात है जिस का उल्लेख रोलाँ बार्थ सौन्दर्यपरक अनुभव (प्लेज़र-प्रिंसिपल) के अंतर्गत करता है। विचारणीय है कि संस्कृत-विशेषज्ञों ने इस को 'विमर्श' भी कहा है और 'शक्ति' भी, जो प्रकृति की कार्यशाला में नारी-सुलभ उत्प्रेरणा का द्योतक है।

पाठकवादी आलोचना में पाठक या श्रोता पर जो बल दिया जाता है वह पश्चिम में 'नई आलोचना' या मार्क्सवादी आलोचना की अपेक्षा नई चीज़ है। 'नई आलोचना' जब कि रूप के वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण और मार्क्सवादी आलोचना सामाजिक-ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लिखी जाती है, उस की अपेक्षा पाठकवादी आलोचना में पाठक के उद्यम की अवधारणा हावी रहती है और दृश्य-प्रपंच विज्ञान (फ़ेनॉमिनॉलॉजी) के अनुसार 'पढ़त' की प्रक्रिया में व्यक्तिनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता का द्वित्व समाप्त हो जाता है। पश्चिम में ये बहसें नई हैं किन्तु भारतीय परंपरा में श्रोता (या पाठक) का दृष्टिकोण और नाट्य (काव्य) के प्रभाव से उत्पन्न सौन्दर्यपरक अवस्थाओं की चर्चाएँ अत्यन्त प्राचीन हैं। बल्कि भारतीय काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र का आरंभ ही ये वादानुवाद हैं। भारतीय सिद्धांतों में रस-सिद्धांत सब से प्राचीन है। इस दृष्टि से देखा जाए तो भारतीय काव्यशास्त्र का मूलबिन्दु ही वह रवैया है जो आज पाश्चात्य पाठकवादी आलोचना का आधार है। *नाट्यशास्त्र* यों तो नाटक के व्यावहारिक पक्षों का

दस्तावेज़ है, लेकिन इस से रस-सिद्धांत का आरंभ हुआ और आगे चल कर जिसे भर्तृहरि और आनंदवर्धन और अभिनव गुप्त ने काव्य पर चरितार्थ किया और जो भारतीय साहित्य चिन्तन की ख़ास विशेषता बन गया। यह रस-सिद्धांत मूलतः उन भावों पर आधृत है जो कलाकृति की प्रतिक्रिया के रूप में कलाकृति को स्वीकार करने वालों के मानस में उत्पन्न होती है। नाट्य के उन्नति-काल में इन बहसों का केन्द्र दर्शक था और अनंतर काव्य जैसे-जैसे नाटक का स्थान लेने लगा, इस परिचर्चा में दर्शक की केन्द्रीयता श्रोता या पाठक को मिलती गई। इस संबंध में जानकारी इतनी व्यापक है कि किसी और व्याख्या की आवश्यकता नहीं।

संस्कृत काव्यशास्त्र के जो विचारक शब्द के अवास्तविक स्वरूप से बहस करते हैं वे इस पर बल देते हैं कि शब्द में अर्थ अंतर्हित नहीं होता; अर्थ 'वाक्य' से निर्धारित होते हैं और अर्थ की झलक श्रोता के बोध में स्थित है। यास्क और औदंबरायण भी संकेत करते हैं कि वाक्य श्रोता के मानस में पहले से अस्तित्व रखता है। चॉम्स्की का सामर्थ्य (कॉम्पिटेन्स) -सिद्धांत, और वाक्य के रूप की पूर्व मानसिक अनुभूति इस संदर्भ में विचारणीय है।

पाठकवादी आलोचना के क्रम में संस्कृत काव्यशास्त्र की 'सहृदय' की अवधारणा भी विचार योग्य है। लगभग सभी चिन्तकों ने इस का उल्लेख किया है। शाब्दिक रूप में इस से ऐसा पाठक अभिप्रेत है जिसे उर्दू में 'साहिबे-ज़ौक़' या 'सुख़न-फ़हम' से अभिहित करते हैं, लेकिन उर्दू के पारिभाषिक शब्दों में 'समझ' के तत्त्व की अधिक भूमिका है जबकि संस्कृत काव्यशास्त्र में सौन्दर्यपरक अनुभूति हावी है। 'सहृदय' को प्रतिभा से संपन्न भी कहा गया है। प्रतिभा के बिना न कोई काव्य रच सकता है और न ही पाठक उस से 'रस' ग्रहण कर सकता है। नई पाश्चात्य 'थ्योरी' में 'इंप्लाइड रीडर' और 'इंफ़ॉर्म्ड रीडर' की बहसें 'सहृदय' की अवधारणा से अधिक दूर नहीं है।

पाठकवादी आलोचना के प्रसंग में मीमांसकों की अवधारणा 'आकांक्षा' भी विचार करने योग्य है जहाँ वाक्य में पदयोजना विषयक सामंजस्य की बात उठाते हुए अर्थ-ग्रहण की प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया है। इस क्रम में तीन संचालक शब्दों का विशेष उल्लेख मिलता है : 'सन्निधि' यानी ध्वन्यात्मक मैत्री, 'योग्यता' यानी तार्किक संबंध, और 'आकांक्षा' यानी पदयोजना की अपेक्षा जिस के अनुसार वाक्य के टुकड़े मिल कर पदयोजना विषयक इकाई में ढलते हैं। इन में 'आकांक्षा' की अवधारणा ख़ासी व्यापक है और पाठक के मानस में वाक्य की कार्यक्षमता बड़ी हद तक उस पर निर्भर है। 'वाक्य' में शब्द पारस्परिक अपेक्षा के सूत्र में बँधे हुए हैं। सर्वप्रथम इस का उल्लेख जैमिनि ने *मीमांसा-सूत्र* में किया है। पाणिनि उस की अभिवृद्धि करते हुए कहता है, शब्दों में मात्र पदयोजना विषयक 'आकांक्षा' ही नहीं होती, उन में विपेक्षा भी होती है और शब्दों का संबंध अर्थ-संबंधी अपेक्षाएँ पैदा करता है। आकांक्षा से अभिप्राय है पूर्ति की अपेक्षा जो हर शब्द में होती है, जिसे वह दूसरे शब्द या शब्दों से मिल कर पूरी करता है। यह अपेक्षा पाठक की भी हो सकती है जो पढ़त की प्रक्रिया में अर्थ को पूरा करना चाहता है। हर शब्द दूसरे की आकांक्षा करता है ताकि वह बात को पूरा कर सके। वेदांतियों ने आगे चल कर आकांक्षा के दो प्रकारों— वास्तविक और संभावित— की ओर

ध्यान दिलाया। 'वास्तविक' वह जो घटनात्मक और अनिवार्य है, 'संभावित' वह जिस की कल्पना पाठक कर सकता है; यह दूसरी तरह की आकांक्षा अर्थ के अनदेखे क्षितिज पर क्रियान्वित होती है और अधिक महत्त्वपूर्ण है। हर वाक्य की तह में 'महावाक्य' है और 'महावाक्य' (मेटालैंग्वेज) अर्थ का ख़ज़ांना और मूल स्रोत है। देखा जाए तो ये और इस से जुड़ी बहसें आज की 'रिसेप्शन-थ्योरी' (संग्रहण-सिद्धांत) की पूर्वगामी लगती हैं। अंतर केवल इतना है कि 'रिसेप्शन-थ्योरी' के संदर्भ में ये पुरानी बहसें नई अर्थवत्ता से संपन्न दिखती हैं और उन को समझने से स्वयं नई 'थ्योरी' में नई अर्थवत्ता का सुराग़ मिलने लगता है, मानो नूतन और पुरातन की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया यहाँ भी कारगर है और आज का साहित्यिक बोध उस से बाहर नहीं।

निष्कर्ष : ऊपर हम ने संरचनावादी और उत्तर संरचनावादी साहित्यिक चिन्तन और संस्कृत काव्यशास्त्र के संधि-स्थलों और समानताओं का विश्लेषण करके, इन दोनों में संबंध स्थापित करने का प्रयास किया है। यह यात्रा आसान नहीं थी, क्योंकि संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास और सिद्धांतों पर जो प्रामाणिक ग्रंथ हैं वे सब के सब संरचनावाद और नई 'थ्योरी' के सामने आने से पहले के हैं और इन में इस प्रकार की बहसें नहीं मिलतीं। दूसरी ओर संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद पर जो सैकड़ों पुस्तकें उपलब्ध हैं, उन में से किसी भी मूलपाठ में भारतीय भाषा-दर्शन या काव्यशास्त्र से किसी भी समन्वय का कोई उल्लेख नहीं है। पाश्चात्य चिन्तन का रवैया एशियाई बौद्धिक उपार्जनों के साथ जैसा रहा है और जिन कारणों से रहा है, उस पर किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। एशियाई बौद्धिक उपार्जन उन के लिए कोई अस्तित्व ही नहीं रखते; यह वैचारिक बेईमानी शताब्दियों से चली आ रही है। यह इसलिए भी दुखद है कि इस प्रकार मानवीय चिन्तन का जो इतिहास सामने आता है वह पक्षपातपूर्ण और एकांगी रह जाने के लिए अभिशप्त है। यह स्थिति ज़्यादा कष्टकर इसलिए भी है कि इस का थोड़ा-बहुत दायित्व हमारे विशेषज्ञों पर भी है। अपने दायित्वों से उदासीनता बरतने में हमारा भी कोई जवाब नहीं। उदाहरण के लिए, हमारे विशेषज्ञ इस प्रकार के वक्तव्य प्रायः औपचारिकता के तौर पर भी देते रहते हैं कि नई पाश्चात्य 'थ्योरी' बहुत कुछ वही है जो भारतीय दार्शनिक परंपरा में शताब्दियों पूर्व कहा जा चुका है। गुजराती के लब्ध-प्रतिष्ठ आलोचक डॉ. हरिवल्लभ भयानी के इस वक्तव्य से दूसरों का भी अनुमान किया जा सकता है। 'आज के नए समालोचनात्मक रवैयों का ज्यादातर झुकाव भाषा-विज्ञान, संरचनावादी और संकेत-विज्ञान संबंधी बहसों की ओर है। इन दृष्टिकोणों और साहित्यिक पाठों में मुझे भारतीय काव्य-सिद्धांत और आलोचना के समानांतर कई बिन्दु मिलते हैं।'

यही हाल जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर एच.एस. गिल का है जो फ्रांसीसी भाषा और संकेत-विज्ञान दोनों के विशेषज्ञ हैं। अपने 1990 के एक लेख में उन्होंने भी यह विषय छेड़ा है और समरूपताओं का उल्लेख किया है, किन्तु विस्तार से कुछ नहीं कहा और केवल विमर्श हेतु आमंत्रित कर यह कार्य दूसरों के लिए छोड़ दिया है।

हमारे विचारकों का सामान्य रवैया यही है। मेरी धारणा थी कि कम से कम वे भारतीय विचारक

जो विदेशी विश्वविद्यालयों से संबद्ध हैं या अंग्रेज़ी के विद्वान हैं, उन्हें तो बहरहाल यह परिप्रेक्ष्य लभ्य है। उन्होंने कुछ ध्यान दिया होगा। मदन स्वरूप और राजनाथ का उल्लेख मैं ने कई मित्रों से सुना, एतदर्थ बड़े चाव से ये पुस्तकें हासिल कीं : मदन स्वरूप, *पोस्ट-स्ट्रक्चरलिज़्म एंड पोस्ट-मॉडर्निज़्म* (एथेन्स, ज्योर्जिया, 1989) और राजनाथ, (सं.), *डीकंस्ट्रक्शन : अ क्रिटीक,* (मैकमिलन, लंदन, 1989)। मदन स्वरूप गोल्डस्मिथ कॉलेज, लंदन विश्वविद्यालय में पढ़ाते हैं और राजनाथ इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर हैं; लेकिन यह देख कर बहुत आश्चर्य हुआ कि दोनों पश्चिम वालों से भी अधिक पश्चिम के मारे निकले। मदन स्वरूप हों कि राजनाथ, दोनों ने बराबर इस का ध्यान रखा है कि उन के लेखन में पूर्वी अथवा भारतीय मानस भूले से भी प्रतिबिम्बित न हो।

1990 में जब वह आलेख लगभग लिखा जा चुका था, बंबई के कृष्णारायण का लेख, 'लिटररी थ्योरी एंड इंडियन क्रिटिकल प्रैक्टिस' (*द लिटरेरी क्राइटीरियन,* मैसूर, बॉल, 25, 1, 1990) दृष्टिगत हुआ। कृष्णारायण गिनती के उन विद्वानों में हैं जिन्हें दोनों परंपराओं का सम्यक् बोध है। मैं ने उन से संपर्क स्थापित किया तो ज्ञात हुआ कि वह नई 'थ्योरी' के परिप्रेक्ष्य में भारतीय साहित्य-शास्त्र का पुनर्गठन करना चाहते हैं, और उन की पुस्तक, *साहित्य, ए थ्योरी* प्रकाशित होने वाली थी।

वैसे देखा जाएं तो विरचनावाद की पहली ईंट ही में पूर्व का हाथ लगा है। तात्पर्य देरीदा की *ऑफ़ ग्रैमेंटॉलॅजी* (1976) से है जिस का अंग्रेज़ी अनुवाद गायत्री स्पीवाक का है और उसी की विस्तृत भूमिका के साथ प्रकाशित हुआ है। लेकिन देरीदा के चिन्तन की बौद्ध तर्कविदों और विशेष रूप से नागार्जुन के 'शून्य' से अनुरूपता शायद गायत्री के कार्यक्षेत्र से बाहर थी। उस का उल्लेख निःसंदेह रॉबर्ट मैग्लिओला ने अपनी पुस्तक *देरीदा ऑन द मेन्ड* (1984) में किया जिस पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं। अतः इन्हें अपवाद ही कहा जाएगा।[2]

इन स्थितियों में मुझे सब से अधिक मार्ग-निर्देश मद्रास विश्वविद्यालय के संस्कृत विद्वान कुञ्जुन्नी राजा से मिला। उन्होंने अपना शोध-प्रबंध संस्कृत प्रोफ़ेसर जॉन ब्रो के पर्यवेक्षण में पूरा किया था। जॉन ब्रो उन मर्मज्ञों में थे जो न केवल संस्कृत काव्यशास्त्र में निष्णात् थे और *वाक्यपदीय* एवं *ध्वन्यालोक* पर उन की गहरी दृष्टि थी, बल्कि उन्होंने आधुनिक पाश्चात्य भाषिकी और संस्कृत काव्यशास्त्र पर तुलनात्मक दृष्टि से बड़ा ही मौलिक कार्य किया था। उन की यही विशेषता कुञ्जुन्नी राजा को उन के पास खींच लाई होगी। 1952 से 1954 का यह वह

---

[2] हैरॉल्ड कोवर्ड की पुस्तक *देरीदा एंड इंडियन फ़िलॉसफ़ी* भारत में हाल ही में आई हैं। इस में देरीदा की तुलना भर्तृहरि, नागार्जुन, शंकराचार्य और अरविंद से की गई है। देरीदा के विभेदात्मकता-सिद्धांत के संबंध में कोवर्ड ने भी शंकराचार्य और अरविंद की अपेक्षा नागार्जुन पर और भर्तृहरि के शब्द तत्त्व पर विशेष बल दिया है। यह अनुवाद गोपीचंद नारंग के जिन दो लेखों पर आधारित है वे कोवर्ड की उक्त पुस्तक से बहुत पहले प्रकाशित हो चुके थे जो अब उन की पुस्तक *साख़्तियात, पस-साख़्तियात और मशरिक़ी शेरियात* (1993) में एक अध्याय के रूप में सम्मिलित हैं। —सं.

काल था जब साहित्यिक 'थ्योरी' पर संरचनावाद के हमले अभी शुरू नहीं हुए थे। और तो और, सॉस्युअर की पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद भी अभी तक नहीं हुआ था (अंग्रेज़ी अनुवाद 1959 में आया।) लेकिन सॉस्युअर के महत्त्व का अनुभव होने लगा था। अतः संस्कृत परंपरा में अर्थ-सिद्धांत पर विचारणा के दौरान कुञ्जुत्री राजा ने कई स्थलों पर सॉस्युअर से तुलना भी की है। बौद्ध तर्कविदों के अपोह-सिद्धांत और दिङ्नाग का पहला सुराग़ भी मुझे कुञ्जुत्री राजा के यहाँ मिला। बहरहाल ये सारी कृतियाँ संरचनावादी, उत्तरसंरचनावादी और नए साहित्यिक चिन्तन के आरंभ से पूर्व की हैं और इस प्रसंग में उन से अधिक सहायता नहीं मिल सकती थी। टोह निस्संदेह मिल गई।

इस शृंखला की एक रोचक कड़ी सॉस्युअर की संस्कृतविज्ञता भी है, किन्तु संरचनावादी सिद्धांत से जुड़ी आरंभिक बहसों में पाश्चात्य चिन्तक इस तथ्य को वह महत्त्व नहीं देता जिस का यह अधिकारी है, यद्यपि समानताओं का कुछ न कुछ बीज इसी तत्त्व में छिपा हुआ है। दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्कृत विद्वान डॉ. उषा चौधरी ने विचार-विनिमय के दौरान इस पर बहुत बल दिया। यह वास्तविकता है कि सॉस्युअर ने केवल संस्कृत का अध्ययन ही नहीं किया, अपितु इंडो-योरोपीय के अतिरिक्त वह पेरिस और जेनेवा में वर्षों संस्कृत पढ़ाता भी रहा। इक्कीस वर्ष की आयु में उस ने इंडो-योरोपीय के स्वर-तंत्र पर अपना एकमात्र आलेख प्रकाशित किया और 1880 में संस्कृत व्याकरण पर डॉक्टरेट ली। बाद में वह पेरिस में और अपने नगर जेनेवा में संस्कृत और भाषा-विज्ञान पढ़ाता रहा। यहाँ तक कि 1906 में किसी प्रोफ़ेसर के अवकाश ग्रहण करने पर उसे सामान्य भाषा-विज्ञान का कोर्स पढ़ाने को कहा गया। यों एक-एक वर्ष छोड़ कर 1907 से 1911 तक सॉस्युअर यह कोर्स पढ़ाता रहा। 1912 की गर्मियों में वह बीमार हुआ और फ़रवरी 1913 में 56 वर्ष की आयु में उस का देहांत हो गया। उस की युग-प्रवर्तक कृति *कोर्स इन जनरल लिंग्विस्टिक्स* का संपादन उस के छोड़े हुए नोट्स की सहायता से उस के दो सहयोगियों ने करके उसे 1916 में प्रकाशित किया।

मानव-चिन्तन में दीपक से दीपक जलता है और एक का बीज दूसरे स्थान का महाकाय वृक्ष बन जाता है। लेकिन बहुधा ऐसा भी हुआ है कि दो विचार-परंपराएँ एक जैसे सत्य तक विभिन्न कालों में स्वतंत्र रूप से पहुँचीं। अतः निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि सॉस्युअर ने संस्कृत परंपरा से लाभ उठाया और यदि उठाया तो कैसा लाभ उठाया। निस्संदेह वह असाधारण बौद्धिक क्षमता का स्वामी था और संस्कृत भाषा-दर्शन पर उस की गहरी दृष्टि रही होगी। बौद्ध चिन्तन के अपोह-सिद्धांत तक उस की पहुँच असंभव नहीं, क्योंकि वह भी संस्कृत परंपरा का हिस्सा है। लेकिन *कोर्स* से सीधे इस का कोई प्रमाण नहीं मिलता, न ही नोट्स से कोई सुराग़ मिलता है। यह सब कुछ मरणोपरांत प्रकाशित हुआ है। अनुमान ही किया जा सकता है कि यदि सॉस्युअर अपनी पुस्तक की पांडुलिपि स्वयं तैयार करता तो संभव है संस्कृत परंपरा का उल्लेख भी उस में होता। या यह भी हो सकता है कि ये प्रभाव सोद्देश्य न हो कर अवचेतन रूप में रहे हों। क्योंकि इतना तो बहरहाल ज्ञात है ही कि संस्कृत उस ने आरंभ से पढ़ी थी और उस का मस्तिष्क और बोध संस्कृत परंपरा में रचा-बसा हुआ था।

ऊपर दोनों परंपराओं के संधि-स्थलों की जो पड़ताल की गई, संक्षेप में उस के निष्कर्ष इस प्रकार हैं :

1. आधुनिक भाषिकी में इस बात को सामान्यतया स्वीकार किया जाता है कि सॉस्युअर ने भाषा की जिस संरचना पर बल दिया है, उस का 'प्रोटोमॉडल' संस्कृत वैयाकरणों की, विशेष रूप से पाणिनि की देन है। सॉस्युअर के संरचनावादी भाषा-विज्ञान का सारा विकास इसी दिशा में रहा है। यास्क, पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि और अन्य वैयाकरणों की समस्या भाषा की व्याकरणिक संरचना थी।भाषा के समकालिक (सिन्क्रॉनिक) अध्ययन का मार्ग भी उन्होंने दिखाया। शब्द-चर्चा भारतीय दर्शन के विभिन्न संप्रदायों में, विशेषतया मीमांसा और न्याय में की गई थी। फिर बौद्ध और जैन विचारकों ने उन्हें तार्किक विवेचना की शक्ति के साथ प्रस्तुत किया। इस दृष्टि से भारतीय परंपरा में ये बहसें नई पाश्चात्य 'थ्योरी' की बहसों से बहुत प्राचीन और प्रौढ़ हैं।
2. मीमांसकों की चिन्ता शब्द की सत्ता के स्थापन में थी, न्याय परंपरा में शब्द और अर्थ का संबंध नैसर्गिक न मानने की प्रवृत्ति रही है। यह संबंध औपचारिक और पारंपरिक हैं। इसे अभिधा कहा गया है। यह दृष्टिकोण सॉस्युअर के दृष्टिकोण से मिलता-जुलता है कि शब्द और अर्थ में 'स्वभावतः' कोई संबंध नहीं है। यह रिश्ता 'मनमाना' है अर्थात् परंपरा और रीति से अस्तित्व में आता है।
3. न्याय दर्शन के अनुसार अर्थ वस्तुमात्र नहीं है वरन् वस्तु की मानसिक अवधारणा या विकल्प है, अर्थात् मानसिक संरचना या वस्तु की वह अमूर्त अवधारणा जो इस प्रकार की तमाम वस्तुओं पर हावी है, और कोई विशेष वस्तु जिस का एक संदर्भ मात्र है। अर्थ के लिए ठीक-ठीक यही बात सॉस्युअर कहता है।
4. व्याडि और भर्तृहरि के यहाँ 'द्रव्य' की जो अवधारणा है वह अपनी दृढ़ता और सर्वदेशीयता के कारण बहुत कुछ सॉस्युअर के 'लांग' (भाषा-तंत्र) की अवधारणा से मिलती-जुलती है 'पारोल' (भाषा-व्यवहार) से भिन्न।
5. शब्द और अर्थ के विभेदात्मक संबंध के आरंभिक संकेत यद्यपि यास्क, पाणिनि और पतंजलि के यहाँ मिल जाते हैं, लेकिन उन्हें सैद्धांतिक रूप में बौद्ध चिन्तकों ने स्थापित किया। बौद्ध चिन्तन का अपोह-सिद्धांत जो 'शून्य' का अनिवार्य अंग है, अर्थ को विभेदात्मकता का परिणाम कह कर उस की तार्किक व्याख्या करता है। यह वस्तुतः वही तर्क है जिस पर सॉस्युअर का 'मॉडल' स्थापित है, और जिसे विरचनावाद में देरीदा ने विभेदात्मकता-सिद्धांत के माध्यम से पराकाष्ठा पर पहुँचाया है।
6. नागार्जुन का 'शून्य' या 'शून्यता' का सिद्धांत बहुत कुछ देरीदा के विरचनावादी चिन्तन या देरीदा के नकारी तर्क से मिलता-जुलता है। शून्य सत्य के समस्त प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष का मूल है। द्वंद्वात्मक रूप से प्रत्येक अर्थ को निरस्त किया जा सकता है। मानो अर्थ का मूल यदि कुछ है तो शून्य है। इस प्रकार शून्य एक गत्यात्मक सकारी अवधारणा बन जाता है। देरीदा का आग्रह है कि विरचनावादी 'पढ़त' अर्थ की अनुपस्थिति को कार्यान्वित करती है। उसे विध्वंसक कहना ग़लत होगा। भाषा की विभेदात्मकता संबंधी सॉस्युअर की अवधारणा जिस प्रकार स्पष्ट रूप से बौद्ध

'अपोह' से गृहीत है, अर्थ के नकार पर नकार, अर्थात् देरीदा के 'स्थगन' और विभेदात्मकता-सिद्धांत एवं बौद्ध शून्य-सिद्धांत में स्पष्ट समानांतरता देखी जा सकती है।

7. संस्कृत काव्यशास्त्र में भर्तृहरि का स्फोट-सिद्धांत संरचनावादी अवधारणा 'संकेत' (साइन) का पूर्वगामी है। 'संकेत' के ऐक्य को सॉस्युअर और उस के संरचनावादी अनुयायियों ने स्थापित किया था जिसे देरीदा और उस के उत्तर-संरचनावादी समयुगीनों ने विस्थापित कर दिया। भर्तृहरि के 'स्फोट' और सॉस्युअर की अवधारणा 'संकेत' में समरूपता स्पष्ट है।
8. आनंदवर्धन का ध्वनि-सिद्धांत जो वस्तुतः काव्यशास्त्र में रस-सिद्धांत का समरूप है, चूँकि सांकेतिक अर्थ से जुड़ा हुआ है और उस अर्थ से भी जो सामने के अर्थ से आगे जाता है। उस की कुछ व्याख्याओं में अर्थ के दूसरेपन (अदरनेस) का जो आग्रह है वह अर्थ के अनुपस्थित होने की उस अवधारणा से मिलता-जुलता है जिसे देरीदा ने विभेदात्मकता के रूप में सिद्धांतबद्ध किया है।
9. अंतिम और सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रस-सिद्धांत जो संस्कृत काव्यशास्त्र का प्राण है बिलकुल उसी तरह दर्शक-केंद्रित है जिस तरह आलोचना (पाठकवादी) है। आज की पाश्चात्य रीडर्स-रेस्पॉन्स आलोचना, दृश्य-प्रपंच-विज्ञान और स्वीकार-सिद्धांत (रिसेप्शन थ्योरी) की समस्या भी यही है कि अर्थ-ग्रहण में पाठक की भूमिका क्या है या 'पढ़त' की प्रक्रिया का स्वरूप क्या है या 'पढ़त' के प्रकार्य (फ़ंक्शन) के अनुसार अर्थ का निर्धारण किस प्रकार होता है, इस प्रकार देखा जाए तो रस और ध्वनि के विमर्श आज की साहित्यिक थ्योरी में पाठकवादी आलोचनात्मक रवैयों के सैद्धान्तिक पूर्वगामी कहे जा सकते हैं।

इस संदर्भ में यह विचारणीय है कि कभी-कभी आधुनिक के हवाले से प्राचीनं या प्राचीन का कोई हिस्सा नया हो जाता है या नई अर्थवत्ता हासिल कर लेता है। उदाहरणार्थ रूसी रूपवादी अपना काम करके अज्ञात मर गए और अधिसंख्य के जीवनों में किसी ने उन की ओर आँख उठा कर भी न देखा किन्तु जब संरचनावाद की उन्नति हुई तो उन्हीं रूसी रूपवादियों की उठाई हुई बहसें नए सिरे से साहित्यिक थ्योरी के मध्य आ गईं। अतः इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि भारतीय तथा पूर्वी काव्यशास्त्र की वह अवधारणाएँ और सूक्ष्म-बिन्दु जो आधुनिक भाषाओं में विलीन हो कर स्वयं अपनी धरती में भूली-बिसरी स्मृति बन गए, नई थ्योरी से कुछ वैचारिक समरूपताओं के कारण नए सिरे से विवादप्रियता का केन्द्र बन जाएँ और साहित्यिक अपेक्षाओं के क्षितिज पर नई अर्थवत्ता के वाहक नज़र आने लगें। याद रहे, केवल पाठक ही पाठ को नहीं पढ़ता, पाठ भी पाठक को पढ़ता है और यह गत्यात्मक प्रक्रिया जारी रहती है। यह विषय चूँकि विशद् और गूढ़ है इसलिए आगे इस पर और अधिक चिन्तन-मनन होगा।

उर्दू से अनुवाद : **देवेश**

चिन्तन-भूमि : 2

कैलाश वाजपेयी

रचना और चेतना

मनुष्य के मस्तिष्क में संज्ञान अथवा चेतना कहाँ अवस्थित है? क्या संज्ञान अज्ञान से अलग है? अथवा अज्ञान भी मस्तिष्क की एक विधायक स्थिति है? आदमी किन परिस्थितियों में अपनी विचारधारा कैसे संयोजित करता है और किन वजहों से उन्हें नकार जाता है, यह समस्या हमेशा से बौद्धिकों को आंदोलित करती आई है। विचारधाराओं का आधार भौतिक है—ऐसा इसलिए कि सामाजिक परिस्थितियाँ ही आदमी का मनोविज्ञान गढ़ती हैं। मगर तब भी, जैसा कि कॉलिन मक्गिन ने अपनी नई पुस्तक द *प्रॉब्लेम ऑफ़ कांशसनेस* में लिखा है, संज्ञान कोई अलाउद्दीन के चिराग़ को रगड़ने से पैदा हो जाने वाला अजूबा नहीं; न ही वह आनुवांशिकता का शत-प्रतिशत मोहताज़ है। मगर तब भी वह है मस्तिष्क की ही उपज। मस्तिष्क का इस्तेमाल सभी करते हैं, इसीलिए शब्द है; या यह कि शब्द है ही इसलिए कि मस्तिष्क है!

मक्गिन जब संज्ञान की तह में बीजरूप में विद्यमान शब्द की ओर संकेत करते हैं तो ध्यान *महानारायणोपनिषद्* की ओर चला जाता है जिस में शब्द की समता महान देव (ईश्वर) से की गई है। श्रुति कहती है उस के चार सींग और तीन पैर हैं, दो सिर हैं तथा सात हाथ हैं; तीन तरह से बँध कर यह वृषभ ध्वनि उत्पन्न करता है और शब्द-रूप में मनुष्यों में प्रवेश करता है। रूपक के रूप में रची गई इस ऋचा को अगर स्पष्ट किया जाए तो अर्थ होगा : इस के सात हाथ हैं अर्थात् क्रिया के साथ लगने वाली सुबन्त की सात विभक्तियाँ इस में विद्यमान हैं। तीन तरह से बँधा है अर्थात् हृदय, कंठ और सिर में निबद्ध है। चार सींग यानी आख्यात, नाम, उपसर्ग और निपात। तीन पैर यानी भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल। वृषभ अर्थात् बैल का रूपक इसलिए रचा गया है क्योंकि वृषभ और शब्द दोनों रोर करते हैं। भर्तृहरि ने अपने *वाक्यपदीय* में लिखा है : महान देव (शब्द) मनुष्यों में प्रवेश करते हैं। मनुष्य यानी मरणधर्म वाले—उन में ही शब्द अर्थात् महान देव ब्रह्म प्रवेश करता है। पहेली की तरह लगने वाली इस ऋचा की एक व्याख्या अगर भर्तृहरि ने की है तो दूसरी पतंजलि ने। व्याख्याएँ और भी हैं जिन में यास्क और राजेश्वर का नाम लिया जा सकता है। मक्गिन क्योंकि न्यूजर्सी (अमेरिका) में दर्शन-शास्त्र पढ़ाते हैं, इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि उन्होंने संज्ञान संबंधी स्थापनाएँ

इन्हीं स्रोतों से उठाई हों।

चेतना को परिभाषित करने वाले चार सिद्धांत मनोविज्ञान की दुनिया में प्रचलित हैं : कारणवाद, क्रियावाद, संगणकवाद और सोद्देश्यवाद। इन में से एक भी सिद्धांत इसलिए पूर्ण नहीं लगता क्योंकि चेतना कोई ठहरी हुई मनःस्थिति अथवा प्रतिभिज्ञा नहीं; शायद इसीलिए भारतीय चिन्तन के इतिहास में चेतना कभी आत्मा के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होती है तो कभी चिति के। किन्हीं स्थलों पर आत्मा को एक तत्त्व, एक जड़ द्रव्य माना गया है जिस में चेतना के गुण कभी होते कभी नहीं होते हैं, मगर चेतना की अनुपस्थिति में उसे अनात्मा कह कर अभिहित नहीं किया गया। उदाहरण के लिए, लोकायतों का कहना है कि चार महाभूतों के आनुपातिक संयोग से चेतना जन्मती है। इस मान्यता के अनुसार चेतना और आत्मा दोनों आकस्मिक हो जाती हैं। न्याय-वैशेषिकों के अनुसार नौ द्रव्य तत्त्वों में से आत्मा, मात्र वह तत्त्व है जो स्वभावतः अचेतन है। सांख्य योग का मानना है कि अस्तित्व जड़ और चेतन दो खंडों में विभक्त है। जो सदा कर्मरत है वह प्रकृति है और साथ ही अचेतन भी है, जबकि पुरुष तत्त्व जो हमेशा स्वयं को जानता है, स्वयं का ज्ञाता है, चेतन उस का आवश्यक गुण है। अनेकांतवाद का मानना है कि सृष्टि जीव और अजीव दो वर्गों में विभक्त है। इन में अजीव तत्त्व चेतना-विहीन है। वेदांत चेतन-स्वरूप आत्मा के अद्वैत रूप का प्रतिपादन करता है जो सचेत होने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' के तल पर पहुँच पाता है। बौद्ध दर्शन ही एक ऐसा है जो चेतना पर सब से अधिक बल देता है। वह चेतना को कर्म का पर्याय मानता हुआ घोषणा करता है कि 'चेतना अहं भिक्खवे कम्मं वदामि'। बौद्ध धर्म आत्मा का ज़िक्र ही नहीं करता। वह कर्ममयता को ही चेतना का प्रसार मानता है।

इन तमाम व्याख्याओं के बावजूद, संज्ञान अथवा चेतना है क्या? यह प्रश्न वहीं का वहीं छूट जाता है। चेतना अगर ठहरी हुई स्थिति नहीं है तो यह बता पाना भी कहाँ संभव है कि मस्तिष्क की किस कोशिका में वैयक्तिकता और किस कोशिका में परात्मकता का डेरा है। इसी के साथ-साथ दूसरी समस्या यह भी है कि मानसिकता कब दैहिकता कहलाए और दैहिकता कब इतनी सूक्ष्म हो जाए कि मानसिकता की श्रेणी में आ जाए।

एक शब्द है अंतर्विश्लेषण। इस शब्द का अर्थ होता है अपनी ही पड़ताल कर अपने पर निर्णय देने की क्षमता। हम इस अंतर्विश्लेषण की प्रक्रिया से गुज़रते हैं कि हमारा स्वत्त्व या तो परिवर्तन चाहता है या फिर परिवर्धन। मगर हमारे भीतर वह कौन-सी इकाई है जो पहले आत्मनिरीक्षण की प्रक्रिया से गुज़रती है। विश्लेषण में हमेशा गुण और दोष के घटक अलग-अलग छाँट कर रखने होते हैं। अब इस छँटाई का कार्य कौन करता है? क्या वह हमारा संज्ञान है, और अगर ऐसा है तो गुण और दोष किस तत्त्व पर आरोपित थे, किस तल पर किस से घुले-मिले थे, यह बता पाना लगभग असंभव है। पिछले दिनों नॉम चॉम्स्की ने कहा था—रहस्य मन की एक स्थिति है, जबकि समस्या मन की एक बिलकुल दूसरी स्थिति। मन का परिभाषेय होना उस की रहस्यात्मकता है, जबकि उस की गति को अंकुशित न कर पाना उस की समस्या। इन दोनों को चेतना किस रूप में बरत पाती है, यह समझ पाना भी एक पहेली है। अंतर्विश्लेषण, जो कि संज्ञान या चेतना के होने का आभास देता है, एक ऐसी प्रक्रिया है जिस में राहत कहीं नहीं; इसलिए कि यह एक ऐसी चेष्टा है जो 'जो है' को 'जो नहीं है' वैसा होते हुए देखना चाहती है।

आत्मविश्लेषण की ही तरह चेतना का एक और तल है जो स्थितियों को आत्मसात करता है। हम जब किसी गहरे अनुभव की प्रक्रिया से गुज़रते हैं तो क्या हम जागरूक होते हैं कि हम कुछ अलग तरह का अनुभव कर रहे हैं? अगर अनुभव के क्षणों में न निरीक्षक होता है न निरीक्षित, तो अनुभव का क्षण समाप्त हो जाने पर अनुभवन किस में समाहित हो जाता है? कहीं उसी का नाम तो संज्ञान नहीं है!

इस संदर्भ में अगर हम थोड़ा और गहरे उतर कर सोचना शुरू करें तो पाएँगे कि हमारा जीवन, जैसा कि बुद्ध ने कहा था, चेतना के तल पर कर्मों की कड़ी अथवा एक शृंखला है। *कर्मों में सब तरह के कर्म शामिल हैं। रचना भी एक तरह का कर्म है।* चेतना *का काम है अनुभव करना, मगर कर्मों का नियोजन भी चेतना ही करवाती है। इस तरह चेतना कर्म करती भी है और कर्मों का आयोजन भी उसी के द्वारा होता है।* इस का अर्थ हुआ कि *चेतना योजना भी है, सर्जन भी है, अनुभव भी है और स्मृति के रूप में किए गए कर्मों का अभिलेखन भी है। उस में विचारणा और अनुशीलन सभी सन्निहित हैं!* जब समस्त दृग्विषय का अवगम गहरी तल्लीनता के साथ होता है तब उस की निष्पत्ति संज्ञान में होती है।

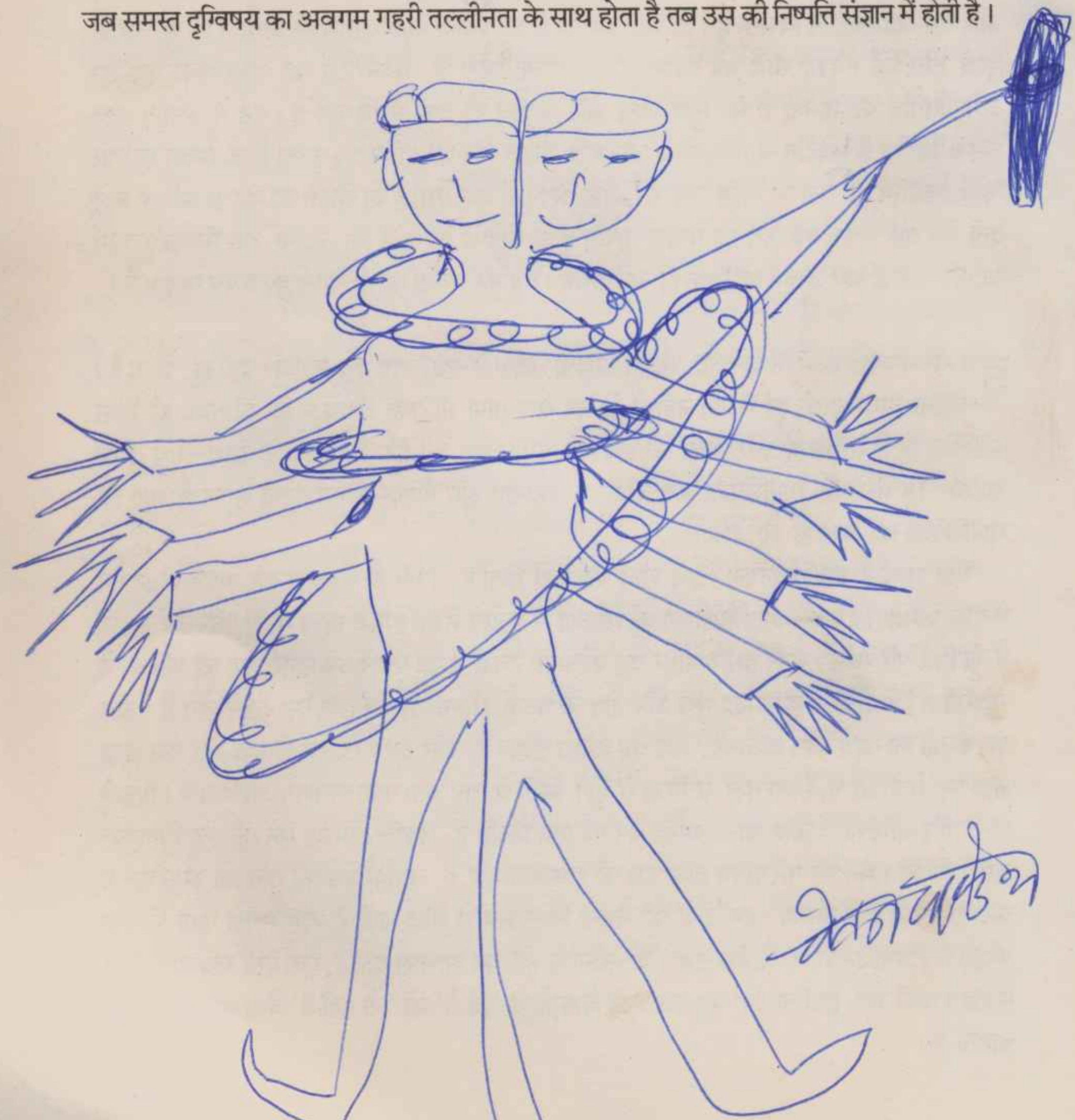

चिन्तन-भूमि : 3

हेमचंद्र पांडे

भाषा और चेतना

समस्त प्राणियों में से केवल मनुष्य में ही यह योग्यता है कि वह वस्तुजगत को भाषिक संकेतों के रूप में अभिग्रहण कर सकता है जो अपने वाचक पदार्थों का प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब नहीं होते। पदार्थों के प्रत्यक्ष प्रतिबिम्बों से सर्वथा भिन्न इन भाषिक संकेतों को रूसी शरीर क्रियाविज्ञानी इ.पे. पाव्लोव ने 'द्वितीय संकेतन प्रणाली' कहा है जो पदार्थों के प्रत्यक्ष अभिग्रहण की 'प्रथम संकेतन प्रणाली' से भिन्न कोटि की है। वस्तुजगत को जंतु 'प्रथम संकेतन प्रणाली' के द्वारा अभिग्रहण करते हैं जबकि मनुष्य दोनों संकेतन प्रणालियों का उपयोग करता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को वस्तुजगत का अभिज्ञान दो प्रकार से होता है—प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब्रों के रूप में तथा भाषिक संकेतों के रूप में।

भाषिक संकेतों के द्वारा ही पदार्थों का सामान्यीकरण संभव होता है। अमूर्त चिन्तन का साधन भी भाषिक संकेत ही है। प्रत्यक्ष प्रतिबिम्बों के द्वारा न सामान्यीकरण संभव है और न अमूर्त चिन्तन। संकल्पनाओं का निर्माण भी भाषिक संकेतों के द्वारा ही होता है। इसीलिए केवल मनुष्य ही उच्चतर बौद्धिक कार्य करने में समर्थ है, यद्यपि मनुष्य की सभी ज्ञानेन्द्रियाँ समान रूप से विकसित नहीं हैं। स्मरण-शक्ति में हाथी, श्रवण-शक्ति में चमगादड़ और लोमड़ी, घ्राण-शक्ति में कुत्ता और हिरन तथा दृष्टि में बिल्ली मनुष्य से बहुत आगे है। परंतु यह भी उल्लेखनीय है कि जंतुओं के क्रियाकलाप सहजवृत्ति के द्वारा संचालित होते हैं और कोई भी जंतु अपने इंद्रियजन्य अनुभवों से आगे नहीं बढ़ पाता। स्पष्टतः, उच्चतर बौद्धिक प्रकार्य मात्र ज्ञानेन्द्रियों का लक्षण नहीं है। भाषिक संकेतों और विवेकबुद्धि की इस में बहुत बड़ी भूमिका है। केवल मनुष्य में ही यह योग्यता है कि वह भाषिक संकेतों के द्वारा प्राप्त दूसरों के अनुभवों का लाभ उठा कर अपने अनुभवों का विस्तार करता चले। यही व्यक्तिगत अनुभव सामूहिक चेतना के रूप में प्रतिफलित होते हैं।

भाषा केवल संप्रेषण का साधन ही नहीं है, वह सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति भी है। साहित्य भी चेतना की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है। किसी भी राष्ट्र और समाज में हो रहे बदलाव वहाँ की भाषा में (और साहित्य में भी) अवश्य परिलक्षित हो जाते हैं। इस प्रकार एक ओर तो भाषा सामूहिक चेतना को प्रतिबिम्बित करती है और दूसरी ओर उस से प्रभावित भी होती है। परंतु चेतना की उस तरह से कोई अलग सत्ता नहीं होती जैसी कि भाषिक तत्त्वों—वाक्य, शब्द, रूपिम, स्वनिम, वाग्ध्वनि आदि—की होती है। मस्तिष्क में भाषा की स्थानबद्धता के विषय

L.C.H.

में इधर बहुत-सी नई जानकारियाँ सामने आई हैं। प्रमस्तिष्क के—विशेष रूप में बाएँ प्रमस्तिष्कीय वल्कुट के—अलग-अलग खंड भाषिक प्रकार्यों के लिए विशेषीकृत हैं। चेतना भाषा के माध्यम से प्रकट होती है और भाषा में प्रतिबिम्बित होती है, परंतु भाषा की तरह वह मस्तिष्क में स्थानबद्ध नहीं है। यह भी उल्लेखनीय है कि भाषा केवल मस्तिष्क का ही लक्षण नहीं है। चेतना और भाषा दोनों समूहगत परिकल्पनाएँ हैं—अमुक समाज के बिना न उस की भाषा की, और न ही उस की चेतना की परिकल्पना की जा सकती है, चाहे वह कोई वर्तमान समाज हो या कोई विलुप्त समाज। विलुप्त समाज की चेतना उस के साहित्य और भाषा द्वारा ही जानी जा सकती है।

जिस तरह केवल इंद्रियजन्य अनुभवों तक सीमित रहने के कारण जंतुओं में चेतना का अभाव होता है, उसी तरह छोटे शिशु भी चेतनारहित होते हैं, क्योंकि उन का संसार उन के प्रत्यक्ष अनुभवों तक ही सीमित होता है। शिशुओं में चेतना न होने का एक अन्य कारक है उन में सामूहिकता का अभाव। शिशु का संसार केवल अपने तक ही सीमित होता है। शिशुओं के द्वारा प्रयुक्त शाब्दिक संकेत व्यवहारबद्ध या संदर्भबद्ध होते हैं—एक ही शब्द या कोई अटपटा ध्वनि-संयोग अलग-अलग संदर्भों में अलग-अलग अर्थ ग्रहण करता है, विभिन्न मनोदशाओं और संवेदनों को व्यक्त करता है। अर्थात् शिशु की वाणी व्यवहारबद्ध होती है। शिशु अपने विवेक से 'विशेष' और 'सामान्य' में अंतर नहीं कर पाता है। अलग-अलग आकारों में प्रस्तुत एक ही वस्तु को शिशु अलग-अलग वस्तुओं के रूप में ग्रहण करता है; तरह-तरह की खेलने की चीज़ों में यह समानता स्थापित करना कि ये सब खिलौने हैं, शिशु-बुद्धि की समझ से परे है; एक ही रंग के विभिन्न पदार्थों में रंग की समानता की समझ शिशु में नहीं होती है। इस प्रकार का अभिज्ञान शिशु की वाणी के विकसित होने पर ही संभव होता है।

शिशु के द्वारा प्रयुक्त शब्द जब व्यवहार से मुक्त हो कर स्वतंत्र रूप से अर्थ के वाचक बन जाते हैं, तभी वे सामान्यीकरण, संकल्पना-निर्माण और अमूर्तन का साधन बनते हैं। यह प्रक्रिया बच्चे की वाणी के विकसित हो जाने के बाद आरंभ होती है। प्रख्यात रूसी तंत्रिकाभाषाविज्ञानी अ.रो. लूरिया ने इसे व्यवहारबद्धता से अर्थबद्धता की ओर संक्रमण कहा है। शिशुओं के संकेतों की तरह जंतुओं के संकेत भी व्यवहारबद्ध होते हैं, व्यवहारबद्ध शब्द में सामान्यीकरण और अमूर्तन की संभावना नहीं है; यह विकास की 'बंद गली' है। तभी तो जंतुओं और मनुष्यों की भाषा में इतना अधिक अंतर दिखाई देता है।

मानवीय चेतना के विकास में तीन कारकों का सम्मिलित योगदान रहा है : *सामूहिक श्रम, प्रमस्तिष्क और वाग्यंत्र का विकास, तथा पूर्वानुभवों का संप्रेषण*।

सामूहिक जीवन में ही संप्रेषण होता है, कुछ कहने-जानने की आवश्यकता होती है। मनुष्य के सामूहिक जीवन के पुरातात्त्विक प्रमाण पूर्व-पुराश्म युग के पत्थर के औज़ारों के रूप में उपलब्ध हैं। इस प्रकार के प्राचीनतम उपकरणों में से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं लुई और मेरी लीकी द्वारा पूर्वी अफ्रीका (उत्तरी तंज़ानिया) में खोज निकाले गए अवशेष, जो संभवतः मनुष्य के निकटतम पूर्वज के बनाए हैं। मनुष्य के इस निकटतम पूर्वज को लीकी दंपति ने होमो हाबिलिस (कुशल मानव) नाम दिया, जिस का काल साढ़े सत्रह लाख साल पुराना माना जाता है। परंतु होमो हाबिलिस का मस्तिष्क केवल 670 घन सेंटीमीटर था। सामूहिक जीवन के बावजूद पूर्व पुराश्म युग में भाषा का आविर्भाव नहीं हुआ। सामूहिक श्रम और औज़ार बनाने की योग्यता किसी-न-किसी रूप में वनमानुषों में भी है। अर्थात् भाषा के उत्थान के लिए सामूहिक श्रम ही पर्याप्त नहीं था।

भाषा के उत्थान के लिए मस्तिष्क और वाग्यंत्र का विकसित होना भी आवश्यक था। इस में लाखों साल लग गए। एक लाख साल पहले के हमारे पूर्वज होमो सेपियन 'बुद्धियुक्त मानव' का मस्तिष्क आधुनिक मानव के

मस्तिष्क के बराबर अर्थात् 1400 घन सेंटीमीटर का हो गया था, परंतु अभी उस के प्रमस्तिष्क के खंड भाषा के लिए विशेषीकृत नहीं हुए थे। शरीर-रचना की दृष्टि से अभी उस का वाग्यंत्र भी विकसित नहीं हुआ था। अमेरिकी नृतत्त्वविज्ञानी फ़िलिप लीबरमान ने यह सिद्ध किया है कि 'होमो सेपियन' के बाद के 'नियंडर्थल' मानव का गला छोटा और कम गतिशील था, उस का स्वरयंत्र ऊपर को था। इस प्रकार का वाग्यंत्र शिशु के वाग्यंत्र से पर्याप्त समानता रखता है। इसलिए भाषा का आविर्भाव होने में हज़ारों साल का समय और निकल गया। *वस्तुतः भाषा का जन्म पचास हज़ार साल पूर्व माना गया है।*

इस बीच पत्थर के औज़ार बनाने की कला में क्रमशः परिष्कार होता जा रहा था। पूर्वजों के अनुभवों से लाभ उठा कर मानव जाति पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रगति कर रही थी। अपने अनुभवों को अगली पीढ़ी को परिप्रेषित करने की योग्यता और नई पीढ़ी द्वारा उस में सुधार और परिष्कार, या कहें अभिवृद्धि, मानव जाति की ही विशिष्टता है। मनुष्य द्वारा अपने पूर्वानुभवों को परिप्रेषित करने की इस योग्यता की चेतना के उत्थान में क्रांतिक भूमिका रही है।

भाषा की दृष्टि से शिशु के मस्तिष्क को पूरी तरह विकसित होने में छह-सात साल लगते हैं। छह-सात वर्ष की आयु के बाद ही बायाँ प्रमस्तिष्क गोलार्ध भाषा के लिए विशेषीकृत हो पाता है। गला अधिक गतिशील हो जाता है, स्वरयंत्र नीचे का आ जाता है और मुख-विवर के द्वारा विभिन्न वाग्ध्वनियों का उच्चारण संभव हो जाता है। विभिन्न प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि तीन-चार साल की अवस्था से शिशु को विवेकजन्य अभिज्ञान या बोध होने लगता है जो संकल्पनाओं के निर्माण में सहायक होता है। चेतना का मूल भी यही विवेकजन्य अभिज्ञान है। इस से पहले जंतुओं की तरह शिशु की क्रियाएँ भी सहजवृत्ति से परिचालित होती हैं। एक प्रकार से जातिवृत्त की पुनरावृत्ति व्यक्तिवृत्त में देखी जा सकती है। भाषा के बिना चेतना न शिशु में हो सकती है, न पूर्व-पुराश्म युग के आदि मानव में।

मानवीय भाषा संकेतमूलक 'कोड' है। यह संकेतमूलक 'कूटांकन' मानवीय भाषा की विशेषता है। व्यवहारबद्धता से मुक्त हो कर ही भाषा संकेतमूलक कोड में बदल सकती है। चिन्तन के लिए पदार्थ-विशेष से अलग होना और मूर्त से अमूर्त की ओर संक्रमण आवश्यक है। इसलिए संदर्भ-तत्त्व का संकेत में बदलना आवश्यक था। अर्थबद्ध प्रणाली में ही शब्द पूरी तरह संकेतमूलक होते हैं और आपस में अर्थ, संबंध और साहचर्य के द्वारा जुड़े होते हैं।

चेतना समूह में व्याप्त होती है; वह समूहगत संकल्पना है। भाषा भी समूहगत संकल्पना है, उस की व्याप्ति भी समूह में है। जातिवृत्त की आदिम अवस्था और व्यक्तिवृत्त की आरंभिक अवस्था में चेतना का अभाव संकेतमूलक भाषा के अभाव के कारण है। यही स्थिति जंतुओं की भी है। प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष, विशेष से सामान्य, मूर्त से अमूर्त, प्रस्तुत से अप्रस्तुत की दिशा में भाषा के उत्थान या उद्‌विकास के फलस्वरूप ही मनुष्य में चेतना का आविर्भाव संभव हुआ है।

शा. बालुराव

कुआँ और बिल्ली

नाट्य स्थल : मैसूर रियासत का एक क़स्बा जहाँ कोर्ट, तहसील, कचहरी और पुराने देवस्थान हैं। स्पष्टतः यह मैसूर नगर से नौ मील उत्तर में स्थित श्री रंगपट्टणा नामक स्थान है।

पात्र-परिचय

शामराव : वकील और ज़मीन्दार। उम्र तक़रीबन 50 वर्ष। छरहरा, लंबा क़द, सफ़ेद मलमल की लाँगदार धोती और मलमल का कुर्ता। उँगलियों में दो-एक अँगूठियाँ। सुनहरी फ्रेम का चश्मा। हाव-भाव में रईसी की छाप।

वेंकम्मा : शामराव की माँ। विधवा लेकिन सकेशी। बाल सफ़ेद। उम्र 70 के आसपास। बादामी रंग की रेशमी साड़ी, बिना बाँहों की सफ़ेद चोली। गले में रुद्राक्ष माला सोने के तार में पिरोई हुई। चश्मा।

बालु : शामराव का बेटा। उम्र 15 वर्ष। नाटा क़द। पूरी बाँह की शर्ट-पायज़ामा और सँवरे हुए बाल।

सत्य : बालु का दोस्त, लगभग वही उम्र, अपेक्षाकृत निचले सामाजिक स्तर का। ब्राह्मण, आधी बाँह की शर्ट, खाक़ी निकर, बिखरे बाल। वकील के घर में छोटे-मोटे काम करके गुज़ारा करता है।

अळसिंगराचार (अळसिंगरु) : शामराव का हमपेशा-हमउम्र। मगर वकील सिर्फ़ नाम का। मुवक्किलों के अभाव में कोर्ट-कचहरी जाने के अवसर नगण्य। छोटा क़द, तगड़ी काठी। ग़रीबी को चुनौती देता जीवंत चेहरा। ललाट पर दो सफ़ेद धारियों के बीच एक लाल चिह्न वाला वीरवैष्णव तिलक। लाल किनारे वाली कोरी लुंगी। ऊपर बनियान और शर्ट का सम्मिश्रण एक ढीला खादी का

मोटा वस्त्र। मुँह पर काली दाढ़ी जो हफ़्ते में एक ही दिन साफ़ होती है। मुँह खोलते ही घंटा-नाद जैसी आवाज़। नाम का शाब्दिक अर्थ है—'मुस्कुराता सिंह'।

संपत्तु : अळसिंगराचार का नाती। उम्र दस वर्ष। सिर पर चोटी। ललाट पर तिलक। कमर पर एक टुकड़ां कपड़ा लुंगी जैसा। ऊपर सिर्फ़ जनेऊ।

गुंडा : गाँव का एक ग़रीब ब्राह्मण का लड़का। उम्र बारह साल। मैली धोती, कंधे पर अंगवस्त्र और जनेऊ।

सूर्यनारायण : वकील का मुंशी। कोरी धोती और गत्ते वाली टोपी और हफ़्ते भर की दाढ़ी।

साहूकार पापय्या : लाँग वाली धोती, बंद गले का कोट, ज़री की पगड़ी, कानों में हीरे की लौंग।

लठैत : आधी बाँहों की शर्ट, निकर, सिर पर बँधा तिरछा तौलिया, हाथ में लंबी लाठी, पहलवान जैसा तगड़ा।

सर्वाधिकार © : इस नाटक के किसी भी प्रकार के उपयोग के लिए लेखक की पूर्वानुमति आवश्यक है।

मंच सज्जा :

शामराव की मैंगलूर टाइल वाली ढलान वाली छत; छत के नीचे एक दरवाज़े के दोनों ओर चबूतरा; दरवाज़े पर बोर्ड : 'सी.बी. शामराव, बी.ए., एल.एल.बी.; एडवोकेट'

चबूतरे से चार सीढ़ियाँ उतर कर विशाल बागीचा। चबूतरे के सामने एक पेड़ के नीचे गोल मेज़, दो-तीन कुर्सियाँ। बाईं ओर मंच के बीच में एक कुआँ। आगे कुछ दूर घर का फ़ाटक और फ़ाटक पर भी वैसा ही एक और बोर्ड।

समय शाम चार-पाँच बजे। चबूतरे पर वेंकम्मा सूप में चावल ले कर साफ़ कर रही है। शामराव झुँझलाया हुआ कुर्सी पर बैठा है। उस के हाथ में एक अख़बार है जिसे वह पढ़ नहीं रहा है। दोनों चिन्ताक्रांत हैं। बालु और सत्य कुएँ के दोनों ओर खड़े हैं। सत्य गिर्री पर रस्सी लटका कर हाथ से खिलवाड़ कर रहा है, जैसे नीचे से कोई चीज़ निकालने की कोशिश में है। बालु हाथ में लिए एक पुराने टॉर्च से कुएँ में रोशनी फेंकने की कोशिश में।

यह हुआ शामराव का घर। उस से लगा हुआ दूसरी ओर उस का कार्यालय है जिस के दो दरवाज़े हैं। एक दरवाज़ा फ़ाटक की तरफ़, दूसरा बागीचे में खुलता है। मुंशी सूर्यनारायण क़ानून की किताबों और काग़ज़ात से भरे कमरे में ढलवाँ चौकी के सामने ज़मीन पर बैठा है और किसी दस्तावेज़ की नक़ल कर रहा है।

वेंकम्मा : ये क्या मुसीबत आ गई बेटे। कुएँ में बिल्ली पड़ी है। कब तो ये बिल्ली निकलेगी और कब ये पानी साफ़ होगा! कब ये पीने लायक़ होगा! ...और तब तक हम पीने-नहाने का क्या करेंगे?

शामराव : गंगा कहार सुबह का गया है और अभी तक नहीं लौटा। कहता तो ये था कि बस अभी सामान लाया और बिल्ली निकाली।

वेंकम्मा : अब मेरा तो चाहे बदन टूटे या घुटना फूटे, किसी न किसी तरह मैं नदी में नहा आऊँगी। लोटा भर पानी भी लेती आऊँगी। मेरा तो कुछ न कुछ इंतज़ाम हो ही जाएगा, पर तुम लोग क्या करोगे?

शामराव : करना क्या है! ले-दे कर एक वही गुंडा है, उसी छोकरे से कह के नदी से और पानी मँगाएँगे।

वेंकम्मा : उस का क्या भरोसा? कहने लगा, आठ आने रोज़ की मजूरी पर चाहे जितना पानी मँगा लो! सुबह दो बार दो-दो घड़े भर भी लाया। फिर बोला, 'टट्टी लगी है', और तब से गया सो अब तक लापता है।

शामराव : सब के सब हरामख़ोर हैं। हमेशा इसी फ़िराक़ में रहेंगे कि किसी की शादी हो जाए, नहीं तो किसी का श्राद्ध ही हो जाए और बस मुफ़्त का खाना मिल जाए। बाक़ी समय भूखे मरते रहेंगे लेकिन ईमान की कमाई का मौक़ा आते ही लूट-ख़सोट की सोचने लगेंगे।

(मंच की दूसरी ओर, कुएँ के पास)

बालु : ज़रा उस तरफ़ ले लो... नहीं, नहीं इस तरफ़, तुम्हारे बाएँ।

सत्य : नीचे इतना अँधेरा है कि कुछ दिखाई ही नहीं देता। ज़रा टॉर्च ठीक से दिखाओ तो!

बालु : *(टॉर्च को पीछे से ठकठकाते हुए)* शायद 'सेल' ख़त्म हो रहे हैं। रुको, रुको... वही... वो उधर ही है, रस्सी के पास!

सत्य : बिल्ली दिखी?

बालु : हाँ-हाँ! एक काला-सा ढेला तैर रहा है। रस्सी के पास ही है। अब रस्सी ज़रा ढीली छोड़के हिलाके खींचो। *(सत्य वैसा ही करता है)* हाँ, बस अब टोकरी में आने ही वाली है।

सत्य : *(उत्साहित हो कर)* शायद टोकरी में आ गई है। रस्सी भारी लग रही है।

बालु : ज़रा होशियारी से खींचना, कहीं अधबीच ही न गिर जाए वरना सारी मेहनत बेकार जाएगी।

(सत्य रस्सी को आहिस्ता-आहिस्ता खींचता है।)

बालु : *(उत्तेजित हो कर)* दादी! पिताजी! बिल्ली टोकरी में आ गई।

(शामराव और वेंकम्मा अपना-अपना काम छोड़ कर कुएँ की ओर लपकते हैं और दम साध कर इंतज़ार करने लगते हैं। टोकरी से पानी निकलने की आवाज़ आती है। जब टोकरी ऊपर आती है तो उस में सिर्फ़ कुछ कचरा नज़र आता है।)

वेंकम्मा : *(निराश हो कर)* क्यों रे! तुम तो कह रहे थे कि बिल्ली फँस गई है!

सत्य : जब हम खींच रहे थे तो रस्सी भारी-भारी लगी थी, वेंकज्जी!

शामराव : भारी लगी तुम्हारा सिर! पानी पी-पी कर टोकरी भारी हो गई होगी!

वेंकम्मा : *(कुएँ में झाँक कर नाक बंद कर लेती है और मुँह बनाती है)* छिः, बदबू आ रही है। बिल्ली सड़ने लगी होगी।

सत्य : ठहरो बालू, ऐसे नहीं होगा। मैं अभी कहीं से पाताल-काँटा खोज कर लाता हूँ।

वेंकम्मा : पाताल काँटे में फँस कर तो बिल्ली के चिथड़े-चिथड़े हो जाएँगे। फिर पानी किस काम का रहेगा? कुआँ पुरवाना पड़ेगा।

शामराव : *(गुस्से में)* अच्छा, अब तुम यहाँ से हटते हो कि नहीं? सुबह से ही तुम लोगों ने अच्छा खेल बना रखा है! ये काम तुम्हारे बस का नहीं है।

वेंकम्मा : *(सत्य से)* देख सत्या! पाताल-काँटे का चक्कर छोड़! भगवान भला करे, तू गंगा कहार को ढूँढ ला। वो कुआँ साफ़ कर जाए तो मैं भी मंदिर में कथा सुन आऊँ।

सत्य : अब इस शाम के वक़्त गंगा कहाँ मिलेगा, वेंकज्जी। कल सुबह से पहले उस का नाम लेना बेकार है।

वेंकम्मा : देख, ज़रा नदी किनारे चक्कर लगा आ! कहीं मछली-फछली पकड़ता बैठा होगा। उस से कहना कि मैं ने बुलाया है, फ़ौरन आए! चाहे तो बालु को भी अपने साथ ले जा।

बालु : मैं बताऊँ वो कहाँ मिलेगा! लँगड़ा गधा खंडहर में। मछली बेच-बाच कर अब ताड़ीख़ाने में चढ़ा रहा होगा।

वेंकम्मा : अच्छा छोड़ो उसे! बच्चों का उधर जाना ठीक नहीं।

सत्य : ठहरिए, अभी देखते हैं!

(गेट पर आवाज़ सुनाई देती है।)

वेंकम्मा : देख, गेट की आवाज़ आई। शायद गंगा ही होगा।

(बालु गेट की ओर बढ़ता है और सत्य भी उस के साथ-साथ चल कर मंच से बाहर निकल जाता है।)

बालु : *(गेट पर)* कौन है भाई? *(गेट के खंभे के पीछे खड़े गुंडा को देख कर)* दादी, गुंडा गेट पर खड़ा इंतज़ार कर रहा है।

वेंकम्मा : कहाँ मर गया था अब तक? बोलो, अंदर आ कर घड़ा ले जाए।

गुंडा : *(सिर झुका कर, हिचकते हुए)* पै... से!

बालु : दादी, वो कोई पैसा माँग रहा है।

वेंकम्मा : कौन-सा पैसा, पूछो!

बालु : *(गुंडा से)* कौन-सा पैसा रे?

गुंडा : सुबह जो पानी ला कर दिया था न! उसी का।

वेंकम्मा : *(उठ कर गेट की तरफ़ बढ़ते हुए)* तुम्हारे पैसे कहाँ जाते हैं रे? सब इकट्ठे ही दे दूँगी। सूरज ढलने से पहले ज़रा दो-चार घड़े पानी और ले आ। सुबह तक काम चल जाएगा।

गुंडा : न... हीं! मेरा बाप डाँटता था कि इतने सस्ते में क्यों मान लिया? दिन भर में आठ आने बहुत कम हैं। बोला है, एक घड़े के आठ आने दें तो ठीक, नहीं तो वापिस आ जाना।

वेंकम्मा : हाय राम! माँगने की भी कोई हद होती है। तू जा कर पानी तो ला। मैं तेरी माँ को बुला कर ठीक हिसाब कर दूँगी।

(गुंडा सिल के लोढ़े की तरह खड़ा रहता है।)

वेंकम्मा : *(बड़े प्यार से)* तू तो बहुत अच्छा लड़का है। जा, दौड़ के ले आ। आज रात से भिक्षान्न में मुट्ठी भर भात ज़्यादा दूँगी। साथ में दाल-सब्ज़ी भी दे दूँगी।

गुंडा : मेरा बाप बोला था वो खाने-वाने का लालच दे कर काम कराएँगे। होशियार रहना।

(शामराव जो अख़बार देखते हुए सब कुछ सुन रहे हैं, गुस्से में उठ कर...)

शामराव : दो झापड़ रसीद करो और भगाओ इस गधे को यहाँ से।

वेंकम्मा : तुम चुप रहो, बेटा! उस को भगा दोगे तो क्या तुम पानी लाओगे! या मैं इस उमर में नदी से पानी भरके

लाऊँगी? अपने से जो काम न हो उस के लिए गधे के भी पाँव छूने पड़ते हैं।

गुंडा : *(रोते और कोसते हुए)* तुम्हारे दाल-भात के लिए कौन तरस रहा है? मेरी अठन्नी भी रख लो! उस से नया कुआँ खुदवा लेना!

बालु : *(गुंडा को भगा कर उसे खदेड़ते हुए)* दुबारा इस तरफ़ पैर रखा तो देखना।

(बालु गेट बंद करके लौटने लगता है। इसी बीच वेंकम्मा भी भीतर चली गई है। शामराव को कोई और काम नहीं सूझता, सो वह दुबारा अख़बार खोल कर बैठ जाता है। गेट के बाहर किसी के ठक-ठक करते हुए आने की आवाज़)

बालु : पिताजी, 'सिग्नल' हो गया। लँगड़े अय्यंगारजी आ रहे हैं।

शामराव : *(मुँह बिचकाते हुए)* अपने आप आए तो आने दो। तुम मत बुलाना! ऐसे बैठे रहो जैसे तुम ने उस को देखा ही नहीं। समझे!

(शामराव उस तरफ़ देखने से बचने के लिए अख़बार में मुँह छिपा कर बैठ जाता है। अळसिंगरु अपने आप गेट खोलता है, गेट बंद करता है और छड़ी के सहारे धीरे-धीरे अंदर आ जाता है। उस के हाथ में एक झोला है।)

अळसिंगरु : *(प्रसन्न भाव से)* हलो, शामराव! कैसे हो! क्या चल रहा है?

शामराव : *(शामराव लाचार हो कर चेहरे से अख़बार हटाता है)* यही सवाल तुम ने कल भी पूछा था। परसों भी पूछा था। बीस साल से तक़रीबन हर रोज़ शाम को तुम यही सवाल पूछते आ रहे हो। क्या तुम्हें जवाब देने के लिए हर रोज़ मुझ को एक नई क़िस्म का होना चाहिए?

अळसिंगरु : रोज़ाना अलग क़िस्म का होना तो मुमकिन ही नहीं। लेकिन आज तो सचमुच कुछ अलग दिख रहे हो। तुम्हारी आवाज़ से ही ये ज़ाहिर है। *(छड़ी को कुर्सी पर टाँग कर आराम से बैठते हुए अपने पैर ऊपर कर लेता है और अँगोछे से पसीना पोंछता है।)* श्री रंगनाथा. . . शेषशयना! *(आराम से)* हाँ वैसे ही चला आया। भगवान् श्रीरंगनाथ जी की आज्ञा हुई कि आज घर पर नवग्रह की शांति हो जाए! सब ठीक-ठाक निपट गया। प्रसाद पहुँचाने चला आया।

शामराव : तुम्हें काम ही क्या है! घर में बेटी और नाती के अलावा कोई है नहीं। करने के लिए कोई काम-धंधा है नहीं। वक़्त कटता नहीं। बस किसी न किसी बहाने हर शाम यहाँ आ धमकते हो।

अळसिंगरु : *(शर्मिन्दा हो कर हँसता है। झोले से चार छोटे-छोटे केलों का एक गुच्छा, दो-चार पत्ती तुलसी, कुमकुम की एक पुड़िया निकालता है; गुच्छे से एक केला तोड़ता है और दोनों हाथ जोड़ कर भक्तिभाव से शामराव को भेंट करता है।)* लो प्रसाद शिरोधार्य करो और मुँह में डालो।

शामराव : *(बिना किसी उत्साह के उसे ले कर मेज़ पर रखते हुए)* ये बंदर की उँगली देने के लिए इतनी दूर से अपना लँगड़ा पैर घसीट कर आने की क्या ज़रूरत थी? घर में अपने नाती को ही दे देते तो खुश हो जाता।

अळसिंगरु : *(बड़ी गंभीरता से)* शांतं पापम्। प्रसाद के बारे में ऐसे थोड़े ही बोलते हैं। बोलो, 'पाप मिटे!'

शामराव : अगली दफ़ा से पूड़ी-हलवा का नैवेद्य चढ़ा सको तभी पूजा करना। वरना यहाँ तक उस की ख़बर लाने की ज़ेहमत मत किया करो, समझे! *(खुद ही अपनी बात पर हँसता है।)*

अळसिंगरु : लो भाई बालू, ये प्रसाद अंदर पहुँचा दो। बोलना, इस अकिंचन के घर आज नवग्रह शांति की आज्ञा हुई थी। सब लोग ये प्रसाद ले लें। और सुनो, एक लोटा ठंडा गंगाजल भी लेते आना बेटा!

शामराव : वाह! सुबह से यहाँ हम पानी के लिए तरस रहे हैं और इन्हें गंगाजल चाहिए, और सो भी पूरा एक लोटा।

अळसिंगरु : क्यों भाई! पानी के लिए तुम क्यों तरसोगे? तुम्हें क्या हमारी तरह नदी से पानी लाना है? भगवतकृपा, घर में ही मीठे जल का कुआँ है! हाथ डालो और अंजुरी में पानी आ जाय!

शामराव : हमारे कुएँ की साँसत हम जानें!

(बालु एक गिलास में पानी ला कर देता है।)

शामराव : देख, जितना चाहिए उतना ही लेना... फ़ालतू मत फेंकना!

अळसिंगरु : *(गिलास उठा कर ऊपर से गट-गट करके पानी पी कर मुँह पोंछता हुआ)* श्री रंगनाथा. . . शेषशयना!. . . क्या हुआ आप के कुएँ को? क्या उस ने आ कर कह दिया कि 'बस अब थक गया; अब और पानी नहीं दे सकूँगा?'

शामराव : *(अपने आप को कुछ ढीला छोड़ते हुए)* हाँ, कुएँ ने खुद आ कर तो नहीं कहा, मगर बिल्ली के मार्फ़त कहला दिया।

अळसिंगरु : बिल्ली? बिल्ली के मार्फ़त? ये क्या पहेलियाँ बुझा रहे हो?

शामराव : *(बालु की ओर इशारा करते हुए)* उस से पूछो, वो बताएगा! आज सुबह-सुबह क्या हुआ...

बालु : *(पिता की कहानी को आगे बढ़ाते हुए)*... गहरा धुँधलका था। पेशाब करने के लिए मैं दरवाज़ा खोल कर बाहर आया। कुएँ की जगत पर एक काली धारीदार बिल्ली शिकार की ताक में बैठी थी। बिल्ली कुछ ऐसे बैठी थी कि ज़रा-सा पैर फिसलते ही कुएँ में गिर जाती। मैं ने उसे भगाने की कोशिश की, मगर वो धड़ाम से कुएँ में जा गिरी।

अळसिंगरु : *(ज़ोर से हँसते हुए)* कहानी बहुत अच्छी है।

बालु : कहानी क्यों?

अळसिंगरु : क्या कह रहे हो? बिल्ली कुएँ में कैसे गिरेगी? तुम ने खुद देखा क्या?

बालु : मैं ने खुद गिरने की आवाज़ सुनी है।

शामराव : सुबह उठे तो बालू ने सब बताया। कुएँ में झाँक कर देखा तो बिल्ली की लाश पानी में तैर रही थी।

अळसिंगरु : *(मानो किसी गुत्थी में उलझ गया हो)* क्या सचमुच उस की लाश तैर रही थी? आप लोगों ने ध्यान से देखा?

बालु : तैर रही थी क्या—अभी तैर रही है। एक काला-सा ढेला! चलिए आप को दिखाता हूँ।

(बालु अळसिंगरु को कुएँ पर ले जाता है। अळसिंगरु कुएँ के भीतर झाँक कर बालु से कुछ पूछता है। बालु उसे जवाब देता है। उन दोनों के अभिनय से प्रकट होता है कि बालु ने बिल्ली को भगाने के लिए कोई चीज़ फेंकी। अळसिंगरु दुबारा कुएँ में झाँकता है और ज़ोर से हँस पड़ता है और वापस लौट कर कुर्सी पर बैठ जाता है। बाहर गेट से 'बाबूजी! बाबूजी!' की व्यग्र पुकार सुनाई देती है।)

शामराव : बालू, बाहर जा कर देखो। वो कौन चिल्ला रहा है!

वेंकम्मा : *(जो शामराव से बात कर रही थी, अब बाहर आ कर)* इसी से सुबह से ही पानी की किल्लत है। लोटे-घड़े में कल जो पानी रखा था, वो ख़त्म हो गया। यहाँ तो आसपास सब कुओं का पानी खारा है। आज सुबह नंजुंडभट के लड़के गुंडा से कह कर नदी से दो बार दो-दो घड़े पानी मँगवाया था।

बालु : *(जो इस बीच गेट तक जा कर लौट आया है)* पिताजी, कोई मुवक्किल आया है। कहता है किरंगूर का है।

शामराव : इन सालों का कोई वक़्त नहीं है। उस से कल सुबह आने को कह दो!

अळसिंगरु : बेचारा, पता नहीं कौन है और किस आफ़त में है। बुला कर सुन क्यों नहीं लेते? दो मिनिट की बात है।

शामराव : हाँ हाँ, ये क्या कोई हनुमानजी की मढ़िया है कि जिस का जब मन हुआ, चले आए! *(बालु से)* वो सूरी कहाँ मर गया। उस से बोलो, वो जा कर उस से बात कर के दफ़ा करे। *(मुंशी सूर्यनारायण, जो कुछ लिख रहा है, उठ कर गेट की तरफ़ जाते हुए कहता है* 'कौन है भाई?')

शामराव : हाँ, तो मैं क्या कह रहा था? आठ आने की मजूरी पर मान गया था, पर अभी-अभी एक घड़े के लिए—एक घड़े के लिए—आठ आने माँगने लगा और झगड़ कर चला गया। देखा, इन लोगों का घमंड!

सूरी : *(गेट की तरफ़ से आते हुए)* किरंगूर के साहूकार पापय्याजी आए हैं।

शामराव : क्या झमेला है उन का?

सूरी : उन के कहने से लगता है कि गाँव में मुखिया तम्मेगौड़ा के बेटे का क़तल हो गया है... शायद क्रिमिनल केस है।

शामराव : *(उत्तेजित और सीधे हो कर बैठते हुए)* क्या, क़त्ल का मामला? अंदर बुला लो!

(गाँव के दो आदमी अंदर आते हैं। साहूकार पापय्या देसावरी-दिखावटी हँसी हँसते हुए सिर झुका कर नमस्कार करता है, और उन का लठैत ज़मीन तक झुक कर नमस्कार करता है।)

पापय्या : प्रणाम करता हूँ बाबूजी! आप अच्छे तो हैं!

शामराव : क्या भाई! क्या समाचार है! ये क़त्ल-वत्ल क्या है?

पापय्या : गाँव में बड़ी गड़बड़ हो गई है बाबूजी! *(शामराव के सामने ज़मीन पर पालथी मार कर बैठता है, दाएँ-बाएँ सतर्क नज़र डालता है और धीमी आवाज़ में बताने लगता है।)* आज भोर में ही जब गाँव की औरतें बड़े कुएँ पर पानी लेने गईं तो देखा वहाँ पानी में लाश तैर रही है, और वे चिल्ला पड़ीं। लोग जमा हो गए और पुलिस तक शिकायत गई। पुलिस वालों ने आ कर लाश निकाली।

अळसिंगरु : *(व्यंग की हँसी हँसते हुए)* मज़ा तो ये है! सारे कुओं पर एक साथ आफ़त आ गई!

(शामराव झुँझला कर इशारे से अळसिंगरु को टोकने से मना करता है। अळसिंगरु चुप हो जाता है।)

पापय्या : तब तक पता चला कि मुखियाजी का लड़का जो आधी रात को घर से निकल गया था और वो सुबह तक नहीं लौटा था। जब लाश निकली तो देखा कि वो उसी की है।

शामराव : इस में क़त्ल कहाँ है?

पापय्या : *(सिर झुका कर ज़मीन ताकते हुए)* पता नहीं मुखिया ने पुलिस से क्या साँठ-गाँठ की! अब मेरे बेटे पर ये इल्ज़ाम लगा कर कि उस ने गला घोंट कर उस लड़के को कुएँ में फेंक दिया, पुलिस उसे पकड़ कर ले गई।

लठैत : सुबह से हवेली में किसी ने पानी तक नहीं छुआ है। बच्चे और औरतें धाड़ें मार-मार कर रो रही हैं, जैसे साहूकार के बेटे का ही ख़ून हो गया हो... *(अळसिंगरु ठठा कर हँस पड़ता है।)*

पापय्या : हुज़ूर उस को छुड़वाया जाए! घर का बड़ा लड़का है। *(उठ कर अंदर की जेब से नोटों का एक बंडल निकाल कर विनम्रतापूर्वक शामराव के सामने रखता है। मुंशी सूर्यनारायण सामने आ कर नोट गिन कर)* 'पाँच सौ हैं, साहब,' *कह कर पीछे हट जाता है।)*

शामराव : *(नोट के बंडल से खेलते हुए)* हाँ, अब बताओ! तुम्हारे लड़के ने क़त्ल किया है क्या?

पापय्या : कहाँ साहब! कहाँ वो, कहाँ क़त्ल।

शामराव : देख पापय्या! ये सच है कि झूठ गढ़े बग़ैर कोई क्रिमिनल केस जीत नहीं सकते! मगर झूठ गढ़ने से पहले ये साफ़-साफ़ जान लेना चाहिए कि सच क्या है।

(पापय्या बिना कुछ बोले दुविधा में सिर झुकाए बैठा है।)

शामराव : तुम्हारे लड़के और मुखिया के लड़के के बीच कोई अदावत थी क्या?

पापय्या : अदावत तो नहीं, लेकिन दोनों में पटती नहीं थी।

शामराव : वजह?

पापय्या : *(धीमे स्वर में)* वो रंडी गंगासानी की लड़की चंद्री है न—वो पिछले महीने सयानी हो गई। तब से ये दोनों मैं कि वो करके उस के पीछे पड़े थे।

अळसिंगरु : लड़की सयानी होने की ख़बर साहूकारजी तक कैसे पहुँच गई!

पापय्या : *(अळसिंगरु की टिप्पणी को अनसुना करते हुए)* लफंगे लौंडे हैं हुज़ूर! हम कमाने वाले कमा-कमा कर ढेर लगा चुके हैं। इन को थोड़े ही कमाना है! सिर्फ़ उड़ाना ही इन का काम है। सब उमर का तक़ाज़ा है।

शामराव : रात को तुम्हारा लड़का कहाँ था?

पापय्या : घर में ही था।

शामराव : बीच में कहीं गया नहीं था?

पापय्या : गया भी हो तो पेशाब के लिए गया होगा।

शामराव : कब गया, कब लौटा, कितनी देर पेशाब की?

(अळसिंगरु हँसता है। पापय्या निरुत्तर चुप रहता है।)

शामराव : चलो, समझ लिया... जब पुलिस ने तुम्हारे लड़के को पकड़ा, तब वो कहाँ था?

पापय्या : कुएँ से लाश निकाल कर मुआयने के बाद सीधे घर पर आ गए और पूछा कहाँ है तुम्हारा लौंडा? तब तक हमें भी उस का अता-पता नहीं था। लड़का घबरा कर अपने कमरे में छिप गया था।

शामराव : बहू?

पापय्या : वो भी उसी के साथ थी।

शामराव : *(एक क्षण सोच कर संतोष से सिर हिलाते हुए)* उम्दा!

पापय्या : हम ने कहा वो सो रहा है। पुलिस ने उस के कमरे का दरवाज़ा खड़खड़ाया। बहू ने ही आ कर दरवाज़ा खोला। पीछे से ये आया। पकड़ कर ले गए। हम ने बहुतेरा कहा पर उन्होंने एक भी नहीं सुनी।

शामराव : पुलिस ने क्या पूछा और उस ने क्या जवाब दिया?

पापय्या : वैसे मुँह खोलने वाला नहीं है साहब! बड़ा ज़िद्दी है। बिलकुल अपनी माँ पर गया है।

शामराव : क्या रात को गाँव में किसी ने दोनों लड़कों को साथ-साथ देखा है?

पापय्या : पुलिस वालों ने एक-एक को बुला कर पूछताछ की थी। किस्मत से किसी ने नहीं देखा था। इस पूस-माघ की ठंड में रात को कौन बाहर निकलता है! सूरज ढलते ही रोटी खा कर सब अपने-अपने बिस्तर की तरफ़ भागते हैं। मुखिया ने अगर किसी से मस्लहत करके ये कहलवा दिया कि दोनों को साथ-साथ देखा था तो बस भगवान ही मालिक है!

शामराव : *(अळसिंगरु की तरफ़ मुड़ कर)* कल क्या दिन था, भाई?

अळसिंगरु : कल?... आज बीस है, कल उन्नीस थी।

शामराव : तुम्हारा सिर! मैं ने तारीख़ नहीं पूछी। तारीख़ पूछना होता तो सूरी से पूछता। मैं ने पूछा—तिथि कौन-सी थी?

अळसिंगरु : ओ... तिथि? अमावस्या!

शामराव : *(ज़रा सोच कर तृप्त हँसी हँसते हुए)* 'गुड!' *(साहूकार के नोटों के बंडल को मेज़ पर से उठाते हुए बालु से कहता है।)* बालू, इस को होशियारी से भीतर रख आओ!

(साहूकार को यक़ीन हो जाता है कि वकील साहब ने केस अपने हाथ में ले लिया है, और जब हाथ में ले लिया है तो जीतेगा ही। यह महसूस कर कृतज्ञता से हाथ जोड़ता है।)

शामराव : *(पापय्या से)* पापय्या, अच्छा अब सुनो! अब तक तुम ने जो कुछ कहा वो सब भूल जाओ। ख़बरदार! वो सब झूठ है। सच्चाई क्या है यह कोर्ट में मैं साबित करूँगा। *(साहूकार फिर से कृतज्ञतापूर्वक प्रणाम करता है।)* सूर्यनारायण!

सूरी : साहब!

शामराव : तुम ऐसे ही थाने तक हो आओ और वकील साहब ने केस ले लिया है यह बात इंस्पेक्टर के कान में पड़ जानी चाहिए। पीछे-पीछे साहूकार भी आएँगे। वो अपने बेटे को देखेंगे और उसे ताक़ीद कर देंगे कि मेरे हाँ कहने से पहले वो किसी के भी सामने मुँह नहीं खोले। पुलिस कुछ पूछे तो कह दे कि जा कर मेरे वकील से बात करें।... देख पापय्या! एक बात और! घर लौटते ही बहू को सँभाल लेना। वो बाहर किसी से भी न तो मिले, न बात करे! पूरी रात कमरे में लगातार पति के साथ थी—बस यही वो खुद से भी कहे और दूसरों से भी। नहीं तो समझ ले कि वो विधवा हो गई! *(साहूकार सिर हिलाता है और शामराव को प्रणाम करके लठैत के साथ सूर्यनारायण के पीछे-पीछे बाहर निकलता है।)*

शामराव : *(खुशी से, मानो केस जीत लिया हो!)* 'इट इज़ ए चैलेंजिंग केस!'

अळसिंगरु : साहूकार की बात सुनते हुए मुझे तो यक़ीन नहीं आता कि उस का बेटा मुजरिम नहीं है।

शामराव : 'सिल्ली!' ऐसे मामलात में यक़ीन को ले कर क्या करना है? 'एविडेंस' ही 'इंपॉर्टेंट' है।

अळसिंगरु : मतलब?

शामराव : जब तक ये साबित न हो कि मुल्ज़िम मुजरिम है तब तक वो निरपराध है। रात गाँव में मुखिया के बेटे के साथ साहूकार के बेटे को किसी ने नहीं देखा। देखा हो तो भी रात अमावस की थी। अँधेरे में जो साथ था वो साहूकार का ही बेटा था, भला ये कौन कह सकता है? इस के अलावा, जब पुलिस ने साहूकार के बेटे को गिरफ़्तार किया, तब सोया हुआ आदमी उठ कर दरवाज़ा खोल कर बाहर निकला था। उस की औरत उस के साथ थी। रात को वो बाहर निकला था या नहीं ये कौन बतलाएगा? उसी की बीवी न? पति के विरुद्ध गवाही देने के लिए कोई भी पत्नी को मजबूर नहीं कर सकता। इस का मतलब, वो घर में ही था और उस ने क़त्ल नहीं किया। एक बात और... पानी से जो लाश निकली उस पर किसी के हाथ के या उँगलियों के निशान जैसे अप्रत्यक्ष प्रमाण रह नहीं सकते।

अळसिंगरु : तब क़त्ल किस ने किया?

शामराव : *(हँसते हुए)* पुलिस पता लगाए, या फिर सरकारी वकील हम से ज़्यादा दिमाग़दार बने! या फिर कौन जाने, यह क़त्ल है या नहीं? खुदकुशी की होगी!

अळसिंगरु : उस के लिए भी तो वज़ह चाहिए।

शामराव : वज़ह क्या—सो तो हज़ारों मिल सकती हैं। संयुक्त परिवार में तनातनी तो रहती ही है। यही वज़ह

है—ये तो हम कटघरे में उन के माँ-बाप के मुँह से कहलवा देंगे। *(अळसिंगरु शामराव की तरफ़ अवाक् देखता रह जाता है।)*

वेंकम्मा : *(अंदर से आते हुए)* ये क्या है बेटे! घर के सुख-दुख भूल कर बातों में रम गए! कुएँ का क्या किया? कोई मुवक्किल आया था न! क्या उन में से कोई कुएँ में उतरना नहीं जानता था?

शामराव : मैं भूल ही गया। तुम भी तो याद दिला सकते थे, अळसिंगरू!

अळसिंगरु : *(जैसे जानबूझ कर याद न दिलाया हो, ऐसी हँसी हँस कर)* मुझे क्या पता! मैं ने सोचा कि कुएँ से बिल्ली निकलवाने का इंतज़ाम तो हो ही गया होगा!

शामराव : हो तो गया है।

अळसिंगरु : *(किंचित् हतप्रभ होते हुए, पर यह भाव छिपाते हुए)* क्या? इंतज़ाम हो गया?

शामराव : हो गया का मतलब हुआ था, अभी नहीं है। सुबह गंगा कहार को बुलवाया था। वो सुबह पैसे तय करके और 'अभी सामान लाता हूँ' कह कर गया था। अभी तक लेकिन लौटा नहीं।

वेंकम्मा : पहले जब एक-दो बार लोटा-घड़ा वग़ैरह गिरे थे तो उस ने निकाल दिए थे। ईमानवाला है। पता नहीं इस बार क्यों ऐसा किया? इधर आसपास और किसी को कुएँ में उतरना शायद आता ही नहीं है।

शामराव : कोई बड़ा शहर होता तो बात ही दूसरी थी। एक फ़ोन करने की देर थी—'फ़ायर ब्रिगेड' आती और एक सेकेंड में मामला निपटा कर चली जाती।

वेंकम्मा : बिल्ली निकालने के बाद भी कुएँ का पानी कैसे पिएँगे, पता नहीं! बिल्ली मर कर सड़ गई होगी। बदबू आ रही होगी।

अळसिंगरु : अम्मा, अब आप इस में सिर मत खपाइए! एक धड़ी चूना मँगा कर कुएँ में डलवा दीजिए। दो दिन पड़ा रहने दीजिए। फिर पंडितजी को बुला कर पुण्य-आवर्चन करा दीजिए। शुरू में एक दो दिन सहना मुश्किल होगा। फिर तो आदत पड़ जाएगी और आप भूल भी जाएँगी।

वेंकम्मा : हाँ, वो भी सही है।

शामराव : ये सब बाद की बात है। अब सवाल ये है कि गंगा कब आएगा। आएगा भी या नहीं? तब तक पानी के लिए क्या करें?

वेंकम्मा : *(असहाय भाव से)* जो होगा सो होगा! *(उठ कर अंदर चली जाती है।)*

अळसिंगरु : देखो शामराव! अगर कुएँ में बिल्ली गिर पड़े तो, या उस बिल्ली को निकालने के लिए गंगा कहार न मिले तो, या नदी से पानी लाने के वास्ते गुंडा न मिले तो—तो क्या तुम पानी पीना छोड़ दोगे? क्या तुम जीना बंद कर दोगे? ज़िन्दगी तो इन्हीं सब से है।

शामराव : उपदेश देना आसान है, उपाय करना कठिन।

अळसिंगरु : उपाय क्या? ऐसी नौबत आने पर खुद जा कर नदी से पानी भर लाना चाहिए। कुछ नहीं तो एक दफ़ा नदी को देखने का ही मौक़ा मिलेगा। या कुएँ में उतर कर बिल्ली को खुद निकालना चाहिए। एक बार कुएँ की गहराई जानने का मौक़ा तो मिलेगा।

शामराव : बस बस। गोल-मोल बातें करना आसान है। तुम्हारे घर के कुएँ में बिल्ली गिरती तो तुम खुद उसे निकाल लेते?

अळसिंगरु : बिल्ली के गिरने के लिए मेरे घर में कुआँ ही कहाँ है भाई! *(हँसता है)* हाँ, अगर कुआँ होता और उस में बिल्ली गिर जाती तो मैं ज़रूर खद कएँ में उतर कर बिल्ली निकाल देता। इतना ही नहीं, अगर तुम

चुनौती देते हो तो देखो मैं तुम्हारे कुएँ में उतर कर बिल्ली निकालता हूँ या नहीं।

शामराव : *(उत्साहित हो कर, दिलचस्पी के साथ)* क्या तुम कुएँ में उतर सकते हो? क्या तुम यह काम भी जानते हो?

अळसिंगरु : पूछो तो सही, मैं क्या नहीं जानता? तुम्हारा कुआँ कितना गहरा है?

शामराव : क्या है! बस यही कोई 20-25 फ़ुट होगा।

अळसिंगरु : बस इतना ही! जिन कुओं में मुझे उतरने की आदत है, वो 50-60 फ़ुट से कम नहीं होते थे।

शामराव : *(बैठे-बैठे, मगर उत्साहित स्वर में)* माँ, सुना तुम ने! अळसिंगरू कुएँ में उतरना भी जानता है। कहता है खुद उतर कर बिल्ली निकाल देगा. . . तुम तो पूरे उस्ताद हो भाई!

अळसिंगरु : देख शामराव! भगवान ने मुझे पैदा करते समय तुम्हारी तरह चाँदी की लुटिया मुँह में नहीं दी थी। तुम तो सब जानते ही हो। कोई नई बात तो है नहीं! मेरे बाप-दादा दस पीढ़ियों से वेदों का पाठ-पारायण और मंदिर में पूजा करते आ रहे हैं। लौकिक दृष्टि से वे कभी इस से ऊपर नहीं उठे। पता नहीं क्यों, मेरे पिताजी मुझे बड़ा आदमी बना कर खुश होना चाहते थे। मुझे कोंच-कोंच कर पढ़ाया। वकालत की परीक्षा दिलाई। अब उन का भाग्य था कि मेरा दुर्भाग्य, मैं पास भी हो गया। घर के आगे एक बोर्ड भी लटकने लगा। शुरू-शुरू में दो-चार जुज़्वी मामले भी आ जाते थे। आते क्या थे, पिताजी खुद जा कर पकड़ कर ले आते थे। घर के सामने बोर्ड को देख कर और मुवक्किलों का छोटा-मोटा ताँता लगवा कर खुश हो लेते थे। लेकिन घर-गिरस्ती उन्हीं के पैसे से, अर्थात् आरती की थाली के पैसों से ही चलती थी। पिताजी ने मुझे अपने सपनों का शिकार न बना दिया होता तो मैं भी मंदिर का पुजारी बन कर हर महीने दस-बीस रुपए की तनख़्वाह और रोज़ाना चार-आठ आने की दक्षिणा कमा कर ला सकता था। अब ये भी नहीं, वो भी नहीं। ऐसी हालत में इज़्ज़त से जीने के लिए कुछ न कुछ काम तो ढूँढना ही पड़ेगा। है कि नहीं?

शामराव : सो तो सही है। लेकिन हर कोई हर किसी काम में तो हाथ नहीं लगा सकता।

अळसिंगरु : लगाना ही पड़ेगा भाई, लगाना ही पड़ेगा! अकेले सिर को फ़ुटबॉल की तरह लुढ़काते रहे तो कैसे चलेगा? चलने के लिए पैर भी चाहिए कि नहीं? आदमी हो तो हर काम के लिए तैयार रहो! हाथ में पुस्तक हो और अध्ययन-वाद-तर्क-चिन्तन के लिए बैठे हो, तो ब्राह्मण बनो। काम निपटाना हो तो हम्माल बनो, मोची भी बनो। दिमाग़ और शरीर, जब तक ये एक दूसरे से पूरी तरह नहीं मिलते, तब तक पुरुष पूर्ण कैसे होगा? उदाहरण के लिए, तुम जानते ही हो, मैं क्या-क्या करता रहता हूँ। घर की खपरैल बिछाता हूँ; रंग-रोग़न करता हूँ; जो लोग अपने इस 'महानगर' के मंदिर और नदी देखने आते हैं उन के लिए 'गाइड' बन जाता हूँ, छोटी-मोटी बीमारियों की दवा-दारू देता हूँ. . .

बालु : *(जो अळसिंगरु की बातें उत्साह से सुन रहा है)* जी, आप तो नारियल के पेड़ पर चढ़ना भी जानते हैं न?

अळसिंगरु : तू ने कब देखा रे!

शामराव : *(व्यंग से)* और फिर दशहरे में बच्चों को बटोर कर रामलीला जो कराते हो?

अळसिंगरु : *(ज़रा लज्जा से)* अरे हाँ, वो तो मैं भूल ही गया था।

बालु : *(जो ये सब उँगलियों पर गिन रहा है)* छह हो गए! दो और बता दीजिए, कहावत पूरी हो जाएगी।

वेंकम्मा : कौन-सी कहावत रे?

बालु : वही! कहते हैं न, किसी-किसी की आठ चाल!

अळसिंगरु : *(प्यार से बालु के सिर पर हाथ फेरता है)* और नाटे की?

बालु : *(उठ कर गाने और नाचने लगता है)*

लँगड़े की आठ चाल
नाटे की हज़ार—
और जो लँगड़ा भी,
और जो नाटा भी
उन की, उन की, उन की कितनी चाल?
कितनी चाल?

(सब हँसते हैं।)

वेंकम्मा : *(बालु को डाँट कर)* चुप, बहुत हो गया! छोटे-बड़े का कुछ भी ख़याल नहीं है तुम को!

अळसिंगरु : बच्चे हैं, अम्मा! बचपन तो ऐसा ही होना चाहिए।

(वेंकम्मा भीतर चली जाती है।)

शामराव : हाँ, कुएँ में उतरने की बात हो रही थी न! उस का क्या हुआ?

अळसिंगरु : बात क्या! तुम हाँ करो! बाज़ी लगा लो। मैं उतर कर दिखा दूँगा। बोलो, क्या दोगे? बीस रुपए? उतरने में अगर मैं सफल नहीं हुआ तो मैं तुम्हें बीस दूँगा। मंज़ूर?

शामराव : सिर्फ़ उतरना ही नहीं, उतर कर बिल्ली भी निकालना है!

अळसिंगरु : हाँ, हाँ, उसी के लिए उतर रहे हैं न?

शामराव : *(समस्या का समाधान होते देख अपने हाथ की घड़ी देखते हुए)* बालू, चाय तैयार हो तो ले आ, दोनों के लिए!

अळसिंगरु : बा. . .लू! *(उसे रोकने के लिए मुँह खोलता है।)*

शामराव : उसे पता है! तुम्हारे प्याले में चीनी चार चम्मच होगी!

(दोनों हँसते हैं। बालु भीतर जाता है।)

शामराव : ख़ैर! तुम ने कुएँ में उतरना कब सीखा?

अळसिंगरु : वो भी एक मज़ेदार क़िस्सा है। बचपन में हम रहते थे मेल्कोटे में। हमारे घर के पिछवाड़े भी एक कुआँ होता था। घर में एक बुढ़िया दादी थी—मेरे पिताजी की परदादी। उमर कुछ नहीं तो 90 साल होगी! दोनों आँखों से अंधी। तुम जानते हो न! हम वैष्णवों में छुआछूत कुछ ज़्यादा ही है। बूढ़ी दादी को हमेशा कुएँ का ही पानी चाहिए। सो भी खुद अपने हाथ से खींचा हुआ। मगर वो कभी भी लोटे का फंदा कस नहीं पाती थी। रस्सी छोड़ते ही लोटा कुएँ में! चाहे जितना कहो, बुढ़िया दादी सुनने को तैयार नहीं। खाना-पीना छोड़ देगी! कुएँ के पास बैठ जाएगी! रोने लगेगी! जैसे यहाँ एक गंगा कहार है, वैसे ही हमारे गाँव में भी एक मंगा कहार था। शुरू-शुरू में हम उसे बुलवा कर लोटा निकलवाते रहते थे, लेकिन आख़िर कब तक. . .! दादी की ये परेशानी देख-देख कर आख़िर मैं ने खुद ही कुएँ में उतरना सीख लिया।

शामराव : क्या तुम ने अपने आप ये सीख लिया?

(चाय आती है। दोनों पीने लगते हैं।)

अळसिंगरु : और क्या! कोशिश करने से क्या नहीं होता, शामी! शुरू-शुरू में कुछ दिक़्क़त तो हुई, पर फिर तो मैं दिन में दो-दो चार-चार बार उतरने लगा। होते-होते कुआँ मानो मेरा दूसरा घर ही हो गया। तब मैं बहुत कम उम्र का था। घर भी छोटा था। जन्माष्टमी पर जब घर में लड्डू-वड़ा जैसे पकवान बनते थे, तो चुरा कर

खाने के लिए कोई जगह ही नहीं थी। सो मैं धोती की अंटी में पकवान बाँध कर दादी से कहता, क्यों दादी, कुएँ में अभी तक लोटा नहीं गिरा क्या? और ये कह कर कुएँ में उतर लेता था और आराम से वहीं बैठ कर खाता था।

शामराव : *(स्पष्ट रूप से शंका प्रकट करते हुए)* क्या, बैठ लेते थे? कुएँ में?

अळसिंगरु : *(मानो फँसाव से निकलने की कोशिश में)* हाँ, हाँ! हाँ तो. . . मैं क्या कह रहा था? हाँ, उधर कुएँ के भीतर गर्मी में कितना ठंडा रहता है, जानते हो? चारों ओर सूराख़ों से पानी आ-आ कर गिरता रहता है। सुनने में वो आवाज़ कितनी मधुर होती है। गुड्ड-गुड्ड गुड्ड-गुड्ड. . . ऊपर से काई का रंग पन्ने जैसा हरा! वो एक अलग अद्‌भुत ही लोक है। कहो तो तुम्हें भी मैं कुएँ में उतरना सिखा दूँ।

शामराव : *(हँसते हुए)* बस भाई, बस! तुम ने तो सीख लिया न? तुम सीखो या मैं, बात एक ही है।

अळसिंगरु : अच्छा तो उठो! *(दोनों कुएँ के पास जाते हैं।)*

शामराव : कुएँ में उतरने के लिए तुम्हें क्या-क्या सामान-सरंजाम चाहिए?

अळसिंगरु : सामान-सरंजाम क्या? दिमाग़ ठंडा हो, हाथ-पाँव मज़बूत हों, छाती पक्की हो. . .

शामराव : सो तो है ही भाई! क्या तुम इसी धोती में उतरोगे?

अळसिंगरु : क्यों? अंदर है न हनुमानजी का वज्र कवच—कच्छा!

शामराव : *(धीमी आवाज़ में)* क्या कह रहे हो? यहाँ छोटे-छोटे बच्चे घूमते रहते हैं। ठहरो, मैं तुम्हें एक कपड़ा मँगा देता हूँ। सुनो बालू! अंदर जा कर दादी से कोई एक पुरानी धोती ले आओ। *(बालु अंदर जाता है)* पर एक सवाल है अळसिंगरु! ऊपर आने पर उस मरी हुई बिल्ली का निपटारा कैसे होगा?

अळसिंगरु : तुम्हारे लिए तो हर चीज़ एक बड़ी समस्या बन जाती है। क्या इस गाँव में कोई बिल्ली-कुत्ता मरता ही नहीं? इतना बड़ा कंपाउंड है, कहीं एक कोने में पड़ी रहेगी। कल सुबह जमादार आएगा तब उसे एक चवन्नी थमा देना। वो उसे गाँव के बाहर फेंक आएगा।

(बालु एक धोती का टुकड़ा ला कर देता है। अळसिंगरु उसी जगह अपनी धोती खोल कर उस टुकड़े को पहनने लगता है।)

शामराव : नहीं नहीं! इधर रस्ते में आने-जाने वालों के सामने नहीं। उधर उस पेड़ के पीछे!

अळसिंगरु : देख शामी! जब तक तुम ऐसी कृत्रिम मर्यादाओं से चिपके रहोगे, तब तक किसी समस्या को सुलझा नहीं पाओगे। *(हँसता है और पेड़ के पीछे चला जाता है।)*

शामराव : *(थोड़ा रुक कर)* वैसे सोच रहा था—उस मरी हुई बिल्ली को कल तक घर में रखने की बजाय अगर सुबह ही उसे निकलवाएँ तो कैसा रहे?

अळसिंगरु : *(चिंतित हो जाता है)* तुम्हें कुएँ में उतरने की कला दिखा कर, बाज़ी जीत कर जाने की मैं ने पूरी तैयारी कर ली है। अब तुम्हारा हिचकिचाना ठीक नहीं है। *(ज़रा सोच कर)* तुम्हें बिल्ली के निपटारे की फ़िक्र है न? ठीक है। वो मेरे ऊपर छोड़ दो। फावड़ा कहाँ है, बताओ। मैं वहाँ मीठे नीम के पेड़ के पीछे गड्ढा खोद कर उसे दफ़ना कर जाऊँगा। कहो तो दो-चार मंत्र भी पढ़ दूँगा। दुनिया में पैदा हुई किसी भी बिल्ली का इस तरह का संस्कार नहीं हुआ होगा!

वेंकम्मा : आप लोग और कहीं चाहे जो करें, मेरे मीठे नीम को मत छूना।

(बात करते-करते अळसिंगरु कुएँ पर आ कर भीतर झाँकता है। कुर्सी से उठा है तभी से उस का झोला उस के हाथ में ही है, जिसे उस ने सिर्फ़ धोती बदलते समय ज़रा देर नीचे रखा था।)

शामराव :अरे भाई, उस थैले में क्या ख़ज़ाना छिपा रखा है जो उसे लिए-लिए फिर रहे हो। उसे मेज़ पर ही रख दिया होता!

अळसिंगरु : नहीं, नहीं, ये तुम्हारे हाथ में ही रहे! *(अळसिंगरु शामराव को झोला पकड़ा देता है। फिर कुएँ में ज़रा-सा झाँक कर, कुछ डरी-सी आवाज़ में)* शामी, तुम तो कहते थे कुआँ 20-25 फ़ुट गहरा है। पर ये तो 50 से कम नहीं है! ऊपर से मुँह इतना सँकरा और अँधेरा घुप्प है।

शामराव : क्यों महाशय! काँपने लगे न पाँव! क्या नीचे उतरने के बाद ऊपर आना असंभव लगता है?

अळसिंगरु : छिः! अपशकुन! बोलो, 'पाप मिटे!'

(अळसिंगरु क़मीज़ निकाल कर, धोती को कच्छे की तरह कस कर, एक बार अपनी चोटी झाड़ कर उसे फिर से बाँधता है। कुएँ के सामने खड़ा हो कर आँख मूँद कर कुछ देर ध्यान की मुद्रा में रहता है और फिर यह श्लोक पढ़ता है :

ओम् आपदाम् अपहर्त्तारम् दातारम् सर्व संपदाम्।
लोकाभिरामम् श्रीरामम् भूयो भूयो नमाम्यहम्।।

आर्त्तानाम् अर्त्तिहंतारम् भीतानाम् भीतिनाशनम्।
द्विषताम् कालदण्डम् तम् रामचंद्रम् नमाम्यहम्।।

(कुएँ को छू कर आँखों और मस्तक को छूता है। रस्सी से बँधी टोकरी को खोल कर, 'इस टोकरी से बाल्टी ही बेहतर होगी'—यह कह कर बालु से बाल्टी मँगाता है। इसे रस्सी के सिरे से बाँधता है। फिर 'श्रीरंगनाथा. . . शेषशयना' कहते हुए काफ़ी मुश्किल से कुएँ की जगत पर चढ़ता है। रस्सी का दूसरा सिरा गिर्री की ऊपरी सिल पर कस कर बाँधता है। उस का पैर काँप रहा है। लँगड़े पैर पर ज़ोर पड़ने से उस के चेहरे पर दर्द स्पष्ट है। उसी समय सत्य भी उधर आ जाता है।)

सत्य : वेंकज्जी! पाताल-काँटा नहीं मिला।

अळसिंगरु : क्यों भाई शामी! ये बाज़ी तो पक्की है न? पीछे तो नहीं हटोगे? मैं कुएँ में उतर कर दिखा दूँ तो तुम बीस रुपए दोगे, ये तय है न?

शामराव : सिर्फ़ उतर कर दिखाने के लिए नहीं, उतर कर बिल्ली निकालने के लिए।

अळसिंगरु : हाँ, हाँ, वही! . . .मान लो मुझे कुछ हो जाए। वैसे होगा नहीं, फिर भी अगर हुआ तो. . . जैसा कि हम वकील लोग अपनी भाषा में कहते हैं, मेरे वारिसों और हक़दारों को ये पैसा मिल जाएगा न? मेरे वारिस तो दो ही हैं—मेरी बेटी और मेरा नाती। हाँ! सत्या, तुम ठीक मौक़े पर आ गए। देखो सत्या, रस्सी पर एक हाथ रखे रहना। कभी-कभी वज़न के कारण गाँठ खुल जाने का ख़तरा रहता है। और बालू, तुम गाँठ पर नज़र रखे रहो। ढीली होने लगे तो सत्या को आगाह कर दो। *(अब रस्सी पकड़ कर आहिस्ता-आहिस्ता कुएँ में उतरने लगता है। सब लोग कुएँ को चारों ओर से घेर कर आश्चर्य और कौतुक से देख रहे हैं।)*

अळसिंगरु : *(कुएँ के भीतर से)* बालू! सत्या! रस्सी पर नज़र है न?

सत्या : *(उपहास भरी ऊँची आवाज़ में)* आप उस की फ़िकर छोड़ दीजिए पंडितजी! बस उतरते जाइए!

(कुछ देर बाद कुएँ से धम्म की आवाज़ आती है।)

बालु : देख कुछ आवाज़ आई! शायद कुछ टकराया है।

शामराव : *(कुएँ में झाँकता है)* क्या हुआ अळसिंगरू? सब ठीक है न?

(कुएँ से कोई जवाब नहीं आता। शामराव घबड़ा जाता है। चिन्ता के साथ ज़ोर से 'अळसिंगरू! अळसिंगरू!' पुकारता है। तब भी कोई जवाब नहीं आता। सब एक-दूसरे का मुँह ताकने लगते हैं।)

वेंकम्मा : *(धीरे से)* यह जानते हुए भी कि अळसिंगरू का एक पैर ठीक नहीं है, हम ने उसे कुएँ में उतर जाने दिया। लगता है हम ने बड़ी ग़लती कर दी।

शामराव : *(उसी तरह चिन्ता के साथ)* हाँ माँ! पता नहीं क्या होगा! भगवान ही मालिक है। एक तो हमारी परेशानी, ऊपर से उस का पागल उत्साह! बिना सोचे-समझे उस को उतर जाने दिया! मुझे भी डर लग रहा है। *(ज़ोर से)* अळसिंगरू! क्या हुआ अळसिंगरू? जवाब क्यों नहीं दे रहे हो?

अळसिंगरु : *(कुछ देर के बाद कुएँ के अंदर से)* कुछ नहीं। दीवार में ठीक आला नहीं मिला। इस से पैर ज़रा फिसल गया था। अब सब ठीक है। आप लोग फ़िकर न करें।

वेंकम्मा और शामराव : *(एक साथ)* बाप रे!

बालु : शायद बहुत मुश्किल हो रही होगी?

सत्य : देखो, साँस लेने की कैसी आवाज़ आ रही है।

(कुछ क्षण बाद)

बालु : पानी ज़ोर-ज़ोर से हिल रहा है। तलहटी में पहुँच गए होंगे।

अळसिंगरु : *(कुएँ के भीतर से)* शामी, तुम्हारा काम हो गया! अब कोई फ़िकर नहीं।

सत्य : रस्सी तन रही है। शायद ऊपर चढ़ने लगे हैं।

(कुछ देर बाद कुएँ के मुँह पर रस्सी से लटका हुआ अळसिंगरु दिखाई देता है। उस का बदन भीगा हुआ है और पानी चू रहा है। शरीर पर कहीं-कहीं हरी काई चिपकी हुई है। बड़ी मुश्किल से जगत पर पैर रख कर बाहर निकलता है। ज़ोर-ज़ोर से साँस ले रहा है। कुछ देर तक बोल नहीं पाता और दोनों हाथ सिर पर रख कर ज़मीन पर बैठ जाता है। उद्विग्नता का वातावरण।)

अळसिंगरु : *(हठात् बदन झाड़ कर उठता है और जबरन हँसने का प्रयास करता है)* सब आसानी से हो गया। कोई दिक़्क़त नहीं हुई। सब उन की कृपा है। श्रीरंगनाथा! शेषशयना!! *(उद्विग्नता तोड़ने के लिए अळसिंगरु हँसता है!)* तुम्हारी बिल्ली उठा कर बाल्टी में रख दी है। अभी रस्सी खींच कर दिखा दूँगा। *(हाथ से बदन पर लगी मिट्टी-काई को झाड़ते हुए)* अरे भाई शामराव! तुम्हारा भी क्या कुआँ है। नरक! साक्षात् नरक। कितना अँधेरा, कितनी गंदगी! वो काई और वो फिसलन! क्या कहा जाए! *(जान-बूझ कर मज़ाक करते हुए)* अगर मुझे अधिकार होता तो मैं एक नया 'वेल्फ़ेयर डिपार्टमेन्ट' खोल कर ऐसे सब कुओं को बंद कराने का हुक्म निकाल देता। *(खुद ही हँसता है।)*

बालु : *(अळसिंगरु के पैर देखते हुए)* पिताजी, देखिए तो! इन के पैर से कैसे ख़ून बह रहा है!

सत्य : पीठ पर भी खरोंच के निशान हैं।

अळसिंगरु : अरे छोड़ो बेटे! यही मामूली-सी खरोंच आ गई होगी। इतनी छोटी-सी बात पर चीख-पुकार मचा

रहे हो। मैं ने कहा न, अपने बदन के लिए तुम्हारा कुआँ ज़रा तंग था *(फिर हँसता है)* आओ चलो, बिल्ली को खींचते हैं। देखें तो वो कैसी है!

वेंकम्मा : ये क्या अळसिंगरू! क्या कोई ऐसे अपने हाथ-पैर छिलवाता है! सब से पहले खून पोंछो। दवा लगाओ। बाक़ी चीज़ें बाद में।

अळसिंगरु : छोड़िए अम्मा। ये भी कोई चोट है क्या! *(बच्चों से)* क्यों रे, रुक क्यों गए? आओ? *(अळसिंगरु हाथ-हाथ भर रस्सी खींच-खींच कर बाल्टी ऊपर ले आता है।)*

वेंकम्मा : चलो बच्चो, तुम लोग भीतर चलो। उस को क्या देखना है?

शामराव : रुको अळसिंगरू! पानी में पड़ी बिल्ली हम को दिखाने की क्या ज़रूरत है? तुम्हें तो छूत लग ही चुकी है। हम को भी छूत लगवाने की क्या ज़रूरत है? वैसे उस को ठिकाने लगाने की बात तय हो ही चुकी है। हम सब अंदर चले जाएँगे। तुम एक गड्ढा खोद कर जल्दी से उसे दफ़ना कर ख़तम करो।

वेंकम्मा : खड्डा खोदो तो ज़रा गहरा खोदना। ऊपर मिट्टी से भी अच्छी तरह दबा देना; कहीं रात में कोई कुत्ता या सियार दीवार फाँद कर मिट्टी न खोदने लगे!

सत्य : हाँ, दफ़नाने के बाद उस पर पेड़ का सूखा तना भी डाल देंगे वेंकज्जी?

वेंकम्मा : हाँ, हाँ, बिल्कुल!

अळसिंगरु : *(हँसते हुए)* ठहरो, ठहरो। सारा दिन आप लोग इतने परेशान हुए हैं। ऊपर से, शामी, तुम बीस रुपए का जुर्माना भी दे रहे हो। एक बार उस बिल्ली के प्रथम और अंतिम दर्शन हो जाएँ। ऐसा मौक़ा रोज़-रोज़ थोड़े ही आता है।

(अळसिंगरु रस्सी खींचने लगता है।)

शामराव : *(ग़ुस्से से)* देख, वो सब नहीं चाहिए!

अळसिंगरु : हम वकीलों का वो क़ानूनी नुकता है न—'कॉर्पस डिलिक्टी'! जब तक प्रमाण सामने न आए तब तक कोई अपराध साबित नहीं होता। अब लो ये प्रमाण!

(अळसिंगरु बाल्टी उठा कर मंच के बीचोंबीच उलट देता है।)

शामराव : *(उद्विग्न हो कर)* बेवकूफ़! फिर तुम्हारा वही छुकड़पना! मैं ने कहा न, मुझे ये सब पसंद नहीं है।

(मंच पर बहते हुए पानी के बीच एक काला-सा ढेला दिखाई देता है।)

वेंकम्मा : अरे ये क्या! बालू का स्वेटर! ये कहाँ से निकला?

शामराव : ये तो तुम बच्चों से जो स्वाँग कराते हो, उस का 'क्लाइमैक्स' जैसा हुआ। ये कहाँ था? बिल्ली कहाँ है? तुम ने बिल्ली नहीं निकाली?

अळसिंगरु : *(बड़ी गंभीरता से)* बिल्ली? देख शामराव! तुम एक बड़े क्रिमिनल लॉयर हो। कोर्ट में दिमाग़ से जिरह करके खूनियों को जेल से छुड़वाते हो, बेगुनाहों को जेल भिजवा भी सकते हो। ज़रा सोच कर देखो! जानवर हम इंसानों की तरह गुत्थीबाज़ तो होते नहीं। अपने क़त्ल के केस में तो तुम साहूकार के बेटे को बचाने के लिए ये साबित कर सकते हो कि मुखिया का बेटा अपने-आप कुएँ में जा गिरा। लेकिन कोई बिल्ली अपने-आप कुएँ में गिर पड़ी, इस का क्या मतलब हुआ। जैसे साहूकार के बेटे ने मुखिया के बेटे को मार कर कुएँ में धकेल दिया, वैसे ही अगर किसी ने बिल्ली को मार कर कुएँ में फेंक दिया हो तो बात और है!

शामराव : तब कुएँ में बिल्ली नहीं थी?

अळसिंगरु : तुम ने सुना है न, बिल्ली के एक नहीं नौ-नौ जान होती हैं। जो बिल्ली जीने के लिए ही जन्मी है, वो

इतनी आसानी से थोड़े ही मरेगी। फ़र्ज़ करो कोई बिल्ली कुएँ में गिरने वाली है, उस का खेल ख़त्म होने वाला है! लेकिन उसी क्षण, अचानक उस के बदन में जैसे एक बिजली उग आएगी। खुद उसे पता भी नहीं लगेगा और वह कूद कर ख़तरे से बच निकलेगी। क़दम-क़दम वह मौत को चिढ़ाएगी। हज़ार बार चिढ़ाएगी। ये सब मेरे जैसा आदमी ही समझ सकता है जो हरदम ज़िन्दगी के कुएँ पर बैठा हर पल अपने आप को गिरने से बचा कर जीता रहता है।

शामराव : बालू ने बताया था कि उस ने खुद बिल्ली को कुएँ में गिरते हुए देखा था।

अळसिंगरु : *(मंच पर ही पीठ फेर कर अपने बदन से गीले कपड़े उतार कर, बदन पोंछ कर, धोती पहनता है।)* वो तो बच्चा है बहुत कुछ कहेगा। मगर तुम देखो। जैसे तुम क्रिमिनल लॉयर लोग कहते हो. . . 'रिकन्स्ट्रक्टिंग द क्राइम'। वैसे 'रिकन्स्ट्रक्ट' करके देखो ज़रा। भोर का झुटपुटा. . . लड़का बिस्तर से उठ कर आया है. . अभी आँख पूरी तरह खुली नहीं है. . . ऊपर से पेशाब की हाज़त का दवाब है. . . कुएँ की जगत पर बिल्ली बैठी होगी. . . बेचारी! अपना पेट भरने की चिन्ता में किसी टिड्डे या छिपकली को पकड़ने की ताक़ में. . . बालू ने सोचा होगा, वो खुदकुशी करने की तैयारी में है! भगा कर उस की जान बचा लूँ, ये सोच कर उस ने चारों तरफ़ निगाह घुमाई. . . तार पर उस का काला स्वेटर लटक रहा था। कोई और चीज़ नज़र नहीं आई सो उस ने वही स्वेटर खींच कर बिल्ली की तरफ़ फेंका। बिल्ली उल्टी तरफ़ छलाँग मार कर भाग गई। छप्प-सी आवाज़ आई। स्वेटर कुएँ में जा गिरा। उनींदे में बालू ने सोचा कि बिल्ली ही कुएँ में जा गिरी!

शामराव : तब तुम्हें पहले ही पता था कि कुएँ में बिल्ली नहीं मरी है?

अळसिंगरु : मुझे जब ख़बर मिली तब शक हुआ कि इस में कहीं तर्क का तार टूटा हुआ है। फिर भी भगवान से मनौती करके आया था कि कुएँ में बिल्ली पड़ी मिले। जब मैं ने यहाँ आ कर कुएँ में झाँक कर देखा तो मेरा शक पक्का हो गया।

शामराव : *(डाँटते हुए)* कुएँ में बिल्ली नहीं गिरी होगी ये तुम्हें पता था, ऐं! फिर भी तुम ने हमें ये बताने की कोशिश नहीं की, ऐं! ऊपर से कुएँ में उतरने की बहादुरी भी दिखाई। ये सब क्या वानर-लीला है, सो भी इस उमर में!

अळसिंगरु : *(हँस कर, अधीरता के साथ)* वह सब जान कर तुम क्या करोगे? अब निकालो बीस रुपए। देर हो रही है। मुझे जल्दी जाना है।

शामराव : कैसे बीस रुपए?

अळसिंगरु : *(घबरा कर)* ये क्या कह रहे हो, शामराव?

शामराव : और क्या? करने को तुम्हारे पास कोई काम है नहीं। इसलिए यहाँ आ कर तुम हम से खिलवाड़ करो और ऊपर से दक्षिणा के लिए जाल भी फेंको! जाओ, जाओ।

अळसिंगरु : *(क्रोध और व्यथा से विनती करते हुए)* ऐसा मत करो, शामी! ये न्याय नहीं है। जब एक बार बात तय हो गई तब उसे हर हालत में निभाना ही चाहिए।

शामराव : *(वकील की तरह ज़िरह करते हुए)* हमारे-तुम्हारे बीच क्या क़रार हुआ था? तुम कुएँ में उतर कर बिल्ली निकालोगे और मैं तुम्हें बीस रुपए दूँगा. . . यही तय हुआ था न? ठीक है। तुम कुएँ में उतरे मगर बिल्ली नहीं निकाली। इस का मतलब ये हुआ कि काम हुआ ही नहीं, अर्थात् तुम्हें पैसे देने का कोई सवाल ही नहीं उठता है।

अळसिंगरु : जो कुएँ में थी ही नहीं उस बिल्ली को मैं कहाँ से लाऊँ, बोलो? फ़र्ज़ करो कि सचमुच कोई बिल्ली

कुएँ में गिर कर मर जाती, उस को निकलवाने के बाद भी तुम्हारा कितना ख़र्चा होता, ज़रा सोचो! कुएँ में डालने के लिए चूने का ख़र्चा, कुएँ के पुण्य-आवर्चन के लिए पंडितजी की दक्षिणा, फिर तीन दिन तक नदी से पानी मँगवाते रहने के लिए उस छोकरे गुंडा की मजूरी. . .पता नहीं और क्या-क्या ख़र्चा! कौन जानता है, शायद नया कुआँ ही खुदवाना पड़ जाता! ये सब ख़र्च तो अब बच गया न?

शामराव : ये सब छोड़ो! बेकार की बातों का क्या फ़ायदा? ज़्यादा से ज़्यादा आधा काम हुआ है ये मान कर बीस के आधे दस रुपए दिए देता हूँ। चाहो तो वो स्वेटर भी ले जाओ!

अळसिंगरु : *(दर्द-भरी आवाज़ में)* देख शामराव! मैं झिकझिक नहीं कर रहा हूँ। तुम नहीं जानते कि वो बीस रुपए आज मेरे लिए कितने महत्त्व के हैं। मैं आज बच्चों की सौगंध खा कर निकला था कि जब तक बीस रुपए नहीं कमा लेता, तब तक घर में क़दम नहीं रखूँगा।

शामराव : क्या तुम्हें ख़्वाब आया था कि हमारे कुएँ में बिल्ली गिर कर मरी है और हम सब परेशान हैं।

अळसिंगरु : हाँ, एक तरह से ख़्वाब ही समझो! मुझे सुबह ही ख़बर मिल गई थी। इसीलिए मैं निकल आया।

शामराव : मतलब?

अळसिंगरु : सुबह पूजा-पाठ करके घर के बाहर खड़ा था। बड़ी चिन्ता थी। आज कम से कम बीस रुपए की सख़्त ज़रूरत थी। पर जेब में एक कौड़ी भी नहीं थी। गिरवी रखने के लिए भी घर में एक अच्छा लोटा तक नहीं। भगवान ये क्या कर दिया! यही सोचता चबूतरे पर खड़ा था। उसी वक़्त घर के सामने गंगा कहार को जाते हुए देखा। उस ने बताया कि वह तुम्हारे घर से ही आ रहा है। बोला, 'राम राम पंडितजी!' मैं ने पूछा, 'क्यों रे, क्या ख़बर है? कहाँ चले?' उस ने आप के कुएँ में बिल्ली गिरने की बात बताई। बोला, 'आज ठहरा मंगलवार! आज के दिन कोई पेशेवर कुएँ में थोड़े ही उतरेगा!'

शामराव : *(गुस्से से)* अब समझा! वो स्साला आधा घंटे में सामान ले कर वापस आने की क्यों कह गया था!

अळसिंगरु : उस ने ये भी बताया। 'वकील साहब बड़े गुस्सा वाले हैं। सच बताने से नाराज़ हो जाएँगे। इसलिए "अभी आया" कह कर चला आया, कल ही जाऊँगा।'. . . यह सुनते ही मुझे कुछ सूझा। मैं ने सोचा मैं बच गया। भगवान श्रीरंगनाथजी गंगा कहार का रूप धारण करके राह दिखा रहे हैं, ये सोच कर मैं ने अपने आप को आश्वस्त किया। 'देख गंगा! आज घर में पूजा थी। आ, प्रसाद खा कर जा।' ये कह कर मैं ने उसे फुसला कर चबूतरे पर बैठाया। चार केले पकड़ा दिए। जब वो केले खाने लगा तो मैं ने उस से कुएँ में उतरने की तरकीब तफ़सील से समझी। 'पहले रस्सी को गिर्री की बल्ली में कस कर बाँधना चाहिए। कुएँ की दीवार में भीतर हर दो फ़ुट पर पैर रखने के लिए आमने-सामने आले बने होते हैं। रस्सी को कस कर पकड़े रहना होता है और आलों में पैर रखते जाते हैं। कभी-कभी उन आलों में चिड़िया घोंसला बना लेती है। पैर रखते ही चिड़िया फड़फड़ा कर उड़ती है। जल्दबाज़ी नहीं करना चाहिए। उस से घबराना नहीं चाहिए।' गंगा ने जिस तरह कुएँ में उतरने की तरक़ीब समझाई, उस से लगा कि ये बड़ा आसान है। मैं ने सोचा, पैसे के लिए ज़िन्दगी में यही एक काम था जो अब तक नहीं किया था। अब यह भी करना पड़ेगा। ख़ैर। लेकिन क्या इस काम के लिए मेरे पास एक तंदुरुस्त बदन है? वह भी नहीं। बायाँ पैर जन्म से ही टेढ़ी. . . छड़ी जैसा पतला है। छोटे-छोटे बच्चे कभी-कभी मुझे लंगड़दीन कह कर चिढ़ाते हैं। वैसे मुझे इस पर भी बुरा नहीं लगता था। मैं उन के साथ मिल कर हँसने लगता था। आज ज़िन्दगी में पहली बार मुझे अपने पैर के नुक़्स पर दुख हुआ, गुस्सा आया। ख़ैर। 'श्रीरंगनाथा! शेषशयना!! जैसी तुम्हारी मर्ज़ी!' मैं ने गंगा को विदा किया।

शामराव : *(अवाक् हो कर)* मगर अभी-अभी तो तुम यही बता रहे थे कि बचपन में जब तुम मेल्कोटे में रहते थे

तब तुम दिन में दसियों बार कुएँ में उतरते थे!

अळसिंगरु : झूठ! बिल्कुल झूठ! मेल्कोटे चट्टानों का गाँव है। वहाँ कुआँ कैसा भाई? वहाँ बारिश के पानी का तालाब होता है, झील होती है। अगर तुम्हें पता होता कि मैं कुएँ में उतरना नहीं जानता तो तुम मुझे उतरने देते क्या? ख़ैर! गंगा कहार के जाने के बाद सारा दिन ऊहा-पोह में बैठा रहा... ज़िन्दगी और मौत का ये खेल खेलूँ या नहीं? शाम ढलने को थी। फ़ैसला और नहीं टाला जा सकता था। सुबह होते ही गंगा कहार पहुँच जाएगा और मुझे जो मौक़ा मिला है वह छिन जाएगा। आख़िर मैं सब कुछ भगवान पर छोड़ कर निकल आया। सच मानो शामी, आज मुझे विश्वास नहीं था कि जीवित घर लौट पाऊँगा। कल सुबह गंगा कहार बिल्ली की लाश के साथ-साथ मेरी भी लाश निकालेगा, यही सोचता था। मगर भला हो! मेरे पालनहार श्रीरंगनाथजी मेरा हाथ थामे रहे।

शामराव : कहते हो तुम पहली बार कुएँ में उतरे हो। ज़रा सोचो। उतरते-उतरते अगर पाँव फिसल जाता और तुम कुएँ में गिर पड़े होते, तो मेरा क्या होता? घर में आए दोस्त को कुएँ में धकेल कर लूट लिया... मेरे बारे में यही अफ़वाह उड़ती कि नहीं? जो शख़्स इलाक़े के सब से बड़े क्रिमिनल लॉयर की हैसियत से गर्व के साथ कोर्ट में जाता था, कल उसे एक मामूली क्रिमिनल के रूप में गर्दन झुका कर कटघरे में खड़ा होना पड़ता। मेरी विडंबना की भी कुछ कल्पना कर सकते हो तुम? मेरा सारा 'कैरियर' चौपट हो जाता कि नहीं!

अळसिंगरु : मुझे पता था कि वो भी असंभव नहीं है। इसलिए मैं ने वह झोला तुम्हारे हाथ में पकड़ाया था। उस में मेरे हाथ का लिखा हुआ हलफ़नामा है। *(झोले से एक लिफ़ाफ़ा निकाल कर उस में से एक काग़ज़ खोल कर पढ़ने लगता है)* ये देखो! 'ज़िन्दगी से ऊब कर आत्महत्या के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं बचा, इस नतीजे पर पहुँच कर, नदी में पानी काफ़ी नहीं है और गाँव में कोई दूसरा गहरा कुआँ भी नहीं है, यह देख-समझ कर मैं वकील शामराव के घर के कुएँ में बिना उन की जानकारी के खुद अपनी मर्ज़ी से कूद कर आत्महत्या कर रहा हूँ। मेरे अलावा इस के लिए कोई और ज़िम्मेदार नहीं है।... दस्तख़त एन.एस. अळसिंगराचार।'

शामराव : 'इट्स अ पुअर ड्राफ़्ट!' इसे ज़रा क़ायदे से लिख सकते थे।

अळसिंगरु : इतना ही नहीं। मेरे मरने के बाद, मेरे घर में जायदाद के नाम पर जो कुछ भी है, वह मेरे वारिसों को मिल जाए और इस में किसी तरह की सरकारी अड़चन न आए, ये सोच कर पूजा घर में एक 'विल' भी लिख कर रख आया हूँ।

शामराव : बकवास! बिना गवाही के 'विल' की क्या अहमियत है?

अळसिंगरु : *(शामराव की टिप्पणी को अनसुना करते हुए)* तुम कह रहे थे कि अगर मैं मर गया होता तो इलाक़े के एक बड़े क्रिमिनल लॉयर को एक कॉमन क्रिमिनल बनने की विडंबना झेलनी पड़ती। सही है। मैं एक छोटा आदमी हूँ। लेकिन मुझे भी एक छोटी-सी विडंबना का सामना करना पड़ता... क्या इस पर तुम्हारा ध्यान गया?

शामराव : वाह भाई! क्या है वो! ज़रा बताओ, हम भी सुनें।

अळसिंगरु : देख। ज़िन्दगी से ऊबना, आत्महत्या पर उतर आना—ये सब मेरी प्रकृति के विरुद्ध है। पचास साल किसी न किसी तरह सारा दुख-दर्द पी कर, हँस-हँस कर जिया हूँ। और अब यह कुबूल करना कि मुझ में ये सारी व्याधियाँ मौजूद हैं और ऐसा हलफ़नामा लिख कर खुद अपनी जान देने को तैयार हो जाना... क्या ये विडंबना नहीं है? सारा जीवन मैं जिस चीज़ के ख़िलाफ़ लड़ता रहा, वही मेरे नाम से हमेशा के लिए जुड़ कर इस गाँव की इतिहास-गाथा में अंकित हो जाती! अळसिंगरु, अळसिंगरु का नाम आते ही लोग कहते—'अरे, वही न! जिस ने वकील शामराव के कुएँ में कूद कर आत्महत्या की थी!' इस परिस्थिति में

भी बीस रुपए देने का वादा करने के बावजूद अब तुम दस रुपए के लिए झिकझिक कर रहे हो न? तुम्हें क्या पता कि मेरी ज़रूरत कैसी है?

शामराव : ऐसी कौन-सी ज़रूरत हो सकती है भाई, जिस के लिए जान दे कर भी बीस रुपए कमाना ही है।

(बाहर गेट खटखटाने की आवाज़। अळसिंगरु का नाती संपत्तु ऊँची आवाज़ में पुकारता है।)

संपत्तु : नाना! नाना!... बालू भैया, मेरे नाना यहाँ आए हैं क्या?

बालु : हाँ, हैं! अंदर आ जाओ!

(अळसिंगरु गेट की तरफ़ मुड़ कर।)

अळसिंगरु : क्यों बेटा! क्या बात है?

संपत्तु : *(साँस लेते हुए)* माँ ने बुलाया है। उसे दर्द शुरू हो गया है। आप को जल्दी आने को कहा है। वरदू भैया की नानी दाई को बुलाने गई है। घर में और कोई नहीं है।

अळसिंगरु : *(शामराव की तरफ़ देखते हुए, दर्द से भीगी आवाज़ में)* क्यों शामराव? मेरी ज़रूरत समझ में आई या नहीं? मेरी इकलौती बेटी सौर के लिए घर आई हुई है। खुद मैं ने ही उसे बुलवाया है ताकि उसे यह न महसूस हो कि माँ के मरने के बाद उस के मायके का आसरा ख़त्म हो गया है। उस के दिन पूरे हैं। घर में एक नया जीव आने वाला है। उस की अगवानी के लिए जेब में एक कौड़ी तक नहीं है। भीख न माँग कर, चोरी न कर, आज किसी न किसी तरह ईमानदारी से बीस रुपए कमाने ही थे... संपत्तु, तुम भाग कर जाओ! माँ के पास रहना! मैं अभी आया।

शामराव : बालू, मेज़ की दराज़ में बटुआ रखा है, ले आ तो! *(अळसिंगरु से)* तुम ने आज वो कर दिया जिस पर विश्वास करना भी कठिन है भाई! तुम बड़े प्रचंड हो! आज तुम से हाथ मिलाने का जी कर रहा है। लाओ इधर अपना हाथ...

(शामराव अळसिंगरु का हाथ पकड़ लेता है और जैसे छोड़ना ही नहीं चाहता। दोनों विस्मृत-से एक-दूसरे को ताकते खड़े रहते हैं।)

अळसिंगरु : प्रचंड मैं नहीं भाई, प्रचंड तो ये जीवन है जो हमें भी प्रचंड बना देता है।

(बालु पर्स ले आता है। शामराव उस में से नोट निकाल कर अळसिंगरु को पकड़ाता है।)

वेंकम्मा : बात ये है—क्या तुम हमें यह नहीं बता सकते थे? हम क्या कोई पराए हैं? ऐसी फ़ज़ीहत में पड़ने की क्या ज़रूरत थी?

अळसिंगरु : *(नोटों को खोल कर मज़ाक़-सा करते हुए)* आप को पराया मानता तो क्या मैं आप के कुएँ में कूदने आता? कहीं और न चला जाता?

(सब हँसते हैं। वेंकम्मा जल्दी-जल्दी अंदर जाती है।)

अळसिंगरु : ये क्या शामी! बीस के बजाय तुम ने दस-दस के तीन नोट दे दिए हैं न?

शामराव : *(हल्की-सी हँसी और घमंड से)* तीन हैं क्या? शायद गिनने में ग़लती हो गई। कोई बात नहीं। रखो! उस तीसरे को, तुम्हारे आने वाले नाती को मेरी तरफ़ से 'प्रेज़ेंट' मान कर दे देना।

अळसिंगरु : *(दो नोटों को बनियान की जेब में डाल कर, तीसरा नोट हाथ में पकड़ कर एक क्षण शामराव की ओर ताकता है)* देख शामी! आने वाले नाती को 'प्रेज़ेंट' का मतलब समझने में आठ-दस साल लगेंगे। तब तक ये बोझ मेरे ऊपर क्यों डालते हो? यह तुम्हारे पास ही रहने दो। बाद में तुम्हीं उसे दे देना, वही बेहतर होगा।

(अळसिंगरु तीसरा नोट लौटा देता है। शामराव के चेहरे का रंग फ़ीका पड़ जाता है लेकिन वह चुपचाप नोट वापस ले लेता है। इसी बीच वेंकम्मा शाल ओढ़ कर घर से निकलती है और तेजी से गेट की ओर जाती है।)

शामराव : क्यों माँ? कथा सुनने ऐसे ही जा रही हो? पूजा की थाली कहाँ है?

वेंकम्मा : कथा तो रोज़ होती रहती है। वो कहाँ भाग जाएगी। ज़रा इन के घर जा कर देखती हूँ। ज़रूरत तो ज़रूरत ही होती है।

अळसिंगरु : देखा शामी! मेरा आने वाला नाती कितना भाग्यवान है! इस संसार में आते ही इलाक़े के सब से बड़े वकील की माँ उसे गोद उठा रही है। अच्छा, मैं चला!

(अळसिंगरु लँगड़ाते हुए चल देता है। शामराव चुपचाप उस के साथ-साथ गेट तक जाता है।)

शामराव : *(गेट पर)* अच्छा, हो आओ। भगवान भला करे। बाद में संपत्तू के हाथों खाँड भिजवाना मत भूलना!

(शामराव गेट पर हाथ टिका कर जाते हुए अळसिंगरु की तरफ़ देखता रहता है। पर्दा गिरता है।)

कन्नड से अनुवाद : **लेखक के साथ गि.रा.**

असमिया युवा कविता—अनुवादः दिनकर कुमार

जीवन नरह

प्रेम

(एक)

अचानक लोगों को प्यार हो जाता है
किसी भी घड़ी
या रास्ते में गुज़रते हुए
मगर लोग मानने के लिए तैयार नहीं होते
कि हम एक ही रास्ते से
गुज़र रहे हैं

(दो)

उसे पहचानने से पहले ही
उस के साथ शुरू हो गया मेरा प्रेम

किसी दिन उस की आँखें या उँगलियाँ नहीं देखीं
फिर भी एक प्रेम का प्यारा-सा रास्ता हम दोनों के बीच है

एक दिन रास्ते से गुज़रते हुए
वह मेरे क़रीब से निकल गई

मैं पहचान नहीं पाया
मुझे भी पहचान नहीं पाई
सिर्फ़ कविता पढ़ने की तरह महसूस
करता रहा उस की आहट को

उसी रात उस ने नीली आँखों को धोया था
सितारों की रोशनी में

तब वह युवती थी

फिर एक दिन उस से मुलाक़ात हुई
आँखों के सामने
शरीर से बहुत दूर

किसी से बातें करती हुई
मेरे सामने से ओझल हो गई

उस ने मुझे इसी तरह विदा किया
कुछ भी कहे बग़ैर

तब वह औरत बन चुकी थी
जब से उसे नहीं देखा है
तभी से मेरा प्रेम फिर शुरू हुआ

मेरी प्रेमिका जब औरत बनी
तभी से मेरा प्रेम फिर शुरू हुआ

शुरू नहीं होने से ही शुरुआत
ख़त्म नहीं होने से पहले शुरुआत

इसी तरह जारी रहता है यह क्रम
फिर भी लोग मानने के लिए तैयार नहीं होते
कि हम एक ही रास्ते से
गुज़र रहे हैं।

सावित्री शइकिया बरुवा

स्वाधीनता

निर्दय शिकारी के पास बयालीस पंख गँवाने वाली चिड़िया है
आकाश की तरफ़ देख कर धूप में तड़पती है चिड़िया

बाहर-भीतर साहस बटोरने की लड़ाई जारी रहती है

मुक्ति की साँस भीतर भर लेने के लिए
हृदय सारे परदे उतार कर आगे बढ़ता है
प्रेम की आहत वेदना के कारण

ताउम्र मीठी टीस की कसक ले कर
धूप की गर्मी सीने में फैलती है
खिलते हैं कोंपल।

नीलिम कुमार

आसिना की तबीअत

आसिना की तबिअत बिगड़ने से आकाश ग़मगीन हो जाता है
हवा ख़ामोश हो जाती है, जागते हैं
स्त्री-पुरुष, महानगर की गलियाँ, राजपथ। हवा के साथ
लोगबाग भी फुसफुसा कर आसिना की
तबिअत के बारे में बातें करते हैं।

आसिना की तबिअत बिगड़ने से जाते-जाते ख़फ़ा रहता है
शाम का सूरज, उस के चेहरे की तरफ़ टकटकी लगा कर
देखता रहता है लाल समय। लौट कर आ रही नाव को
ठोकर मारती है दुख की हवा।
आसिना की तबिअत बिगड़ने से नहीं भौंकते कुत्ते, कौवे
काँव-काँव नहीं करते। दफ़्तर में काम नहीं होता, रेलगाड़ी नहीं चलती,
बस बंद होती है, रिक्शा ठेला साइकिल की आवाजाही भी बंद होती है
राह किनारे घुटनों में सिर छिपाए
बैठे रहते हैं लोगबाग।

आसिना की तबिअत बिगड़ने से पागल की तरह मैं
घूमता फिरता हूँ जालुकबाड़ी से हिदायतपुर शिलपुखुरी से
दिसपुर पान बाज़ार फाँसी बाज़ार
आमबाड़ी रेहाबाड़ी. . .माछखोवा बस अड्डे पर ख़बर देता हूँ
आसिना की तबिअत के बारे में

लोगों की जुबान पर होती है आसिना की तबिअत की बात
पानी में बहती है हवा में उड़ती है यह ख़बर। पंछी
पेड़ खेत पहाड़ पत्थर बेचैन हो कर
सुनते हैं यह ख़बर—आसिना बीमार है।

रवीन्द्र भवन डिस्ट्रिक्ट लाइब्रेरी गौरी सदन की दीवार पर
पोस्टर चिपका देता हूँ कि आसिना बीमार है
विश्वविद्यालय और कॉलेज में बता देता हूँ कि आसिना बीमार है

आसिना आसिना आसिना
जब तक वह नहीं आती
मैं पागल बना रहता हूँ
ग़मगीन रहता है आकाश! जागते रहते हैं
स्त्री-पुरुष, महानगर की गलियाँ, राजपथ
बेचैन रहती है हवा और समय

आसिना की प्रतीक्षा में दरवाज़े पर खड़ा रहता है सूरज
आसिना की हँसी सुने बग़ैर भौंकते नहीं कुत्ते
नहीं बोलते कौवे बंद रहते हैं दफ़्तर बंद रहती है रेल
बस रिक्शा ठेला साइकिल नहीं चलते
दिन रात नहीं होते पंछी गाते नहीं गीत

आसिना के आने तक हृदय बंद। किसी भी
हृदय में नहीं खिलते फूल।

अनुपमा बसुमतारी

संगम

(एक)

सर्दी के मौसम में
नंगा होता है पहाड़
हवा उड़ाती है बर्फ़ के टुकड़ों को
बर्फ़ की बरसात पेड़ों को पहनाती है सफ़ेद क़मीज़

सर्द हवा में बज उठती है
वसंत की प्रथम रागिनी

(दो)

~~वर्षा के मौसम में~~
गिरती हैं बूँदें संगीत बन कर
जैसे हरी पोशाक पहने
सद्यःस्नाता नारी की आहट से
बजती है छम-छम पाज़ेब

हल्दी लेप कर प्रतीक्षा करता है पहाड़
वर्षा की बूँदें जिसे धो डालती हैं

(तीन)

बर्फ़ और बरसात की तरह ही
वह और मैं
बर्फ़ की तरह पिघल-पिघल कर वे उतरते हैं
मैं उतरती हूँ मूसलाधार बरसात बन कर

और बह जाती हूँ एक साथ
सागर संगम के लिए

अर्चना पुजारी

माजुली*

इस किनारे से कोई पुकारता है
'कह दो मन की बातें. . .'

वीरान घाट पर गहमागहमी
सपनों में रेत
काई से भरपूर राह में आशा ठिठक जाती है

बाज़ार में क़ीमत बढ़ती है
घाट पर नाव बँधती है
ज़ंजीर खींची जाती है

उस किनारे से कोई पुकारता है
मा —— जु —— ली

हरे-भरे खेत काले हो जाते हैं

झुनक-झुनक बजती है
सोने की मुद्रा
चाँदी की मुद्रा

मा —— जु —— ली

रेत सोने जैसा
रेत चाँदी जैसी

---

* माजुली : ब्रह्मपुत्र के बीच पृथ्वी का सब से बड़ा नदी-द्वीप

सनंत तांती

गैंडा

मेरे घर के सामने जहाँ था आकाश की तरह ख़ुला एक मैदान ठीक उसी मैदान में
उन लोगों ने अब जंगली पशुओं के लिए तंबू गाड़ दिया है।
बाघ से भी अधिक बर्बर और करुणाविहीन इन दोपायों के बारे में सभी जानते हैं।
मेरे चार साल के लड़के स्वागत से यदि पूछा जाए तो वह बताएगा कि ये जंतु
कितने बर्बर और हिंसक हैं।
मेरे आसपास रहने वाले लगभग सभी लोग जानते हैं कि इन जंतुओं ने निगल
लिया युवक-युवती का सरकार-विरोधी आंदोलन और सृष्टिशील बुद्धिजीवियों को।
कभी-कभी ये जंतु बच्चों का लहू पीते हैं पानी की तरह।
कभी-कभी नारी के गर्भ से निकाल लाते हैं भ्रूण या सीने के
मांसपिंड को नोचते हैं आदिम असभ्य नाख़ून से।
ये जंतु शासकों के रक्षक ख़ूनी आततायी हैं।
इन लोगों को निष्ठुरता नामक निवास में रख कर पालते हैं शासक।
अब इन लोगों का नाम रखा गया 'गैंडा'। जंतुओं के जो गुण
होते हैं उसी तरह ये लोग हिंसक और तांडवप्रिय हैं। तीखे और जटिल हैं।
चौबीस घंटा यौन कातरता से उत्सुक रहते हैं बलात्कारी निर्लज्ज कामुक।
मेरे घर के सामने जहाँ था पृथ्वी का सब से सुंदर बगीचा
ठीक उसी जगह अब जंतुओं के क़दमों से डर गया है समय।

समीर तांती

तब मैं रोशनी से हमदर्दी जताऊँगा

कौतूहल था। तुम्हारे बीच से निकल कर आई

एक घड़ी। रोशनी की लकीर ने बिना बताए
चीर दिया तुम्हें। कामनाओं के तीर की तरह।
और तुम खुद को ही भूल गए। कौतूहल
हृदय को गुप्त रूप से खोलने के लिए
शबनम के क़तरे को चूमने के लिए।
मेरे हाथ में कुछ नहीं है। अर्थ या शस्त्र। कुछ भी नहीं
फिर भी देख रहा हूँ फूस द्वारा आग को पकड़ने का नज़ारा
पानी का पानी पर कब्ज़ा करने का नज़ारा। कई बार
तुम ने छिपा कर रखा अँधेरे को। अब रोशनी के लिए
कैफ़ियत देनी पड़ेगी। क्यों गवाह नहीं बनते हैं सपने।
अनिद्रा ने आ कर मुझे एक क़दम आगे बढ़ा दिया।
इतनी भूख के लिए भला मैं किसे धन्यवाद दूँ
और कुछ अँधेरा तुम सामने रखो। तब मैं
रोशनी से हमदर्दी जताऊँगा

नाहेन्द्र पादुन

कविता

पश्चिम के क्षितिज में गुम होने वाली नाव की स्मृति
साथ लिए हम लौट गए लाल आकाश की तपिश
ने हमारे हृदय को समेट लिया था

हृदय के भीतर शब्दों का ज्वार
गर्भस्थ शिशु की तरह हिलते-डुलते हुए शब्द

शाम को दिए जले थे और सुदूर गाँव में
जारी कोलाहल निरंतर हमें राह दिखा रहा था
क़रीब, हृदय तक हम पहुँच रहे थे

चौपाल में फूस जल रहे थे
हम ने हाथों को सेंका ख़ामोशी मुखर हुई

ख़ामोशी को सेंक कर हम विदा हुए

चौपाल से ले कर खेत तक
चाँद ने हमारा अनुसरण किया था

दिनेश डेका

मनुष्य एक नदी है

हर जगह दुख से भरपूर रातें हैं
कातर है समय
कंस के आतंक से देवकी की दुखभरी रात
न बीतती है न सुबह होती है

रफ़्तार के साथ आता है
हृदय के बीच से अंधकार

देवकी की रात न बीतती है न सुबह होती है

ऐसे ही आता है कोई समय
मनुष्य के सँजोए सपनों को कुचल कर
गाड़ देता है अपनी इच्छा और अभिलाषा

फिर भी मनुष्य एक नदी है
दुख और यंत्रणा झेल कर भी
जो नदी बहती रहती है
बंजर घाटियों से हो कर अनंत काल तक

मनुष्य एक नदी है
जो बटोर लाती है
देवकी की दुख की रात के बंधन काट कर
नंदनोत्सव की सूचना

शरणकुमार लिम्बाळे

मैं

हर सुबह
रास्ते झाड़ने वाली झाड़ुओं की धुन
मेरी मीठी नींद में बोती जाती है
मेरे अनेक खून।
मुश्क़-बँधा एक़ मनुष्य
गू की बाल्टी ले जाता हुआ
अपने कंधों पर—
किस के मूलभूत अधिकारों का बोझा ढोता है?
मैं रक्त-सना
छिले जानवरों के धड़ों की तरह

मराठी से अनुवाद : **चंद्रकांत बांदिवडेकर**

अरुणा ढेरे

किसी को नहीं मालूम

घर का छप्पर वे ले गए निकाल कर
दीवारें तो यूँ भी धँसती जा रही थीं
उस तरफ़ बंजर में हुड़दंग करते
सूअरों के झुंड अब घर तक चले आते हैं।
इधर-उधर भटकते रहे लावारिस कुत्ते
अपने अधिकारों पर संकट देख भौंक कर मचा रहे हैं कुहराम।
बाक़ी सब हो कर भी मानो है ही नहीं
निर्जन हुआ है यह विश्व अपने लिए।
माथे पर आसमान, यानी
काले धुएँ का एक अजस्र बादल।

वह जब फटेगा तो बरसेगा ज़हर. . .
यह कहने के लिए किसी भविष्यवेत्ता की ज़रूरत नहीं है।
मुझे चिन्ता भी नहीं है अपनी,
फ़रार हो गए अपने, अतः उन की भी नहीं।
सिर्फ़
द्वार के सामने पत्थर के नीचे उगी जंगली घास ने
इस तरह ठूँस दिया है मेरे मन के पास
एक छोटा-सा, हरा-हरा, प्रेम,
लेकिन यह अभी किसी को नहीं मालूम
और
जब बढ़ेगा, बड़ा होगा यह
ज़मीं में जड़ें रोप कर
छू लेगा आसमान,
यह मेरा एक मृदुल स्वप्न
मैं ने दिया जो उस नन्हें की मुट्ठी में,
यह भी मैं ने अब तक किसी को बताया नहीं।

अनु. : **चं.बां.**

नारायण कुळकर्णी कवठेकर

शिकार

. . . वे जिस की पीठ ठोंकते हैं—
उस के रीढ़ की हड्डी ग़ायब हो जाती है. . .

—धूमिल

मेहरबानी कर
मेरी पीठ पर
हाथ मत फेरो
मेरी रीढ़ की हड्डी
ग़ायब हो जाएगी।
तुम जिस के सिर को
स्पर्श करते हो
आशीर्वाद के हाथ से
उस का दिमाग़ इकहरा हो जाता है।

तुम जिस से
बढ़ाते हो अपनापा
जल्दी ही वह
घुट कर हो जाता है ख़त्म।

तुम्हारे हाथ से
मिलाने पर हाथ
अचानक लगा मुझे
मेरी कलाई में
पंजा ही नहीं है।

तुम्हारा चुप्पी साधना भी
होता है भयानक
तुम्हारी आँखों के भुलावे
बहा ले जाते हैं हमें
कहीं के कहीं

लेकिन अब हम
हो गए हैं सजग
शहीद हुए लोगों के चित्र
लगाए हैं हम ने
अपने कार्यालयों में
और पुण्यतिथि पर उन की
लेते हैं हम शपथ
चित्रों की संख्या
नहीं बढ़ाने की।

बेकार होता जा रहा है
तुम्हारा जाल
और परियोजनाएँ
काल-बाह्य
तुम्हें मिल नहीं रहा है
शिकार आजकल
लेकिन तुम्हारी लालसा
है निस्सीम
तुम्हारी आदत
नहीं जाती

देखो. . . देखो
तुम अपने ही मस्तक पर
रख रहे हो हाथ
सँभालो. . . सँभालो. . .
अरे. . .

अनु. : **चं.बां.**

लालटेन

लालटेन के उजाले में
लिखते हुए डायरी के पन्ने
पाँव में उलझे हुए पाँव की तरह
लुढ़कते रहते हैं शब्द।

एक बूँद ठहरती होती है पेन की निब पर
और उतरती है धीरे से
सफ़ेद कागज़ पर, आधी पंक्ति पर
एक विशाल पूर्णविराम जैसी।

मैं रुकता हूँ। देखता हूँ :
मिलावटी मिट्टी का तेल,
तिरछी कटी हुई बाती,
दीवार से सटा कर रखी हुई लालटेन।

दीवार का हिस्सा उजाला रखते हुए
बाती ने किया रहता है घना काला
मेरी ओर का काँच का अंदरूनी हिस्सा
स्याही के धब्बे को दिए हुए समर्थन जैसा।

अनुवाद : **विजय कुभार एवं सी.बां. कोचले**

सुलभा कोरे

दहशत

साँसों से बहने वाली
अजनबी दहशत
शाम की सुनहरी बालू में
भर आई दिशाओं से
ज्वार की जोशीली लहरों के साथ
पुनः पुनः जागती है
और बुझती हुई रात को फिर
बालू पर कजलाती है

दिशाओं के रंग जोगिन जैसे
लहरों की फटकारें तलवार जैसी
एक आसमान ही गिरने लगता है
चहुँ ओर से
आधार-हीन हो जैसे
शरीर सराबोर पसीने से
साँसें घुटने लगती हैं
वेदना की तड़फड़ाहट, छटपटाहट
तन-मन में व्याप कर घूमने लगती है पागल जैसी—

दहशत
निथरती रहती है
बालों में घूमनेवाली उँगलियों से. . .
भोर तक. . .

अनु. : **चं.बां.**

अरुण म्हात्रे

रात को जाग कर

रात को जाग कर मैं ने उसे खोजा

उस समय वह
बच्ची को दूध पिलाते हुए
निरख रही थी खिड़की से चाँद को
वह एक ताज़ा चित्र
जो फिर मिटा नहीं

*   *   *   *

आसमान में लहराने वाले
सफ़ेद काग़ज़
और उन पर
स्थिर हुआ तुम्हारा आँचल
तुम्हें स्पर्श करने की ज़िद में
मैं शब्दों की नाभि
खोजने लगा हूँ. . .

*   *   *   *

और यह तो पराया मुल्क
हर शाम का दरवाज़ा मैं ने खटखटाया
और बेतहाशा दौड़ता चला गया
        सूर्यास्त के दृश्य की ओर. . .
. . . बादलों की गंध
इंद्रियों में भर गई है
और तुम्हारी गोद में बच्चे के
जामुनी पैर
मेरी पलकें रंग रहे हैं. . .

अनु. : **चं.बां.**

नितीन तेंडूलकर

एक सरल सादा धागा

एक सरल सादा धागा
और उस में लगी अनगिनत गाँठें

दूर से देखा जाय तो दिखता है
वह एक सरल सादा धागा
सिर्फ़ स्पर्श से महसूस होती हैं
उस की पक्की गाँठें
न सुलझने वाली।

बोदी उँगलियाँ और भोथरे नाख़ून
इन से ये गाँठें सुलझाते हुए
उँगलियाँ ही होती हैं लहूलुहान
और धागा होता जाता है निहायत सुर्ख़ सफ़ेद
गाँठें और भी गुँथ जाती हैं धागे से

सिर्फ़ दूर ही से दिखता है वह
एक सरल सादा धागा
और उस की पक्की गाँठें यानी
सरल धागे को जोड़ने वाले
धागे के ही अंदर के स्थान
धागे से एकतान हुई उस की ऐंठन

अनु. : **चं.बां.**

अनुराधा पाटील

कहने की इच्छा नहीं होती मुझे अब

कहने की इच्छा नहीं होती मुझे अब
किसी से कुछ
और लिखने की इच्छा नहीं होती कविताएँ
जिन का चेहरा देखती हूँ मैं
सदैव उदास
और आँखों में भय की घनी छायाएँ
तैरती हुई।
अब नहीं चाहती मैं
किसी का विचार करते हुए
बिगड़ने वाली
अपनी साँसों की लय।

नहीं चाहिए मुझे
अंतर्बाह्य हिला देने वाले
किसी एकाध धागे से
बँध जाने वाले
मेरे दिन और रातें
कि मैं बता भी न सकूँ
बाद वाली
अटल दरारों की आंतरिक पराजय
दकियानूसी शब्दों में।
मुझे नहीं जाना है कहीं
नहीं देखने हैं अब
रंगोली से सजे-सँवरे दूसरों के आँगन
नहीं फैलाने हैं हाथ
बाहर छलक छलक कर बहने वाले
सुख के एक भी क्षण के सामने
अब नहीं चाहिए मुझे
यहाँ का नसों को काला कर देने वाला प्रकाश
नहीं चाहिए यह हवा
निरर्थक टिप्पणियों से युक्त
कैलेंडर के पन्ने मात्र फड़फड़ाते रखने वाली
यहाँ तो
जीवन समेत सभी वस्तुएँ
होती जाती हैं धीरे-धीरे बिन चेहरे की
और दाँतों पर दाँत दबा कर
लाँघने होते हैं
यह समझने के भी दिन।

अनु. : **चं.बां.**

मूँगे मोती की वर्षा

मूँगे मोती की वर्षा
हर दिन नहीं होती

यह बताने वाली
नहीं होती अपने पास कोई दादी
फिर भी आधी कहानी
सुनते-सुनते सो जाने वाले
बच्चे की तरह ही
होते जाते हैं अपने भी दिन
और बुझ जाती हुई
चारों ओर की झिलमिलाती प्रकाश रेखाएँ
छा जाता है जीने के काले जादू का
गहनगूढ़ तिमिरभय
जहाँ होते जाते हैं हम
धीरे-धीरे
किसी पुरातन संरक्षित शव-सरीखे
फिर मिट्टी के नीचे बहुत गहरे हम. . .
और शेष रहती है
जीवंत दुनिया के सारे आभास ले कर
मिट्टी पर रिसने वाली
एक क्षीण धुकधुकाने वाली लय।

अनुवादः ?

रमेश इंगळे उत्रादकर

दग़ा

कई बार
नोक पर मेरे क़लम की
उमड़ता है जुनून शब्दों का
पथराव, आगज़नी और लूटमार
आँसू गैस, लाठियाँ और कभी-कभार बंदूक की गोली भी
ऐसे तनावग्रस्त माहौल में
दहक उठता है मेरा एकांत
और ज़ख़्मी शब्दों के प्राण
तिलमिलाने लगते हैं मेरी डायरी के पन्नों पर
दंगल में निराधार हुए शब्द

पकड़ लेते हैं काग़ज़ी पंक्तियाँ
कभी किसी पंक्ति में फँसते हैं
मासूम बेकुसूर शब्दों की गर्दन दबोचते
पुलिस के हाथ
और
मँडराते हैं हर पूर्णविराम के इर्द-गिर्द
अर्थविहीन शब्दों के
बेचैन उद्विग्न संदर्भ
ऐसे में देख कर
इस खुले माहौल में सुगबुगाता तनाव
लग जाता है
कर्फ़्यू
पूरे काग़ज़ पर
और तब
कविता को शीर्षक तक देने की
मुझे मनाही होती है

मराठी से अनुवाद : **अरुंधती देवस्थले**

विवेक मोहन राजापुरे

इंटेंसिव केयर यूनिट

इंटेंसिव केयर यूनिट में
आते हैं शब्द कवि की मदद के लिए
मेहतर रहता है शब्द/नर्स होती है शब्द
स्टेथस्कोप शब्द/शरीर शब्द/कार्डियोग्राम शब्द
कवि को रहता है नाद।
कवि को रहता है अर्थ।
लेता है वह केवल उपचार. . .
शब्दों के एक्स-रे/शब्दों का स्क्रीनिंग चैस्ट/शब्दों का ब्लड टेस्ट।
देखता है वह एकाग्र टँगी हुई पारदर्शी बोतल की ओर
रहता है जिस में प्रचलित संघर्ष का घुला हुआ रसायन।

कवि शब्द शब्द में काँपता है।
बढ़ती है शब्दों की पल्स-रेट।
उस की बैटरी की मानसिक तरंगों में
ओझल होते जाते हैं पंछी।
कवि नकारता है नॉर्मल स्टेट
और बनता जाता है शब्दरूप स्ट्रेचर पर

क्रंमानुसार निराशय बनती जाती है
उस के शरीर से जुड़ी नलिकाएँ।
टँगी हुई बोतल में दिखता है एकाग्र कवि को
सृजनोत्सुक शब्दों का झुंड।
और मिट जाता है कवि धीरे-धीरे कविता की पंक्ति में।

मराठी से अनुवाद : **विजय कुमार**

रवि कुरसुंगे

वस्त्र

मैं ने अपने कपड़ों को
खुद की आँखों से देखा
मटमैली ग़रीबी को मात करते हुए
इंटरव्यू के लिए जाने जैसा।

मैं ने अपने वस्त्रों को
दफ़्तर के आईने में देखा
कारकूनी में बसने वाले
राजपत्रित अधिकार से बहिष्कृत!

मैं ने अपने वस्त्रों को
देखा स्टेशन पर टकरा जाने वाली नज़रों से
तब देखा हरेक की आँख में
छाप सैकिंड क्लास की।

मैं ने पहरावे को अपने

देखा इच्छाओं की रंगोलियों से
और मिटाता चला गया उन्हें अपने पाँव से
जितना संभव हो सका।

मैं ने अपने वस्त्रों को
देखा बर्तनवाली के बर्तनों से
वह बोली, दे दो पुराने हो गए हैं
देती हूँ कटोरी हाथ में समाने वाली।

मराठी से अनुवाद : **विजय कुमार** एवं **सी.बी. कोचले**

अशोक नायगावकर

वे और तू

वे फ़ार्म हाउस
स्वीमिंग पूल
गार्डन झूला

तू म्हाडा* की लाइन में
फ़ॉर्म भर
राह देख लाटरी की

वे कुल्लू मनाली
थ्री स्टार
सिंगापुर बैंकॉक

तू शनि-शिंगणापुर
आटपाडी-वैजापुर
धर्मशाला

वे पीज़ा
चिकन टिक्का
रॉयल चैलेंज

तू बडापाव
भजियापाव
नवटाक**

वे क्रेडिटकार्ड
त्रिभुवनदास***

तू रख
गिरवी घड़ा और गागर
फिर घूम

मराठी से अनुवाद : **विजय कुमार**

---

* महाराष्ट्र हाउसिंग डेवलपमेंट अथॉरिटी; ** देशी शराब; *** एक बड़ा आभूषण विक्रेता

रजनी परूलेकर

मानव के झुंड, शब्दों के झुंड

मनुष्यों के झुंड, शब्दों के झुंड
दफ़्तर, सब्ज़ी बाज़ार, बस की क़तार,
गन्ने का कोल्हू,
शब्द निश्चयात्मक, आग्रहों के :
उन शब्दों के पीछे झाँकती है
सूक्ष्म जलन : सुप्त स्वार्थ,
सहानुभूति
वह भी ग़लत वज़ह के लिए,
कभी चोटग्रस्त आत्माभिमान,
कभी केवल जिज्ञासा :
मानव के मलिन, कंगाल जीवन में
उस से पलभर प्रफुल्लता!

मनुष्यों के झुंड, शब्दों के झुंड.
निश्चयों के, आग्रहों के शब्द
जैसे भरी हुई मटर की फली के
दाँत से काटे हुए दाने :
छिलके का हरा रंग
दानों का हरा रंग
कीड़े का हरा रंग।

प्यास लगती है फिर प्यास
सुजान, निरपेक्ष, भरे हुए शब्दों की प्यास :
गन्ने के कोल्हू के पास गिलास भरते हैं,
ख़ाली होते हैं,
हास्य विनोद. . . वाहनों के भोंपू. . . चुसे हुए गन्ने के अंबार. . .
गिलास फिर भरते हैं. . . प्यास लगती है।

गिलास फिर भरते हैं. . . प्यास लगती है
गिलास का झाग फिर
कोहरे जैसा अनायास फैल जाता है
मनुष्यों के झुंड, वाहनों के भोंपू
लगते हैं तस्वीर सरीखे।

अनुवाद : **विजय कुमार** एवं **सी.बी. कोचले**

वसंत पाटणकर

यह नींद में निश्चल महानगर

पूनम की भीगी ठंड का परिधान धारण कर
यहाँ आया हूँ इस टेकड़ी पर, रात का पिछला पहर,
तटस्थ खड़ा हूँ
दूर पीछे छूट गया है मँडराते शोर का जंगल
लोकल ट्रेन से उतरे बिखरते सिरों का जंगल
कोढ़ियों की गली-सड़ी चंद उँगलियों-सा
और नियॉन लाइट में बेसुरा झूमता जंगल।

ये ऐन सर्दी में नंगे पड़ गए पेड़
मेरे रंध्र-रंध्र में चमक रहे हैं जैसे चाँदनी
चौतरफ़ा पसरे काले-सलेटी क्षितिज पर चमकती है।

दूर समुद्र तरंगित हो रहा है आँखों का
मैं नाप रहा हूँ उन की लक़दक़ और
न ख़त्म होने वाली ललक।

हौले हौले फैल रहा है मैला कोहरा. . .
पथरीली चीज़ों पर, बाँझ राहों पर घना होता हुआ,।

यह नींद में निश्चल महानगर : जैसे एक क़ब्रिस्तान
मटमैले सपनों में लेटा हुआ. .

शाम को अकेले पेड़ पर

शाम को अकेले पेड़ पर हज़ारों चिड़ियों की चहक सुनी जाए
इतनी आतुर थी तू।

तेरे पास आना है मुझे
बारिश में भीगी शाम के मंद उदास प्रकाश में
मैं बाँचूँगा अपनी कविता
बिना तेरी अनुमति के।

उबा देने वाले दिन को टाल कर बतियाना है
आपस में, बाद के बचे वक़्त में।

मैं लौटूँगा तब चहक खो गई होगी अँधेरे में
सब शांत होगा
मेरे क़दमों की आहट के सिवा।

मराठी से अनुवाद : **श्याम विमल**

कोंकणी कविता—अनुवाद : मनोहर राय सरदेसाय

माया सरदेसाय

साया

सूरज और चाँद पुराने हो गए
यहाँ इंसान, इंसान होते हुए भी
पुतले बन गए
कुदरत ने कितनी कुलाँचे लगाईं
शब्दों के ढींग जमा हो गए
उतनी ही दीवारें बन गईं
फूल खिले, और काँटे की दीवारें चुभने लगीं
यंत्रों ने इंसान को निगल लिया
लेकिन, इस धरती का साया
अभी तक आसमान पर नहीं गिरा है
कदाचित् इसीलिए
चाँद और सूरज अपने स्थान से
नहीं हिले हैं

अरुण साखरदांडे

एक पेड़ को घर चाहिए

एक पेड़ हठात्
मेरे घर में घुस आया है
कई बार मैं ने उसे उखाड़ कर
बाहर फेंक दिया
फिर भी बेशरम
दूसरे दिन घर में घुस कर
जड़ें घुसाने लगा।

चार दिन हुए
मैं टी.वी. देख रहा था
आश्चर्य यह कि
पेड़ की एक डाली टी.वी. से बाहर आई
परसों जब पूजाघर में पूजा करने गया था
पूजाघर के आसपास उस की जड़ों का
जाल बिछ गया था
अब हर एक कमरे में टाइल्स फोड़ कर
उस की जड़ें ऊपर आई हैं
मेरे रक्त से संबंधित लोग तो
भाग चुके हैं
आख़िर मैं ने सोचा
उस घर को अपने सीने पर सवार रहने दो।
सो गठरी बाँध कर
मैं ने कहीं जाने का निश्चय किया
जब पौ फटी तब मैं जाग उठा
मैं हिल नहीं पाया
मेरे पैरों से जड़ें बाहर आई थीं
और उन पर कोमल नन्हीं पत्तियाँ
चमक रही थीं

काशिनाथ शांबा लोलयेकार

हम तीन

हम तीन,
पालने में पैर दिखते हैं
इतने हम बड़े,
और इतने छोटे
एक यहाँ
एक वहाँ
एक कहाँ?
अमीबा देख कर मुझे
मुझ में से एक का लगा डर
एक मैं

एक तू
एक कौन?
किस को पता?
कहते हैं ढाक के
तीन ही पत्ते होते हैं
हम तीन
लेकिन तीन में से किसी की भी
शव यात्रा नहीं होती
चौथे के बिना
हम तीन
चारों में

मोहन निराश

एक था ख़ुदा

(एक)
ख़बर है : मारा गया वो।
बस चला जिस का—
उसी ने खाल उस की खींच ली।
मैं—
झुटपुटे में
उस का मुखौटा छीन ले भागा।
चेहरा साफ़ दीखा—
ताँबई था।
पीठ चिकनी थी
सख़्त, सिलसिला सिल का;
खुर जमा कर दौड़ में जूझे रहे
सूर्य के घोड़े;
सिल फैलती गई बेहद
सफ़र होता गया लंबा।
बारंबार मर कर भी—
दिन रहा मुब्तला ज़िन्दगी में।
जीवित रहना क्या ज़रूरी है?
क्या मरने के लिए है रात का होना ज़रूरी?

(दो)
ख़बर है
आज दिन भर खींचता रहा ठेला
और बरसों के पुराने अख़बार ढोता रहा।
कह रहा कोई—
'मेरे सामने पानी पिया उस ने
और पोंछा मुँह दामन से फिरन[1] के।'
दूसरा बोला—

खा रहा था टोप में अपने
तहर-चरवन,[2]
आज काली का दिवस है :

तभी हंगामा मचा—
पकड़ा गया वो
किसी का उयजिहोर[3] उड़ा भागा जा रहा था।
ख़बर है :
गुब्बारों से खेलता रहा देर दिन तक।
ख़बर है :
सिन्दूर मल कर
नंगा बदन बैठा बीच रस्ते में :
'कौन आ कर पशु-बलि देता मुझे?
या कौन कोसता मुझे, देता गालियाँ?'
भागा कि—
जैसे किसी के सिर से भूत उतरे, भाग जाए।
जो चिमटा बैठा
कि जैसे विक्रम की पीठ पर बैताल बैठा प्रश्नवाचक।
नोचता रहा भेजा
परीशां करता रहा,
चिमटा जो चिमट के ही रह गया।
जो कोई जन्मा,
जन्मा उसी के साथ।
खिलौनों में रम गया
गुड्डे-गुड़ियों से नाटक रचाए।
द्वारा तोड़े,
छिप कर धूप की पातियाँ रहा फैंकता
खिड़कियों से,
जवानी के कमल मसलता ही गया
मदमस्त हाथी,
बूढ़ा हो गया
        सठियाया,
और अपनी काया यहीं पर छोड़ कर
रुख़सत हुआ;

मरता रहा जो भी मरा, उसी के साथ।

ख़बर है :
नकारा जिस किसी ने इस सभी को
थोड़ी-सी भी सहमति नहीं जतलाई,
सभी क्रोधित हुए उस पर
उस पर बरसने दौड़े
खाल उस-उस की उधेड़ी गई बेतहाशा।
तो—
बस वह चुप हुआ
उस की अंतिम-यात्रा में हुआ शामिल।
दिया कंधा उसे।

खुदा हो कर भी खुदा से जुदा निकला।
खुदा था किन्तु मुझ-सा हो गया,
जिसे लोग पकड़ ले जाएँगे अभी,
गला घोंट देंगे।

ख़बर है :
साँकल चढ़ा देंगे अभी कमरे की
करेंगे बंद मुझ को।
मुझ से जिरह होगी :
जो हो चुका
और जो होगा
सभी कुछ पूछ बैठेंगे।

ख़बर है :
यह जो हुआ—
कल हुआ था,
हुआ थोड़ी देर पहले,
अभी बस अभी हुआ
जो कुछ हुआ,
कल यही होगा, कुछ ऐसा ही हो कर रहेगा।

ख़बर है :
खुदा मारा गया
कभी दफ़नाया गया
कभी अग्नि को सौंपा गया

और कल होने से पहले, बहुत पहले
रातों-रात
उस का अस्तित्व क्या—
नामो-निशां मिटा कर
—चल दिए सारे।

बे-सहारे

अनुवाद : **स्वयं कवि**

---

[1] फिरन : कश्मीरियों का लंबा कुर्ता-नुमा एक विशेष पहनावा।

[2] तहर-चरवन : तांत्रिक शक्ति पद्धति के अनुसार काली माता के नाम से बाँटा गया प्रसाद। हल्दी डाल कर पीला भात एवं मांस।

[3] उयजिहोर : कश्मीरी पंडिताइनियों का एक विशेष मंगलाभूषण जो कान में लंबा लटकता रहता है।

हिन्दी कविता

रश्मि धवन

अस्तित्व

मैं स्वयं तो एक बूँद हूँ
न जाने किस ने और कब
मुझ में सागर उँड़ेल दिए
उन अथाह गहराइयों को नापती
थकती बदहवास हो काँपती
भयभीत-सी डूबती-उतराती
हाथ लगती एक सीप ख़ाली
सार्थक हुआ सब श्रम मेरा?
मैं स्वयं तो एक बूँद हूँ
सीप की स्वीकृति वांछित
मुक्ता बनना यदि नियति मेरी
नहीं
मैं तो केवल एक बूँद हूँ
मुझ में सागर न उँड़ेलो
मेरी सीमा को न तोड़ो!

प्रेमशंकर रघुवंशी

धनपाड़ा (18)

हम तीनों दोस्त
घंटों नहाते रहे थे हम
धनपाड़े के नाले में उस वक़्त
उस वक़्त हम
झरने थे झरने
बाहर-भीतर प्यार से छलकते हुए
अब एक छलछलाती याद की तरह
हमारे साथ
घर तक आ गया नाला
ये शहर जब भी कीचड़ उछालता है
हम अपने मन के
इसी नाले में धँस कर नहाते हैं।
['धनपाड़े का नाला' शीर्षक लंबी कविता का अंतिम अंश]

मैथिली कविता

शेफालिका वर्मा

इतिहास हूँ

मैं आप के बीते युग का इतिहास हूँ
अश्रु पलक से झरती
नव विहान की नई आस हूँ

मंदिर वायु-वेग में
गुंजित थे गान-तान
अशेष सुरभि रेग में
हरसिंगार बने प्राण

रहा क्रूर काल इस वसुधा के जीव पर
मनुज किन्तु मनुज थे प्रीति सरोवर के तीर पर
विश्वास का वचन लिखा आखर के फूल पर
उन्मुक्त हृदय कपाट, व्यथा वेदना के शूल पर
आज मैं नीर-क्षीर से भरा आप के विवेक का इतिहास हूँ
अश्रु पलक झरती
नव विहान की नई आस हूँ

आप शब्द की दीवार गढ़ते रहें
भाव बन कर आऊँगी मैं ही
भूख-प्यास संत्रास में
टूटती ज़िन्दगी के ताप में
छाय। बन कर ममता का गीत गाऊँगी मैं ही
भरा है नीर मेरे नयनों के दीप में आप के स्नेह का
रची है साँस आप के अंतस् की ज्वाला में मेरे प्रीति की
पतझड़ की बयार में गाता, मैं आप का मधुमास हूँ
अश्रुपलक से झड़ती नव विहान की नई आस हूँ।

अनुवाद : **देवशंकर नवीन**

पंजाबी कविता

सुखचैन मिस्त्री

गाँव : जंग की एक शाम

सूरज पश्चिम में दम तोड़ गया है
आकाश में तैर रही हैं गुलनार बदलियाँ
अँधेरे में स्याह हो गए हैं पेड़ों के आकार
सितारे उलझ गए हैं उदास चाँदनी में
किसी खेत मज़दूर के हुक्के से बँधा चिमटा खटखटाता है
या सरहद की साँप जैसी जीभ पर आग बरसती है
हवा में दो बोल उदासी तिरती है

युद्ध से अभिशप्त हैं पेड़ों की परछाइयाँ
चाँदनी में अपनी नन्हीं-सी परछाईं प्यारी लगती है

गाँव की 'फिरनी' पे आँसुओं से
भीग जाता है किसी का सुर्ख़ 'सालू'
रेडियो करता है नश्र ख़बरें मौत की
या किसी खेत मज़दूर के हुक्के से बँधा चिमटा खटखटाता है

फ़िज़ा में फैल गई है उनाबी बारूद की बू
गाँव की भट्टी पे कुरमुरे दाने नहीं भुनते
बंतू नशेड़ी की न सिग्रेट सुलगती है न बात चलती है
न किसी गृहिणी के 'हाटे' में आग सुलगती है
सहमी हुई सड़क ठिठक कर पानी के कुँओं के नज़दीक से
दूर तक फैल जाती है बंजर धरती के सीने पे

गाँव के आसमान में थाली जित्ता चाँद चढ़ा है
मगर गाँव सो गया है ले अँधेरे का कफ़न
जड़ों वाले बूढ़े बट वृक्ष की फैली पीले पत्तों वाली
टहनियों के नीचे 'मिर्ज़ा' सुनने आई चाँदनी
बुझे अलाव देख कर लौट गई है
रेत के टीलों में भटक रही है
उदराई फ़सलों को दिलासे देती हुई

युद्ध ने सुला दी है चलते रहटों की रीं रीं
और 'कुतों' की टक-टक
किसी खेत मज़दूर के हुक्के से बँधा चिमटा खटखटाता है
या साँप की जीभ जैसी सरहद पे आग बरसती है
हवा में दो बोल उदासी तिरती है।

स्वयं कवि द्वारा पंजाबी से अनूदित

ओड़िया कविता

सौभाग्यवंत महारणा

मायामृग

हमारे ललाट पर ही है लिपिबद्ध
मायामृग के पीछे भागने का
प्रागैतिहासिक विश्वास।

कुछ पा जाने के मोह में
हम ने खो दिए हैं खुद के
परिचय और
अपनी-अपनी सभ्यता की पूँजी।
अविश्वास के अमोघ अस्त्र से
कभी-कभार विदीर्ण हो जाता है
अपना अहं-पुरुष का क्लीव शरीर।

हड्डियों के अरण्य में
हम ने छिपा दी है
अपनी अनमोल सुरक्षा
कुछ-कुछ औद्धत्य और मौलिकता।
प्राचीन असहायता में कभी भी हम ने
अपने भाग्य के विडंबन के साथ
न किया साहस
वक्षस्थल को बेधते समय।

गोपन साम्राज्य का नायक बन
रुद्ध अँधेरे को भर लिया है बाँहों में
ढूँढ़ने को चाँदनी रात के सपने।
हम करते जा रहे हैं अपने को विलग
इस माटी के नक़्शे में
खुद अपने व्यक्तित्व का रंग चढ़ाए
करने को तर्जुमा आगामी इतिहास का।

उस मायामृग के पीछे भागना ही है
लोभ अपनी अंधी परंपरा का

और वही पुनःपौनिक आदत है
घुप्प अँधेरे में
चाँदनी रात के स्वप्नलोक की
शाश्वत तलाश जारी है हमारी
अनंत प्रारंभ से।

अनुवाद : **श्रीनिवास उद्‌गाता**

क़ादिर ज़मां

पाड़ा

माँ को मरे कितने बरस बीत गए, लेकिन मेरी धरती तो अब भी ज़िन्दा है। मैं तो माँ की बात कर रहा था। मेरी अपनी माँ, धरती भी मेरी अपनी ही है। अपनी माँ और अपनी धरती।

माँ को मरे हुए दस-बीस बरस बीत गए कि पच्चीस या शायद पचास लेकिन माँ तो उसी वक़्त मर चुकी थी, जब उस ने जन्म लिया था। इसलिए कि इस पाड़े की छाया मुझ पर बहुत ज़्यादा पड़ गई थी, जिस ने मेरी ही तरह हमारे घर में जन्म लिया था। उस की माँ और माँ की माँ, इन सब का सिलसिला हमारी ही धरती से जुड़ा हुआ था। कोई कहता कि एक गाय हमारे दादा ने उत्तर के किसी इलाक़े से ख़रीदी थी। कोई कुछ और कहता है।

कभी-कभी बात परदादा और उन से भी आगे चली जाती। मैं 'आगे' और 'पीछे' के चक्कर में नहीं पड़ूँगा। मुझे तो इस वक़्त उस पाड़े के तौर-तरीक़े के बारे में ग़ौर करना है, जिस की छाया मुझ पर पड़ी है और जो मेरे दिमाग़ से चिपका हुआ है। उस की नानी या नानी की नानी कहीं से भी लाई गई होगी या आई होगी।

मैं ने इतना प्यारा पाड़ा बहुत कम देखा है। सफ़ेद, मलगजा रंग—उभरी हुई कोहान, चौड़ी-चौड़ी पीठ, गोल-गोल सींग और पतली-सी दुम। बहुत ज़्यादा ख़ूबसूरत न सही, लेकिन लगता था कि उस में हर चीज़ उचित अनुपात में है। मुझे इस बात पर आश्चर्य रहा है कि जब वह बछड़ा था, तब भी वो दूसरे बछड़ों की तरह शरारती न था। माँ का दूध पीने के लिए भी उस ने कभी ज़्यादा शरारत नहीं की, हालाँकि दूध पीना इस का हक़ था।

'पाड़ा, देखो कितना प्यारा पाड़ा है ये'—हर व्यक्ति के मुँह से यही निकलता। हम सारे भाई-बहन और सभी घरवाले उन बैलों को पाड़ा ही कहते, जिन्हें अभी हल में जोता न गया हो। कुछ दिनों बाद जब वह पूरी तरह काम में लग जाते तो फिर उन की गणना भी बैलों में होने लगती। पहली बार मुझे इस पाड़े के बारे में उस वक़्त आश्चर्य हुआ, जब उस की गर्दन पर एक लकड़ी बाँध दी गई तथा उस के साथ एक सीनियर बैल जोड़ दिया गया। हम सब सोचते थे कि पाड़ा लकड़ी तोड़ कर भागेगा, परंतु उसने उछलकूद भी नहीं की और अपने सीनियर साथी के साथ ऐसे चलने लगा जैसे यह इस का काम ही तो है। तभी मेरे दादा ने कहा था, 'यह बहुत बुद्धिमान पाड़ा है। जैसे-जैसे दिन बीतते जाएँगे, इस के गुणों में निखार आता जाएगा।' कुछ ऐसा संयोग हुआ कि थोड़े ही दिनों बाद उसे हल में जोत दिया गया और ख़ुश्क़ी हो या तरी, अपने साथी बैल के साथ इस तरह हल पर चलने लगा जैसे पहले ही से सधा-सधाया हो। फिर क्या था, कभी उसे मोट पर तो कभी रहट से बाँधा गया। कभी सवारी की गाड़ी

में तो कभी खाद ढोने वाले ठेले में जोता गया। वह हर बैल का साथ देता। यह बहुत अजीब बात थी कि वह न कभी दूसरे बैल से कभी पीछे रहता और न आगे बढ़ने की कोशिश करता। इस की विशेषताओं को समझ कर हमारे दादा ने, जो हमारे ख़ानदान के मुखिया थे, उस के बाँधने का विशेष प्रबंध कर दिया। विशेष क्या, सिर्फ़ यह कि बैलों के कोठे में जो जगह कुछ ऊँची थी, उस तरफ़ एक खंभा था, इसी खंभे से उसे बाँध दिया जाता। प्रायः दादाजी वहाँ पहुँच जाते। उन के हाथ में पाड़े को खिलाने के लिए कुछ-न-कुछ होता। मैं ने यह भी महसूस किया कि कभी-कभी वह पाड़े के बहुत क़रीब जाते और उसे इस तरह खिलाते, जैसे दूसरे सब बैलों की नज़रों से छिपा रहे हों। यह पाड़ा अभी अपनी जवानी के आरंभिक दौर में ही था कि दादा ने कुछ सफ़ेद कौड़ियों को एक गंडे के साथ लड़ी में पिरो कर उस के गले में डाल दिया। यह उन्हीं दिनों की बात है जब मेरी माँ ने भी एक तावीज़ मेरे गले में बाँध दिया था, ताकि भूतप्रेत से बचा रहूँ। मैं भूतप्रेत के साए से तो बचा रहा, लेकिन मुझ पर उस पाड़े का साया पड़ गया। जब भी उस पाड़े की तारीफ़ होती तो घरवाले मेरी भी प्रशंसा करने लगते। कभी-कभी कोई मामा या चाचा तारीफ़ कर देते, 'यह तो हमारे पाड़े पर गया है। इतना सीधा-सादा आज्ञाकारी बच्चा तो हमारे परिवार में नहीं है। हर घर में एक भी लड़का ऐसा निकल जाए तो घर के सारे काम सँभल जाएँ।' ये बातें सुन-सुन कर मैं भी पूरी कोशिश करता कि पाड़े के सारे गुण मुझ में आ जाएँ। अतः हुआ भी यही। ख़ैर, क्या हुआ और क्या नहीं हुआ, इस पर इस वक़्त आप ध्यान न दें।

एक दिन हम को कुछ दूर के सफ़र पर जाना था। वापसी तक रात होने का डर था। दादाजी ने कहा, 'तुम लोग आज बैलों के गले में घुँघरू बाँध दो। रात में घुँघरुओं की आवाज़ अच्छी लगेगी। दूर से ही घरवालों को पता लग जाएगा कि तुम लोग वापस आ रहे हो।'

घुँघरुओं की दो लड़ियाँ आईं। वो बैल जो ज़रा सीनियर था, घुँघरुओं की आवाज़ पर चौंक कर उछलने-कूदने लगा। परंतु हम सब का प्यारा पाड़ा अपनी जगह ख़ामोश खड़ा रहा, हालाँकि घुँघरू दोनों ही बैलों के गले में पहली बार बाँधे जा रहे थे। शायद हमारे इस पाड़े को पहले से ही मालूम था कि घुँघरुओं की माला इस की गर्दन में ख़ूब सजेगी और इन की आवाज़ भी बहुत सुहानी होगी; मानो वह जन्मजात दूरदर्शी था!

पाड़े को जब मोट पर बाँधने की बारी आई तो दूसरे बैलों की तरह इस पाड़े की कमर पर भी रस्सी डाल दी गई। मैं देख चुका था कि दूसरे बैल भाग निकलने की पूरी कोशिश करते थे और उन्हें रस्सियों में दोनों तरफ़ से कस दिया जाता था। इधर-उधर से खींच कर उन्हें ज़मीन पर गिराना पड़ता था। परंतु हमारे पाड़े की कमर पर रस्सी अभी कसी भी नहीं गई कि वह धड़ाम से ज़मीन पर गिर गया। इस के पाँव और गर्दन में अलग-अलग रस्सियाँ बाँधी गईं और थोड़ी ही देर में इस के नथुनों में एक सूराख कर दिया और इस के अंदर डोरी बाँध दी गई। इस डोरी से नाथे जाने वाले सब बैलों में सब से पहले हमारा पाड़ा ही था। दादाजी की यह बात कि पाड़े की नाक में डोरी होनी चाहिए, मेरी समझ में नहीं आती थी, क्योंकि हमारा पाड़ा तो नथ के बिना ही मोट पर दूसरे बैलों के साथ आगे-पीछे चलने में आना-कानी नहीं करता था। लेकिन दादाजी अधिक अनुभवी थे, उन्होंने हम सब से कहा, 'देखो जी, बैल तो बैल ही होता है, भले ही वह ज़रा भी नुकसान न पहुँचाए, लेकिन इस पर पूरा भरोसा कभी मत करना।'

पाड़ा जब मोट पर बाँधा गया तो मैं भी कुएँ पर पहुँचा। पाड़े को न आगे चलने के लिए हाँकने की ज़रूरत थी, न पीछे लाने के लिए पगा खींचने की। आगे चलते हुए गर्दन को झुकाना और पीछे आते हुए गर्दन ऊँची करना—यह उन तौर-तरीक़ों से अच्छी तरह परिचित था। इस से न मोट चलाने वाले को तकलीफ़ हुई और न कोई कष्ट हमारे पाड़े को हुआ।

दादाजी ने जब पाड़े में इतनी विशेषताएँ देखीं तो उन्होंने कह कर एक ख़ास क़िस्म का फुँदना बनवाया। चमड़े और रेशम के धागे गुच्छे की शक्ल में पाड़े के माथे पर बाँधे गए तो पाड़े का रूप और भी निखर आया। पहले तो पाड़े ने अपने सिर को आगे-पीछे किया, लेकिन जब उसे अच्छी तरह पता चला कि फुँदना उस की आज्ञाकारिता और विशेषताओं का प्रमाण है, तो वह भी अपनी कृतज्ञ नज़रों को घुमा-घुमा कर देखता रहा, और जब इसे वहाँ से हाँका जाने लगा तो उस की चाल की गंभीरता पहले से कई गुना बढ़ गई। पता नहीं क्यों, वह धीरे-धीरे चल कर दादाजी के क़रीब पहुँच गया और उन की हथेली चाटने लगा। दादा ने तुरंत घर के अंदर से गुड़ का ढेला मँगवाया और पाड़े के मुँह में रख दिया। गुड़ चबाते हुए पाड़े के मुँह से लार टपक रही थी।

उन्हीं दिनों मेरी माँ ने मेरे लिए एक मिस्री टोपी मँगवाई। सारे घर में मैं ही तो एक आज्ञाकारी लड़का था और दादाजी के पदचिह्नों पर चलने का दायित्व मुझ पर ही आन पड़ा। मैं ने शिकायत की, 'माँ, मेरी टोपी का फुँदना इतना ख़ूबसूरत नहीं है जितना पाड़े का।' माँ ने कहा, 'बेटा, अभी तो तुम बच्चे हो। बड़े होते-होते तुम्हें और भी बहुत-सी अच्छी-अच्छी चीज़ें मिलेंगी। इस समय तो यह छोटी-सी लाल टोपी तुम्हारे लिए इसलिए मँगवाई है कि तुम सब बच्चों में अलग से पहचाने जाओ।' यह सुन कर मैं बहुत खुश हुआ। बड़ों की बात मानने की मुझे बचपन से आदत हो गई और इस के बदले में मुझे हमेशा बड़े-बड़े पारितोषिक मिले और मैं प्रसन्न रहा।

एक मामले में पाड़े के साथ बहुत अन्याय हुआ, लेकिन मैं बड़ा भाग्यवान रहा। वैसे इस मामले में हम दोनों में कुछ समानता भी नहीं थी। पाड़े को काम पर लगे कुछ महीने हो गए थे। पड़ोस के गाँव से दो आदमी बुलाए गए। उन के साथ दो-दो फुट की बेलननुमा दो लकड़ियाँ थीं। एक और मोटी-सी लकड़ी अंदर से खोखली थी और इस के मुँह पर ढकना लगा हुआ था। मानो इस में शराब या दवा-जैसी कोई चीज़ हो। पाड़े की कमर पर रस्सियाँ डाली गईं और वह फिर एक बार चुपके-से ज़मीन पर आ रहा। उस के चारों पाँव बाँध दिए गए। पाँव के बीच में एक ओर लकड़ी डाल दी गई जो पाड़े की गर्दन के ऊपर से कुछ आगे निकल गई और एक आदमी लकड़ी को मज़बूती से थामे इस के ऊपर बैठ गया। बाहर से आए हुए दोनों आदमियों ने बेलननुमा लकड़ियों को पाड़े की पिछली टाँगों में जकड़ दिया और उन के बीच में पाड़े के खुसिए अटका दिए गए। फिर उन्हें दबा-दबा कर बेलनों के आर-पार किया। दो-तीन बार ऐसा ही किया गया तो पाड़े के मुँह से कफ़ निकलने लगा, ज़बान बाहर आ गई, आँखें लाल-सुर्ख़ हो गईं और उन में से पानी बहने लगा। पाड़े के हलक़ से हल्की-हल्की कुछ आवाज़ें भी निकलीं। लेकिन वो तो इतना बेबस था कि अगर वो इन जकड़ -बंदियों से निकलना भी चाहता तो दादाजी सामने ही खड़े थे।

जो होना था, हो चुका। फिर जो शराब या दवा थी, उसी हालत में पाड़े को पिलाई गई। धीरे-धीरे लकड़ियाँ हटा ली गईं और रस्सियाँ खोल दी गईं, लेकिन फिर भी पाड़ा देर तक वहीं पड़ा रहा। बड़ी मुश्किल से जब वह उठ कर खड़ा हुआ तो उस के पाँव लड़खड़ा रहे थे। दादाजी ने क़रीब आ कर उसे सहारा दिया, मानो कह रहे हों, 'आज से तुम अपनी रही-सही चौकड़ी भी भूल जाओगे, परंतु तुम ने अपनी मज़बूती का सबूत दिया है और तुम हमारे ख़ास अंग बन गए हो। चिन्ता न करो, तुम्हारा समय आने तक तुम्हारी खूब देखभाल होगी।'

मुझे गाँव छोड़े अरसा बीत गया। न जाने उस पाड़े का क्या हश्र हुआ। उस लंबे अरसे में गाँव के कई लोग एक-एक करके इस संसार से चलते बने। माँ को मरे इतने बरस हो गए कि मुझे अब इस का हिसाब भी याद नहीं। मैं तो अपना गाँव भूल चुका हूँ, लेकिन अपनी विशिष्टताओं के कारण एक बड़ी हैसियत का मालिक हूँ।

मेरी माँ तो मर गई, लेकिन धरती अभी मरी नहीं। वो अभी भी ज़िन्दा है और मेरे साथ वो ज़्यादती भी नहीं हुई जो हमारे पाड़े के साथ हुई थी और मैं अपने दादाजी के गुणों पर गया।

उर्दू से अनुवाद : **ओम प्रकाश शर्मा**

शमोएल अहमद

बहराम का घर

अब आँगन में पत्ते नहीं सरसराते थे। दरो-दीवार पर किसी साए का गुमान नहीं गुज़रता था। बुढ़िया के आँसू अब खुश्क हो चुके थे। वह अब रोती नहीं थी। बेटे का ज़िक्र भी नहीं करती थी। वह अब दूर शून्य में कहीं तकती रहती थी। कभी-कभी उस के दिल में हूक-सी उठती तो 'हाए मौला!' कह कर चीख़ उठती और फिर ख़ामोश हो जाती। पास-पड़ोस वाले भी अब उस से बेटे की बाबत कुछ पूछते नहीं थे।

उस दिन भी वो 'हाए मौला!' कह कर चीख़ उठी थी। फिर दो हत्थड़ सीने पर मारे थे और बेहोश हो गई थी। शहर में दंगा उसी दिन भड़का था और बेटा घर लौट कर नहीं आया था। जब वो दूसरे दिन भी घर नहीं लौटा तो बुढ़िया बेतहाशा 'नेकनाम शाह' के मज़ार की तरफ़ दौड़ पड़ी थी।

बेटे को जब भी कुछ होता, तो वो नेकनाम शाह का मज़ार पकड़ लेती। यह नेकनाम शाह का ही आशीर्वाद था कि बीस साल पहले उस की गोद भरी थी, जबकि वो कहाँ-कहाँ नहीं भटकी थी! किस-किस के मज़ार पर चिल्ला नहीं खींचा था! कैसी-कैसी मिन्नतें नहीं मानी थीं! अंततः नेकनाम शाह की दुआ रास आ ही गई और उस की गोद में चाँद उतर आया। तब से वो हर जुमएरात को मज़ार पर अगरबत्ती जलाती आई थीं और अपने बेटे के सुखी और संपन्न होने की दुआ माँगती रही थी।

लेकिन उस दिन आसमान का रंग गहरा सुर्ख़ था और ज़मीन तंग हो गई थी। वो मज़ार तक नहीं पहुँच सकी थी। दंगाईयों ने उसे रास्ते में घेर लिया था। उस पर ज़ोरदार वार भी हुए थे। बुढ़िया सख़्त जान थी। मरी नहीं। छुरे के गहरे ज़ख़्म के बावजूद ज़िन्दा रही। पुलिस गश्ती दल ने उसे इसी हालत में अस्पताल पहुँचा दिया था। बुढ़िया अस्पताल से अच्छी हो कर आ गई, लेकिन बेटा नहीं आया। वो दीवानों की तरह सब से उस का पता पूछती रही। मुहल्ले की औरतों से लिपट कर रोती रही। मज़ार पर सर पटकती रही। लेकिन...

तलाश मरती नहीं है... तलाश आँखों में रहती है... आँखों से गुज़रती हुई दिल की गहराइयों में उतर जाती है, तब आँखें दूर शून्य में कहीं तकती रहती हैं और बुढ़िया की आँखें...

मुहल्ले-टोले को चिन्ता थी कि बुढ़िया का क्या होगा? एक ही बेटा था... भरी जवानी में उठ गया... कम-से-कम लाश भी मिल जाती तो सब्र आ जाता... और अगर यह प्रमाणित हो जाता कि दंगे में मारा गया है तो हरज़ाने की रक़म भी मिल जाती... मामला एक लाख रुपए का था... रिश्तेदारों को चिन्ता हुई कि लाश का क्या

हुआ...?

माँमू ने थाने में रिपोर्ट दर्ज करा दी। सनहा में बताया गया कि उस दिन उस ने घर से बाँका के लिए प्रस्थान किया था। सुर्ख़ रंग का शर्ट और सियाह पतलून पहने था। दाएँ हाथ की उँगली में एक सोने की अँगूठी थी, जिस में अंग्रेज़ी का अक्षर 'ए' उभरा हुआ था।

शहर में जैसे-तैसे शांति लौटने लगी। इधर-उधर से ख़बरें भी मिलने लगीं। किसी ने बताया कि उस दिन वो अलीगंज में देखा गया था। दोस्तों ने बहुत रोका... आगे मत जाओ... ख़तरा है... लेकिन वो यही कहता था कि कुछ नहीं होगा... वो रात बहराम के यहाँ रुक जाएगा और सुबह तड़के अपने घर चला जाएगा...

फिर ख़बर मिली कि डी.वी.सी. चौक के पास बलवाइयों ने उस को घेर लिया था। मुहल्ले वाले भाग कर बहराम के घर में छुप गए थे। लेकिन वो... बताने वाले ने उस के सुर्ख़ रंग की शर्ट और काली पैंट के ज़िक्र के साथ उस के हाथ में एक ब्रीफ़केस होने की बात भी कही... फिर यह कहते-कहते रुक गया कि लाश चौक के पास ही एक कुएँ में...

माँमू ने डी.वी.सी. चौक के आसपास कई चक्कर काटे। फिर चौक के उत्तर की ओर जाने वाली सड़क पर दूर तक तकते गए... एक जगह उन का माथा ठनका... आम के बाग़ीचे के पास एक कुएँ की मुँडेर पर दो-चार गिद्ध मँडरा रहे थे... उन्होंने पास जा कर कुएँ में झाँका तो बदबू का एक भभका-सा आया। एक गिद्ध उड़ कर पेड़ पर बैठ गया। आसपास के मकानों की खिड़कियाँ खुल गईं। राहगीर रुक कर देखने लगे। फिर वे धीरे-धीरे आपस में बातें करने लगे तो मामू को महसूस हुआ कि तनाव फैलने लगा है... वो वहाँ से हट गए।

मुहल्ले में यह ख़बर आग की तरह फैल गई कि लाश मिल गई है... औरतें बुढ़िया के घर जमा हो गईं। ममानी चीख-चीख कर रोई... सिर के बाल नोचे... बुढ़िया बस शून्य में तके जा रही थी...

मामूँ ने थाने में अर्ज़ी दी कि लाश का पता चल गया है और लाश बरामद होने पर इलाक़े में तनाव फैल सकता है। इसलिए पुलिस की एक टोली साथ जाए ताकि लाश कुएँ से बाहर निकाली जा सके। एस.पी. ने एक-दो दिन टाल मटोल किया और फिर इजाज़त दे दी और एक हवलदार और कुछ कांस्टेबुल साथ कर दिए।

मामूँ कुएँ पर पहुँचे। साथ कुछ एक रिश्तेदार और मुहल्ले के कुछ नौजवान भी थे। मज़दूरों को भी साथ लिया गया। ठर्रे की बोतलें भी ली गईं। कुएँ पर पहुँच कर सब ने एक साथ अंदर झाँका।

'बहुत बदबू है।'

'साहब...! ठर्रा निकालें...' एक मज़दूर बोला।

मामूँ ने झोले से ठर्रे की बोतल निकाली।

'मॉब (भीड़) ने उसी चौक पर घेरा था,' एक रिश्तेदार ने सामने इशारा किया।

'दोस्तों ने बहुत रोका, लेकिन...'

'वो घर से बाहर क्यों निकला?...'

'बाँका जाने की क्या ज़रूरत थी...?'

मज़दूर ठर्रा पी कर कुएँ में उतरे।

'जनावर है,' एक मज़दूर वहाँ से चिल्लाया।

'जनावर कहाँ से आ गया?'

मामूँ झल्ला कर उठे। एक बार फिर सब ने एक साथ कुएँ में झाँका।

'कोई बीगा होगा साहब,' दूसरा मज़दूर बोला।

'जानवर है ही।'

'सुअर मरल बा।'

मामूँ ने ग़ौर से देखा-सुअर ही था। यह तो सरासर बदमाशी है।

एक रिश्तेदार ने आसपास के मकानों की तरफ़ देखा। ये लोग नहीं चाहते कि लाश निकाली जाए। लाश निकल गई तो सब फँस जाएँगे।

कोई फँसता-वसता नहीं है। आज तक नहीं सुना कि किसी दंगाई को फाँसी हुई है।

'साहब पहले सुअर निकालै के पड़ी।'

'सुअर नहीं... पहले लाश निकालो।'

'लाश का कुछ पता बा...'

एक मज़दूर ने नीचे रस्सी लटकाई। औरतें छत पर चढ़ कर देखने लगीं। एक सिपाही खैनी मलने लगा।

'बेचारे की हाल में मँगनी हुई थी।'

'वो घर से बाहर क्यों निकला...'

'जब जानता था कि शहर में तनाव है?'

'क्या मालूम था दंगा उसी दिन भड़केगा!'

'मौत थी!'

'क़िस्मत का लिखा... बुढ़िया बच गई... एकलौता जवान बेटा उठ गया।'

मामूँ ने सर्द आह ली।

'बहुत कचरा है अंदर,' मज़दूर कुएँ के अंदर से चिल्लाया।

मामूँ कुएँ के पास गए। मुहल्ले के एक नौजवान ने आहिस्ता से पूछा।

'ठीक पता है कि लाश इसी कुएँ में...?'

मामूँ ने हाँ में सिर हिलाया। फिर आह भरते हुए बोले, 'ज़ालिमों ने टुकड़े-टुकड़े करके फेंका है।'

'अलीगंज में ही रुक जाता!'

'मौत खींच लाई।'

'कहता था बहराम के घर जाऊँगा। ...बेचारा चौक पर ही पकड़ा गया।'

सिपाही ने खैनी की ताल दी तो एक कौआ पेड़ से उड़ कर सामने एक मकान की छत पर बैठ गया।

नीचे जो मज़दूर था, उस ने सुअर की टाँगों को रस्सी से बाँधा। लेकिन ऊपर से खींचते नहीं बन पड़ा, तब एक और मज़दूर नीचे उतरा। दोनों ने मिल कर सुअर को ऊपर उठाया। शेष मज़दूरों ने कुएँ की मुँडेर पर खड़े हो कर रस्सी ऊपर की तरफ़ खींची। सुअर की लाश कुएँ से बाहर आई तो पेड़ पर कौओं का शोर बढ़ गया। सुअर का पेट फूला हुआ था।

सड़क की तरफ़ से एक कुत्ता भागता हुआ आया और पास आ कर भौंकने लगा। 'हश्श...', सिपाही ने ज़ोर से एक पाँव ज़मीन पर पटका। कुत्ता कुछ दूर पीछे हटा और फिर भौंकने लगा। सिपाही ने झुक कर एक पत्थर उठाया तो कुत्ता भाग कर सड़क पर चला गया और वहाँ से ज़ोर-ज़ोर से भौंकने लगा। कचरा बाहर निकालने के लिए एक टोकरी नीचे लटकाई गई। मामूँ ने बीड़ी सुलगाई और ज़मीन पर बैठ कर दम मारने लगे।

कचरे की सफ़ाई में एकाएक क़मीज़ बरामद हुई। क़मीज़ के साथ लिपटा हुआ हाथ का एक बाज़ू भी था। सभी चौंक कर देखने लगे। क़मीज़ कीचड़ में सनी हुई थी। ख़ून के धब्बे जगह-जगह सियाह हो गए थे। मामूँ ने ध्यान से देखा। क़मीज़ का रंग सुर्ख़ मालूम हुआ। 'पतलून भी होगी', एक रिश्तेदार बोला।

'पंजा देखो... पंजा...'

'बाजू के साथ पंजा नहीं है,' मामूँ ने कुएँ में झाँक कर कहा।

हवलदार ने आदेश दिया कि बाज़ू और क़मीज़ को कीचड़ से अलग रखा जाय। मामूँ ने चादर बिछाई और लकड़ी के एक... टुकड़े से क़मीज़ को बाज़ू समेत उठा कर चादर पर रखा।

कचरे की टोकरी फिर बाहर आई तो एक कटी हुई टाँग बरामद हुई।

'पंजा कहाँ गया...?' मामूँ ने फिर कुएँ में झाँक कर कहा।

'अंदर धँस गया होगा। थोड़ी अंदर सफ़ाई की ज़रूरत है।'

'थोड़ा और कचरा बाहर निकालो।'

'इस बार कचरे के साथ पंजा बरामद हुआ। मामूँ ने देखा। पंजा ही था, लेकिन अँगूठी नहीं थी। उँगलियाँ मुड़ी हुई एकदम सियाह हो रही थीं। 'अँगुली नहीं है', मामूँ आहिस्ता से बड़बड़ाए।

'वह तो बाएँ हाथ का पंजा है।'

'दाएँ हाथ का पंजा कहाँ गया?'

'अंदर सुझाई नहीं देता है साहब।'

मामूँ ने बेचैनी से इधर-उधर देखा। शाम हो चली थी। सारा समय तो सुअर निकालने में नष्ट हो गया था।

'देखो, कोशिश करो, दाएँ हाथ का पंजा चाहिए।'

'अब चलिए,' हवलदार ने डंडे से इशारा किया।

'हवलदार साहब थोड़ी और कोशिश करने दीजिए!' मामूँ ने फिर कुएँ में झाँका। मज़दूर बाहर निकल रहे थे।

'क्या हुआ...?'

'अब टाइम नहीं है।'

'पंजा ज़रूरी है।'

'अंदर सुझाई नहीं देता है, तो क्या करें?'

'चलिए...,' हवलदार ने ज़मीन पर डंडा खटखटाया।

मामूँ ने चादर समेटी। सब जीप पर बैठे। जीप आगे बढ़ गई। एकाएक चौक पर बुढ़िया नज़र आई। मामूँ को हैरत हुई। जीप रुकवाई और झुँझलाते हुए नीचे उतरे। बुढ़िया किसी से कुछ पूछ रही थी।

'तुम यहाँ क्या कर रही हो बुआ?' मामूँ ने पास जा कर कहा।

'ज़रा बहराम का घर देखती...!'

'अब बहराम का घर देख कर क्या होगा?' मामू की झुँझलाहट बढ़ गई।

'ज़रा देखती... कितनी दूर उस का घर रह गया था???'

मामूँ ने चेहरे का पसीना पोंछा। बुढ़िया हसरत से इधर-उधर ताक रही थी... और देखते ही देखते उस की आँखों में बुझी हुई लौ का धुआँ तैरने लगा।

उर्दू से अनुवाद **स्वयं लेखक** द्वारा

ओबैद क़मर

मुजरिम

वह एक ऐसे मकान में रहता था, जहाँ निचले तबक़े के लोग एक-एक कमरे में सपरिवार रहते थे। घर से ख़फ़ा हो कर हफ़्तों स्टेशन पर रात गुज़ारने के बाद एक प्राइवेट फ़र्म में उसे नौकरी मिल गई थी और साथ ही ख़स्ताहाल-सी इमारत में एक कमरा भी। जब वह यहाँ आया था, पूरा मकान ख़ाली था। आहिस्ता-आहिस्ता लोग बसते गए और इमारत भरती गई। अच्छे ख़ानदान का होते हुए भी वह इन फटेहाल लोगों में घुल-मिल गया था। फ़ुरसत के लम्हों में किताबों को उलटते-पुलटते रहने के कारण उन लोगों ने उसे मास्टर साहब का नाम दे रखा था। तमाम लोग उस से मामूली रक़म क़र्ज़ लेते रहते, जो देर-सबेर अदा हो जाती। ज़्यादातर औरतें ही उस से रुपए माँगतीं। कभी गिड़गिड़ा कर और कभी मुस्कुरा कर।

मर्द अपने-अपने काम से वापस आ कर अपने-अपने नशे में खो जाते। गाली-गलौज का बाज़ार गर्म रहता। हफ़्ते-पखवाड़े में छुरे-तलवार की नौबत भी आ जाती। पूरे मुहल्ले में इसी तरह के लोग थे। इन हंगामे भरे मौक़ों पर गली आदमियों से भर जाती। औरतें भी कमर कस कर मैदान में उतर आतीं और यूँ लगता जैसे कोई बड़ा फ़साद हो गया हो। आसपास के एक-दो मकानों में रहने वाले कुछ ऊँचे तबके के बड़े लोग अपने कोठे से इस तमाशे का आनंद लेते और ठीक सामने के छोटे-से मैदान में मस्जिद के पास दिन-रात जुआ होता रहता। पुलिस आती और पैसे ले जाती। इत्तफ़ाक़ से कोई पकड़ा भी जाता तो रास्ते ही से कुछ ले-दे कर वापस आ जाता। बड़े लोगों को इन मामलों से कोई सरोकार न था। हाँ, कभी-कभी ऐसा झगड़ा हुए काफ़ी दिन हो जाते तो उन में से कोई पूछ बैठता कि भाई आख़िर माज़रा क्या है! सब ख़ैरियत तो है! जैसे कि बहुत दिनों से मैदान-शो नहीं होने पर इन के मनोरंजन में विघ्न पड़ जाता हो। वह इन मौक़ों पर खिसक ही लिया करता। या तो कमरा बंद करके ग़ायब हो जाता, या बंद कमरे में सोने की रिहर्सल में लग जाता।

झगड़ा ख़त्म होते ही बकती-झकती औरतें जब अपने-अपने ठिकाने पर आतीं तो उन्हें हर-दिल-अजीज़ मास्टर साहब की याद आती। कई औरतें उस के कमरे को बंद देख कर फ़रियाद की दुहाई देती वापस हो जाया करतीं। कभी-कभी वह पकड़ा जाता। ऐसे में हर औरत अपने पूरे व्यक्तित्व से निकटता जता कर अपनी बात मनवाना चाहती। लेकिन फ़ितरत से अय्याश और रंगीन मिजाज़ होते हुए भी वह उन की निकटता या निकटता के आमंत्रण को स्वीकार नहीं कर पाता था। शायद उन के मर्दों के कठोर लहजे और झगड़ालू मिजाज़ ने उसे बुज़दिल बना दिया था।

घर से अलग होने की वजह से उस के भीतर एक ख़ालीपन-सा पैदा हो गया था। उस मकान में रहने वाले बच्चों के बचपन में और उन की निकटता में बह अपने अकेलेपन को भुला बैठता। इस से उसे आत्मिक सुख मिलता था। सुबह-सवेरे वह रात का फुलाया हुआ चना खाता। गंदे-नंगे बच्चे उस के इर्द-गिर्द नाचते-कूदते हुए चना चबाते रहते। इन छोटे-छोटे अबोध बच्चों की होशियारी भरी बातों में वह खो-सा जाता। सौदा-सुल्फ़, झाड़ू-बुहारी करने या पानी भर कर लाने की मुहिम और कूड़ा-करकट की सफ़ाई, ये सारे काम वे बच्चे इतने सुंदर तरीक़े से निबटाते कि वह अकसर सोचने लगता, ये अनमोल रत्न शिक्षा के ज़ेवर में सज पाते तो कैसे जगमगा उठते! उन बच्चों के माता-पिता से जब वह इस बारे में बात करता तो वे क़िस्मत को कोसने लगते।

तमाम बच्चों में भोली उसे बहुत भाती। पाँच-सात बरस की वह बच्ची तोतली बोली में जब बोलती तो वह झूम उठता। जब वह उस से पूछता कि रुपए में कितने पैसे होते हैं, तो वह जवाब नहीं दे पाती। लेकिन एक रुपया दे कर जब वह उसे चाय, बिस्कुट और सिगरेट लाने को कहता तो वह एक-एक पाई का हिसाब दे डालती। उस की मौजूदगी में यूँ तो बच्चे गाली-गलौज़ करने से परहेज करते, लेकिन आपस में लड़ जाने पर छीना-झपटी में कोई गाली बकता तो भोली बिगड़ कर कहती, 'चुप, मातल साब हैं रे हम मातल साब से कह देबई।' और वह अनजान बन कर कहता, 'हाँ भोली! बता तो क्या हुआ?' तो वह तुतलाते हुए कहती, 'देथो मातल बाबू! ई पपुआ मुन्ना तो बोला, . . .' और वह गाली बक, फ़ौरन अपने कान पकड़ ब्रैठती। कभी धींगा-मुश्ती में वह गिर-पड़ जाती। उस से कोई लड़ बैठता तो वह बेलगाम गाली बकने लगती, और जैसे ही उस की आँखें अपने मातल बाबू से चार होतीं, उस का अहसास जाग उठता और वह फ़ौरन भाग खड़ी होती।

यूँ तो उस मकान में सुबह चार बजे से रात बारह बजे तक बाज़ार का-सा हंगामा रहता, लेकिन इस से उसे कोई ख़लल नहीं पड़ता। बस एक मामला उस की परेशानी का कारण होता। जब कोई अपने बच्चों को मारने लगता तो वह बेचैन हो उठता। ख़ास कर औरतें इस बेदर्दी से बच्चों को मारती-पीटतीं कि वह सहम-सहम जाता। सोचने लगता कि आख़िर ये इतनी मार बर्दाश्त कैसे कर लेते हैं। कुछ परेशान हो और कुछ ख़ौफ़ खा कर वह रोते-बिलखते बच्चे को बुलवाता। उसे पैसे दे कर चुप कराता। आहिस्ता-आहिस्ता लोग उस की कमज़ोरी से वाक़िफ़ होते गए। एक रिक्शा चलाने वाला नीचे के कमरे में रहता था। वह दसवीं पास था। उस की बोल-चाल और वेश-भूषा में ख़ासा रख-रखाव था और वह ख़लीफ़ा के नाम से जाना जाता था। उसे कोई औलाद न थी। अकसर वह कहानी-क़िस्से की किताबें माँग कर ले जाता। खुद पढ़ता और बीवी को भी सुनाता। एक दिन ख़लीफ़ा उस के कमरे में बैठा था। भोली की माँ उसे मारपीट रही थी। आवाज़ सुन कर वह बुरी तरह परेशान हो रहा था। इतने में भोली रोती-चिल्लाती आई। वह उसे दस पैसे दे कर चुप कराने लगा। भोली पैसे लेने से इंकार करती हुई बुदबुदाने लगी, जिसे वह समझ नहीं सका। ख़लीफ़ा ने बताया कि वह चार आने माँग रही है। उस ने एक चवन्नी दी और फ़ौरन भोली अपनी माँ के पास चली गई। ख़लीफ़ा ने एक ज़ोरदार क़हक़हा लगाया। फिर बड़ी गंभीरता से बोला, 'मास्टर साहब! आप भोली से भी ज़्यादा भोले हैं। आप जैसा हमदर्द आदमी कम मिलेगा।' वह बोला, 'कितनी हैवानियत से ये लोग बच्चों को मारते हैं, मैं तो काँप उठता हूँ।' ख़लीफ़ा ने कहा, 'वह तो सही है मास्टर साहब! लेकिन आप ने मेरे लफ़्ज़ पर ग़ौर नहीं किया कि मैं ने आप को भोला क्यों कहा?' वह मुस्कुराते हुए बोला, 'हाँ शायद भोली की मुनासबत से आप ने मुझे भोला कहा।'—'नहीं हुज़ूर।' एकाएक वह संजीदा हो कर कहने लगा, 'मैं यह देख रहा हूँ कि जब से आप की फ़ितरत से लोग वाक़िफ़ हो गए हैं, बच्चों की बहुत ज़्यादा पिटाई होने लगी है। दरअसल इन के माँ-बाप आप की कमज़ोरी से फ़ायदा उठा कर वक़्त ज़रूरत दस-बीस पैसे इस तरह हासिल कर लेते हैं।'

'ला हौल विला कुव्वत! नहीं भाई, ऐसा नहीं हो सकता।' वह सिटपिटा कर बोला। लेकिन ख़लीफ़ा के चले जाने के बाद वह सोच में पड़ गया—कहीं सचमुच ऐसा ही तो नहीं है? नहीं, नहीं—यूँ नहीं हो सकता। ख़लीफ़ा औलाद की मुहब्बत क्या जाने! भला चंद पैसों के लिए कोई इस तरह बच्चों को सज़ा देगा! साथ ही उसे याद आया, अकसर बच्चे मार खाते ही उस के पास दौड़े आते। लेकिन उस से दस-बीस पैसे ले कर जब वे बाज़ार से वापस होते तो उन के हाथों में बिस्कुट या टॉफ़ी के बजाय चाय की पत्ती, चीनी, नमक और मसाला क़िस्म की चीज़ें होतीं।

वह बुदबुदाने लगा—अगर ऐसा है तो बहुत बुरा है। यानी बच्चे सिर्फ़ इसलिए मार खाएँ कि वह रो-धो कर पाँच-दस पैसे मुझ से हासिल कर लें। उस ने काफ़ी सोच-विचार किया लेकिन यह मसला उस से सुलझाया न गया।

माह का आख़िरी दिन था। सुबह वह सो कर उठा तो उस के पास सिर्फ़ दो रुपए थे। उसे कई एक काम करने थे। सैलून जा कर शेव कराना, लाँड्री से कपड़े लाना, नहाने के लिए साबुन, सिगरेट की डिब्बी, रात के लिए किरासन तेल और फिर ऑफ़िस जाने के लिए बस का किराया. . . वह सोच रहा था कि इन में से किस चीज़ को अहमियत दी जाए।

एकाएक भोली के बुरी तरह चीखने और उस की माँ के गाली-गलौज और मारधाड़ से पूरी इमारत गूँजने लगी और फिर भोली रोती-चिल्लाती उस के कमरे की तरफ़ भागी चली आ रही थी। उस की माँ पीछे-पीछे उसे खदेड़ती आ रही थी। दरवाज़े पर आ कर माँ ने ऐसा धक्का दिया कि वह उस के कमरे में फ़र्श पर आ गिरी। नन्हीं-नन्हीं चूड़ियाँ टूट गईं। कलाई से ख़ून रिसने लगा। दरवाज़े पर खड़ी उस की माँ चिल्ला रही थी, 'आज मार के तोहरा के खत्मे कर देब। ससुरी नया चप्पल भूला दी। अब ला कहीं से दो रुपया। निकल मास्टर साहब के कमरे से। निकल हरामज़ादी!' भोली की माँ बकती-झकती चली गई। लेकिन उस के कमरे से चिल्लाने की आवाज़ें निरंतर आ रही थीं।—ले के आ चप्पल। नहीं तो दो रुपया ला। ख़ाली हाथ आई तो जान से मार के फेंक देबई।'

वह भोली को उठा कर चुमकार रहा था। 'शाम को चप्पल आ जाएगी। जा कर माँ से कह दो।' भोली बिलख रही थी, 'ना तुम हमला लूपया दो—हम ना जाम। दो लूपया दो हमले।' वह सोच रहा था, दो ही रुपए तो हैं अपने पास। अभी कैसे दे दूँ। कल-परसों दे दूँगा। बच कर निकल भागने के लिए वह कपड़े बदलने लगा। भोली दरवाज़े पर खड़ी हाथ पकड़े सिसक रही थी। एकाएक फिर उस की माँ बिफरी हुई शेरनी की मानिन्द चीखती-दहाड़ती हुई आई, 'अगे चप्पल लाई?' उस ने झपट कर भोली का हाथ खींचा। उसे ख़ाली हाथ देख कर एक लात इस ज़ोर की रसीद की कि वह सामने की चहारदीवारी की तरफ़ मुँडेर से जा टकराई—साथ ही एक धमाका हुआ। कई ईंटों के साथ भोली भी नीचे जा गिरी। एक हंगामा खड़ा हो गया। वह बाहर नहीं जा सका। उस की जुबान जैसे गुंग हो कर रह गई थी। एकाएक उस के कानों में भोली की माँ की आवाज़ें गूँजने लगीं, 'हम ई खातिर निगोरी को मारा था कि मास्टर साहब के पास जा कर रो देगी तो दो रुपया मास्टर साहब दे देंगे। हाय! हम ई ना जानत रही कि निगोरी खत्मे हो जाएगी। हाय ई का हो गया रे मय्या।' वह सीना पीट रही थी। पछाड़ खा रही थी। लोग उस के हाथ-पाँव पकड़ने की कोशिश कर रहे थे।

कुछ देर बाद ख़लीफ़ा भोली के बाप के साथ कफ़न-दफ़न के लिए चंदा लेने आया। उस ने लरजते हाथों से जेब से दो रुपए का नोट निकाला और ख़लीफ़ा के गमछे में डाल दिया। ख़लीफ़ा की शोला बरसाती आँखें उस से देखी न जा सकीं। उस की वीरान नज़रें चौखट से यूँ लग गईं, जैसे वह कोई मुजरिम हो।

उर्दू से अनुवाद : **निशांतर**

अली इमाम नक़वी

एक बहुत लंबी सड़क

अनहोनी इस मायने में तो नहीं थी कि लोग-बाग़ हैरत से उँगलियाँ दाँतों में दे लेते या फिर हफ़्तों इस घटना की चर्चा करते। अनहोनी वह इस मायने में थी कि झगड़ा दारू के अड्डे में होने के बजाय बाहर हुआ था। और लड़ने वाले दो शराबी नहीं थे। लड़ाई तो अड्डे के बाहर काँसे के मँझौले साइज़ के थालों में चने और उबले हुए अंडे बेचने वाली सत्ताईस-अट्ठाईस वर्ष की मामूली शक्ल सूरत वाली वसुंधरा और एक शराबी कृष्णा के बीच हुई थी। कृष्णा शेखू के अड्डे से देशी दारू के दो गिलास चढ़ा लेने के बाद झूमता हुआ बाहर निकला था। तरह-तरह का मुँह बनाते और चट्खारे लेते हुए उस ने इधर-उधर निगाह दौड़ाई थी, फिर धीरे-धीरे चलते हुए वह वसुंधरा के पास जा बैठा था। हाल-चाल पूछने के बाद उस ने वसुंधरा से एक उबला हुआ अंडा माँगा। वसुंधरा ने काग़ज़ के टुकड़े पर अंडा रख कर उस के चार टुकड़े किए। हर टुकड़े पर नमक और स्याह मिर्च की बुकनी छिड़की और कृष्णा की तरफ़ बढ़ाते हुए उस से पैसे वसूल किए। कृष्णा ने एक फाँक मुँह में रखी और वसुंधरा के बराबर में बैठी उस की नौ-दस साल की बेटी पर नज़र पड़ते ही उस ने काग़ज़ पर रखे अंडे की बाक़ी फाँकें बच्चे की तरफ़ बढ़ाईं। बच्ची ने माँ की तरफ़ देखा। वसुंधरा ने कृष्णा को मना करना चाहा, मगर उस पर तो दारू अपना असर दिखा चुकी थी। कृष्णा इसरार करता रहा वसुंधरा इंकार करती रही। इसी बीच की किसी घड़ी में कृष्णा ने बच्ची के कोमल गाल सहलाना शुरू कर दिए। वसुंधरा को इस का अहसास हुआ तो वह भूखी शेरनी की तरह कृष्णा पर झपटी। अंडे की फ़ाँकें धूल में सन गईं। कृष्णा सँभलते हुए वसुंधरा को माँ-बहिन की गालियाँ देने लगा। अड्डे से शेखू और उस की रखैल मुन्नी बाई निकल आए। शेखू ने कृष्णा को सँभाला और मुन्नी बाई ने वसुंधरा को।

'क्या रे! धंधा खोटा करने को माँगती...'

'वह... हरामी साला... मेरी सरूप का गाल मसलता होता... उस को समझा बाई... जा के अपनी बहिन का मसल... नई तो... आई की शपत... मैं उस की...'

'ऐ एड़ी... जास्ती होशारी नई करने का। ब्योड़े के साथ में लड़ने का नई, क्या... ये लोग को मालूम कि...'

मुन्नी बाई ने वसुंधरा को समझाना चाहा तो शेखू ने उसे इशारे से रोका। वह कृष्णा को छोड़ कर लौट रहा था।

'जा तू अंदर जा। मैं देखता इस को... जा...' उस ने मुन्नी को समझाया। वह कूल्हे मटकाती अड्डे में चली

गई तब शेखू वसुंधरा से बोला :

'ए बाई. . . मैं पूछता तू छोकरी को इधर बैठातिच काय को। अरे. . .तेरे पास घर है। उस को उधर भेज. . . इधर तो साला सब लोग अपनी माँ. . . को आता. . . समझी कि नई? मगर. . . तू क्या समझेगी। मैं समझता, सब समझता, ऐसा कर तू अभी जा. . . खोली पर. . . ये. . .ये ले दस रुपया. . . देख चार पाँच बैदा बचे ला है और थोड़ी सी मच्छी. . . अपुन देखेगा, तू जा। मगज ठंडा रख।'

'भाई. . . . .' वसुंधरा का गला भर आया। वह कुछ कहना चाहती थी लेकिन शेखू ने अपनी ऊँची आवाज़ में उस से कहा, 'जा. . . बोला तो जाने का, बोला ना. . . अपुन देखेगा। अंगावर किसा नाप निपार? (गटर के पास बैठेगी तो ख़राब पानी शरीर पर कैसे नहीं आएगा।) अजुन तू घर जा. . . ए. . . अन्ना।'

उस ने नौकर को आवाज़ दी। पंद्रह-सत्रह वर्ष का एक काला-सा लड़का आया। शेखू ने उस से कहा कि वह वसुंधरा का सामान अपने थाल में रख ले और दस रुपये का एक नोट वसुंधरा के हवाले करने के बाद वह शराबख़ाने में चला गया।

खोली में जा कर वसुंधरा ने अपना टिंडेरा धो-धा कर दीवार से टिका दिया! स्वरूप ने अपना बस्ता नीचे रख दिया था, उसे खूँटी पर टाँगा और दरवाज़े की कुंडी लगाने के बाद साड़ी उतार कर एक तरफ़ डाली। पल भर के लिए कुछ सोचा। झुक कर नीचे से साड़ी उठाई और साबुन की बट्टी ले कर मोरी पर चली गई। साड़ी धो कर अलगनी पर डालते हुए उस ने स्वरूप को देखा। वह खिड़की की सलाखों पर सिर टेके नीचे गली की चहल-पहल देखने में लगी थी। वसुंधरा का दिल एकदम से भर आया। उस ने झुक कर स्वरूप के गालों के चटाचट कई चुंबन लिए और दोबारा मोरी की तरफ़ बढ़ गई। टीन के ड्राम में से बाल्टी में पानी उँड़ेलने के बाद उस ने पेटीकोट उतार कर एक तरफ़ सरकाया। हाथों को मोड़ कर ब्लाउज़ के हुक खोले। ब्रा अलग डालते हुए एकदम से वह पीछे लौट गई।

आप ही आप उसे आई और बाबा याद आ गए, कितने सुहाने थे वे दिन। हर तरह की फ़िक्र से आज़ाद थी मैं। कभी यहाँ तो कभी वहाँ। रेस्क्यू होटल के सर्वेन्ट क्वार्टर्ज़ में तो कभी रुस्तम लॉज के सर्वेन्ट क्वार्टर्ज़ में। मैं थी और सहेलियाँ थीं। रोज़ सुबह कोयले से दाँत माँजने के बाद मैं रुस्तम लॉज पहुँच जाया करती थी। मारुती काका की बेटी सुमन को ले कर मैं बाज़ार की तरफ़ निकल जाती। वापसी में हम अपने-अपने फ्रॉक के दामन में जामुनें जमा करते हुए लौटते। घर आ कर उन्हें अच्छी तरह धो कर हम सब बैठ कर खाते। होली पर रंग खेलते, दीवाली पर माँ के साथ रंगोली बनाते, पटाखे छोड़ते। बाबू दारू पी कर लौटते और माँ को ज़रा-ज़रा सी बात पर पीटा करते थे। एक रोज़ उन की किसी बड़ी ग़लती पर सेठ ने उन्हें नौकरी से निकाल दिया था। रोटी के लिए अपने किसी दोस्त के साथ वह बंबई चले आए थे। उसी ने उन्हें मिल में नौकरी और कमाईपुरा की पाँचवी गली में एक खोली दिलवा दी थी। कभी-कभार दारू पीने वाले बाबा को उस ने पक्का बेवड़ा बना दिया था। बाबा मिल से छूटने के बाद क़रीब ही के किसी अड्डे पर दारू पीते। घर पहुँचते-पहुँचते उन का बुरा हाल हो जाता। माँ उन के आगे खाना परोसती। कभी खाते कभी बिखेरते और मुँह डाल कर पड़ जाते। उन्हें खींच-खाँच कर माँ बिस्तर पर डाल देती और उस के बाद वह बन-सँवर कर बाबा के दोस्त की राह तका करती। बाबा का वह दोस्त रोज़ घर आता था। उस के हाथ में दोना हुआ करता। भीनी-भीनी खुशबू बाबा के मुँह और नथुनों से निकली दारू की बदबू पर हावी हो जाती। एक दिन काम पर से छूटने के बाद बाबा घर के बदले श्मशान पहुँच गए। बाबा का दोस्त इस घटना के बाद भी आता रहा। मगर अब उस के ढंग बदल गए थे। पहले वह माँ को सिर्फ़ प्यार किया करता था। अब वह माँ को गालियाँ देने लगा। कभी हाथ उठाता तो माँ भी भिड़ जाती और उस के बाद खूब पिटती। बड़ी

अजीब थी माँ! किस बुरी तरह पिटा करती थी वह। मगर रात को जब भी आँख खुलती और मैं मोरी में सू-सू करने जाती तो देखती वह उसी के बाजू में पड़ी है. . .

साबुन लगाने के बाद पेटीकोट को मुट्ठियों से कूटते हुए ज़मीन पर बहते मैल को वसुंधरा ने ग़ौर से देखा तो थोड़ा-सा पानी उस पर उँड़ेलने के बाद मुट्ठियाँ भींच कर तेज़ी से उसे कूटने लगी. . .

मैं उस समय शायद दस वर्ष की थी, जब बाबा का दोस्त भी परलोक सिधार गया। अब माँ चिन्तित रहने लगी थी। पड़ोसन के कहने पर उस ने बचे हुए पैसों से कुछ अंडे और टमाटर ख़रीदे। अंडों को उबाला और एक थाल में रख कर क़रीब के एक शराबख़ाने पर पहुँच गई। अड्डे के मालिक ने पहले तो माँ को ग़ौर से देखा फिर उस की विपदा सुनने के बाद अड्डे से बाहर उसे धंधा करने की इजाज़त दे दी। माँ शाम होने से पहले अंडे उबाल कर वहाँ पहुँच जाती। शराबियों के माँगने पर काग़ज़ के टुकड़ों पर अंडे काटने के बाद उन पर मसाला छिड़कती और मुझे देते हुए कहती :

'जा अंदर, वह ब्युड़े को दे कर आ। और सुन. . . आठ आना लेने का। भूलना मत. . . समझी ना।'

भाँत-भाँत के जानवर थे वे। रोज़ ही आया करते। हँसते मुस्कुराते। बास मारती दारू के छोटे-छोटे घूँट भरते फिर कोई आवाज़ देता :

'ए बाई! एक बैदा, जरा मसाला अच्छा डालने का, थोड़ा टमाटर भी भेज।'

माँ के हाथ तेज़ी से चलते। अंडा काटा जाता। मसाला छिड़का जाता और फिर मेरी तरफ़ बढ़ाते हुए माँ हमेशा कहती :

'जा. . . वह ब्युड़े को दे कर आ। और सुन आठ आना लेने का। भूलना मत। समझी ना. . .'

कई डोंगे पानी डालने के बाद वसुंधरा ने पीट-पाट कर पेटीकोट में से साबुन की चिकनाहट और मैल को निकाला। रस्सी पर फैले हुए पेटीकोट को एक तरफ़ सरका कर उस ने गीला पेटीकोट रस्सी पर डालते हुए स्वरूप को कनखियों से देखा और जब वह दुबारा नहाने के इरादे से लकड़ी के पटरे पर बैठने लगी तो अपनी बड़ी-बड़ी छातियों पर नज़र पड़ते ही उस ने बुरा-सा मुँह बनाया. . .

किधर भूलती थी मैं. . . पर वह हमेशा याद दिलाती होती। अंदर लकड़ी की बेंचों पर बैठे शराबी मुझे घूर-घूर कर देखा करते। कोई-कोई मुझे प्यार से अपने पास बुलाता तो मैं उस के पास जा के खड़ी हो जाती।

'अंडा खाएगी?'

'नहीं। माँ मारेगी।'

'नई मारेगी। आ, इधर आ कर बैठ, इधर बाजू में. . . ले. . . यह ले. . . मुँह खोल।'

कितना प्यारा अंदाज़ होता वह। मुहब्बत से भरा हुआ, मुझे लगता मेरे बाबा मुझ से यह कह रहे हैं। मैं अपना छोटा-सा मुँह खोल दिया करती थी। पास बुला कर बिठाने वाले मुझे उठा कर अपनी गोद में बिठा लेते। एक घूँट दारू, थोड़ा-सा चखना और एक लंबी-सी सिसकारी के बीच वे मुझे चूमते, मेरे गालों में चुटकियाँ भरते। और. . . मेरी सपाट छाती सहलाने लगते। कैसी गुदगुदी होती थी।

'ए पोर्शी. . . एक बैदा आन।' (ए लड़की एक अंडा ला)

मैं किसी की गोद से उतर कर फिर माँ और शराबी के बीच की दूरी तय करते समय एक-आध फाँक उठा कर मुँह में रख लेती तो आॅर्डर देने वाला ब्युड़ा मुँह बना कर गंदी-सी बात कह देता। कोई झुक कर मेरा छोटा-सा मुँह चूम लेता। इसी तरह दिन गुज़र रहे थे कि एक दिन पानी से नहाते हुए मैं ने अपने में होने वाले परिवर्तन को ग़ौर से देखा और सोचने लगी कि यह क्या हो गया। मेरा सीना अब सपाट क्यों नहीं रहा। नहाते हुए मैं ने माँ को पुकारा

और जब वह आई तब मैं ने इस परिवर्तन की तरफ़ इशारा करते हुए माँ से पूछा था :

'आई, हे काय झाला!' (माँ यह क्या हुआ)

ख़ूब अच्छी तरह याद है मुझे। माँ ने अपना निचला होंठ दाँतों से दबाते हुए मुझे ग़ौर से देखा था। फिर एक लंबी साँस खींच कर सारी हवा अपने मुँह से निकालने के बाद सहज भाव से मुझ से नज़रें चुराते हुए कहा था :

'असे सर्व मुली ना होते, वसुंधरा? (ऐसा हर लड़की को होता है)

माँ का इतिमनान भरा जवाब सुन कर मैं ने बड़े ग़ौर से माँ के शरीर को देखा था और फिर मैं भी निश्चिंत हो गई थी। लेकिन उस के बाद माँ किसी चिन्ता में डूबी रहने लगी थी। कुछ दिनों बाद जब मेरा अंग परिवर्तन कुछ ज़्यादा स्पष्ट रूप से नज़र आने लगा और अड्डे में शराब पीने वाले मुझ से कुछ ज़्यादा ही खेलने लगे तब दारू के अड्डे के मालिक ने मुझे अंदर आने से मना कर दिया और माँ को बुला कर उसे भी कुछ समझाया। माँ ने क्रोध और घृणा से शराबियों को देखा और पलट कर मेरे मुँह पर एक ज़ोरदार थप्पड़ जड़ दिया। चटाख की आवाज़ आई थी और मेरा गाल बुरी तरह झनझना गया था. . .

बड़ी भोंडी मगर जानी-पहचानी आवाज़ थी वह। ढोलक पर निरंतर बेट् की मार से कान फटने लगे थे। उस पर रुक-रुक कर पटाख की एक और आवाज़ उस ने सुनी। वसुंधरा की सोच का सिलसिला एकदम से टूटा। उस ने सुना स्वरूप उसे पुकार रही थी :

'आई, आई, मरी आई आली।' (माँ, माँ, मरी माँ आई)

'तइयेला नमस्कार कर सरूप अन धा पेशे धिया।' (उसे नमस्कार कर स्वरूप और दस पैसे दे)

पटरे पर से थोड़ा आगे की तरफ़ झुकते हुए वसुंधरा ने कहा और देखा कि स्वरूप ने अपने नन्हें-नन्हें हाथ जोड़ कर मरी आई को नमस्कार किया और दस पैसे का एक सिक्का भी नीचे डाल दिया। ठीक उसी पल सोंटा शरीर पर पड़ा और चटाख की आवाज़ उस ने सुनी. . .

साल भर के अंदर माँ ने जाने कैसे केशव को ढूँढ़ा और एक दिन तीन-चार आदमियों को साथ ले कर कमाईपुरा, आठवीं गली, हनुमान के मंदिर में पहुँची। मंदिर के पुजारी से कुछ बातचीत हुई। भगवान हनुमान की मूर्ति के सामने मुझे और केशव को खड़ा कर दिया गया। पुजारी श्लोक पढ़ते रहे। श्लोक ख़त्म हुए तो मैं ने केशव को और केशव ने मुझे माला पहनाई। उस रात माँ चाली में सोई थी और अंदर केशव मेरे साथ वही सब कुछ करता रहा जो अड्डे में ब्युड़े करते थे। मैं हैरान और परेशान थी कि आज यह सब कुछ माँ ख़ुद क्यों करवा रही है। केशव कभी गाल चूमता कभी होंठ और फिर तो. . . काफ़ी देर बाद जब वह निढाल हो कर मेरे बराबर पड़ गया तो आप ही मुझे माँ का वह थप्पड़ याद आ गया। उस दिन काफ़ी देर तक मेरा गाल झनझनाया था और आज उसी तकलीफ़ को मैं फिर महसूस कर रही थी।

छोटे तौलिए से बदन पोंछते हुए वसुंधरा ने अपने शरीर पर नज़र डाली तो फ़ौरन ही उस की आँखों में कई चेहरे घूम गए। तरह-तरह के मुँह बनाते हुए शराबियों के चेहरे; और दूसरे ही पल उन चटखारे लेते हुए शराबियों के बीच एक और चेहरा आँख में तैर गया। यह चेहरा उस के केशव का था। केशव—उस का जीवन-साथी। पर कैसा था जीवन-साथी। बंबई सेंट्रल जेल से अंबेत तक सफ़र करने वाली बस के उस मुसाफ़िर की तरह जिस ने अपने लिए टिकट तो अंबेत तक का ख़रीदा था लेकिन जो पनवेल पर उतर गया। यह सोचे बग़ैर कि उस के बिना उस के हमसफ़र पर क्या गुज़रेगी।

बदन पोंछने के बाद वसुंधरा ने रस्सी पर से धुला हुआ पेटीकोट और ब्लाउज़ उतार कर पहना। स्वरूप को बुला कर उस ने ब्लाउज़ के हुक लगवाए। फिर स्टोव जलाने के बाद सुबह का बचा हुआ ख़ाना गरम किया। तामचीनी

की प्लेटों में सब्ज़ी और बासी रोटियाँ निकाल कर दोनों आमने-सामने बैठ गईं। स्वरूप छोटे-छोटे निवाले तोड़ कर खाने में मगन थी जबकि वसुंधरा थम-थम कर निवाले तोड़ रही थी। अपनी प्लेट का खाना ख़त्म करने के बाद स्वरूप ने उठते हुए अंगड़ाई ली। वसुंधरा ने उसे ग़ौर से देखा, वह मोरी की तरफ़ बढ़ी। डोंगे से पानी निकाल कर हाथ धोए, कुल्ली की, फिर हाथों को पीछे की तरफ़ करके फ़्रॉक से हाथ पोंछे और फिर खिड़की के क़रीब बिछे हुए अपने बिस्तर पर जा कर लेट गई। वसुंधरा ने एक बार फिर बेटी को ग़ौर से देखा और रोटी की तरफ़ हाथ बढ़ाते हुए सोचने लगी—जो कुछ मुझ पर बीत चुकी उस से मैं स्वरूप को सुरक्षित रखूँगी। यह सच है कि मेरा घरवाला नहीं है। घर बिल्कुल अकेला है और मेरे सामने एक बहुत लंबी सड़क है, जिस के किनारों पर कोई साएदार पेड़ नहीं है। फिर भी मैं कोशिश करूँगी कि इस रास्ते पर मैं इस तरह आगे बढ़ती रहूँ कि मेरा साया स्वरूप को धूप से बचाए रखे। जो भूल मेरी माँ ने की थी वह मैं नहीं करूँगी आज जिस समस्या से मैं दो-चार हूँ, वही समस्या मेरी माँ की भी थी। मुझे अपनी नज़र के सामने रखने के लिए ही तो उस ने मुझे अपने साथ रखा था। बस उस से भूल यह हो गई कि दारू के अड्डे पर अपना सामान मेरे हाथ भिजवाती रही। और उन शराबियों ने. . .साले हरामी. . .ब्युड़े बाज़ों ने अपनी चिकनी-चुपड़ी बातों से फुसला कर मुझे समय से पहले जवान कर दिया था। पर. . .मैं ने तो अब तक वह भूल नहीं की थी। स्वरूप के हाथ मैं ने तो कभी अपना सामान अड्डे में नहीं भेजा। शेखू भाई बरोबर बोलते—गटर के नजीक बैठोगी तो गंदा पानी अंग पर आएगा ही. . .मैं तो अपनी माँ की मूरखता के कारण गटर के गंदे पानी में नहा चुकी हूँ, लेकिन अपनी स्वरूप के कोमल शरीर पर मैं उस के छींटे नहीं पड़ने दूँगी। बस भगवान इसे मेरे जीवन में बड़ा कर दे। कोई भला मानस मिला और मैं ने इस का लगन किया। बस भला हो। कैसा भी हो चलेगा, पन ब्युड़ा नहीं चलेगा। अजीब चक्कर है बाबा, केशव और वह—माँ का यार. . .सब शराबी थे। मगर मेरे को स्वरूप का नूरा ब्युड़ा नहीं होने का।

दूसरे दिन सुबह स्वरूप को ले कर वह म्युनिसिपल स्कूल पहुँची तो स्कूल के बूढ़े चौक़ीदार से उस ने हाथ जोड़ कर कहा कि स्कूल छूटने के बाद वह मेरी स्वरूप को इधर ही बिठाए रखे। शाम को आ कर मैं खुद ही उसे अपने साथ ले जाऊँगी। शेखू के अड्डे पर पहुँचने के बाद उस ने निश्चिंत हो कर पूरे दिन धंधा किया। छह बजते-बजते उस का सारा सामान बिक गया। तब उस ने बर्तन उठा कर शेखू दादा के गल्ले के पास खड़े कर दिए। शेखू ने अपनी आँखें उस के चेहरे पर गड़ाते हुए आहिस्ता से पूछा :

'तेरी छोकरी किधर है?'

'उधरिच स्कूल में!'

'किसाला।'

'वह उधरिच ठीक है. . .इधर फिर कुछ लफड़ा हो सकता है न भाई।'

शेखू ने ग़ौर से उस की बात सुनी। कुछ सोचा, फिर मुस्कुराते हुए रुक-रुक कर बोला :

'बरोबर बोलती तू. . .और अच्छा करी. . .उस को उधरिच रख। सुरक्षित रहेगी वह उधर। इधर तो साले सब लोग. . .इन की माँ को. . .क्या बोलूँ मैं वसुंधरा बाई। साला बहुत ख़राब टाइम आ गियेला है।'

'मैं अभी आई भाई। सरूप को ले कर। यह मेरा भाँडा इधर है।'

'जा बिंदास जा. . . फिकर नई करने का, जा. . . पुच।'

शेखू ने उसे पुचकारा। वह मुस्कुराते हुए स्कूल की तरफ़ बढ़ गई। इक्का-दुक्का बच्चे अब भी स्कूल से लौट रहे थे। भारी-भारी बस्तों से लदे हुए, थके और निढाल।

तीन-चार मिनट बाद ही वह स्कूल के मेन गेट पर पहुँच चुकी थी। दो-चार बच्चे अपने माँ-बाप की राह तक

रहे थे। पुरानी कुर्सी पर नीला यूनिफ़ॉर्म पहने बूढ़ा चौक़ीदार बैठा सुर्ति मसल रहा था। वसुंधरा ने उस से स्वरूप के बारे में पूछा तो उस ने सुर्ति को थपकते हुए कहा :

'बाहर आई होती वह। मैं बोला। जा क्लास में बैठ तेरी माँ आएगी तो मैं उधर ही भेजूँगा।'

वसुंधरा स्वरूप की क्लास की तरफ़ बढ़ी। स्कूल में सन्नाटा बोल रहा था। किसी-किसी क्लास में टीचर्ज़ बच्चों को ट्यूशन पढ़ाने में व्यस्त थे। कई क्लासों के बाद जब वह स्वरूप की क्लास से पहले वाले कमरे के पास पहुँची तो उस के पाँव रुके। शरीर में दौड़ते हुए ख़ून की रफ़्तार एकदम से बढ़ गई। उस ने देखा क्लास में ब्लैकबोर्ड के पास कुर्सी पर एक टीचर बैठा हुआ है और उस की गोद में एक बच्ची बैठी हुई है। सामने मेज़ पर कोई किताब खुली हुई है। टीचर का एक हाथ किताब के पन्नों पर है और दूसरा बच्ची की बग़ल में से होता हुआ. . .

'सरूप. . .'

मुट्ठियाँ भींचे हुए पूरा दम लगा कर वसुंधरा ने बेटी को पुकारा। टीचर ने हड़बड़ा कर बच्ची को गोद से उतार दिया। दूसरी क्लासों से भी टीचर और बच्चे निकल आए थे। उन में स्वरूप भी शामिल थी। माँ को देखने के बाद वह तीर की तरह माँ की तरफ़ बढ़ी। उस का हाथ पकड़ कर झटका लेकिन वसुंधरा वहाँ कहाँ थी। उस की मुट्ठियाँ बार-बार खुल रही थीं, भिंच रही थीं और उस के कानों से शेखू दादा की आवाज़ टकरा रही थी।

'क्या बोलूँ मैं वसुंधरा बाई। बहुत ख़राब टाइम आ गियेला है।'

उर्दू से अनुवाद : **ख़ुर्शीद अक़रम**

प्रेम प्रधान

काला सर्प

आकाश में हल्की रुई-से छितरे बादल के टुकड़ों के साथ सुमी का मन भी पंख लगाए उड़ रहा था। कभी भारी और कभी हल्के बोझ से लदा हृदय खिड़की से अनायास निकलना चाहता है। मन में खेल रही यादें उसे दोराहे पर खड़ा कर देती हैं। पीड़ा और जलन के तालाब में डूब कर भी सुमी यथार्थ में उतरना चाहती है। उस का मन स्वतंत्र होना चाहता है—एक उड़ रही कबूतरी आकाश में खो जाती है।

'तुम किन विचारों में खोई हो, सुमी?' उस के पति सहदेव के इतना कहते ही सुमी वास्तविकता में आ जाती है। आँखों में आए आँसू पोंछने की कोशिश करती है।

'आजकल तुम्हें यह क्या हो गया है, सुमी?' सुमी के बाल सहलाते सहदेव कहता है।

'ऐसा कुछ नहीं हुआ है।' वह आँसू छिपाने की कोशिश करती है। फिर सुमी सहदेव की उष्ण छाती में छिप जाती है। सहदेव सुमी को बेहद प्यार करता है। उस की हरेक इच्छा पूरी करने की वह कोशिश करता है। सुमी ने उस उष्ण छाती में समाहित होने की चेष्टा की। अपने पति की संपूर्णता में समाए सब कुछ भूल जाना चाहती है. . . फिर भी वह उष्ण छाती सुषमा का आवेग रोक सकने में असमर्थ है। केवल मरुभूमि जैसी इस उजाड़ छाती में कुछ भी अंकुरित न हो सका। सुषमा के अंदर आए आँधी-तूफ़ान को सहदेव रोक न सका।

आज भी शाम को रोज़ की तरह वह खिड़की से दूर पहाड़ियों की चोटियों को निहार रही है। आकाश में शून्यता ही शून्यता है और मन में अनेक बातें खेल रही हैं।

कुछ माह पहले वह इसी तरह शाम को खिड़की से दिखते दृश्य निहार रही थी। सहदेव अपने साथ एक अपरिचित व्यक्ति को घर ले आया था। मित्र से परिचय कराते हुए उस ने कहा था, 'सुमी! यह मेरा परम मित्र हरिप्रसाद है।'

सुमी ने दोनों हाथ जोड़ नमस्ते की थी। छिः कैसा फूहड़ आदमी है। गुंडे जैसे चाल-चलन और प्रवृत्ति वाले इस व्यक्ति ने तृषित आँखों से सुमी को देखा था। इसीलिए हरिप्रसाद को देखते ही सुमी के हृदय में घृणा उपज आई थी। लेकिन उस दिन से हरिप्रसाद उस घर का एक अभिन्न सदस्य बन गया।

एक दिन सहदेव ने हरिप्रसाद को रात्रि-भोज के लिए निमंत्रण दिया था। दोनों मित्र उस शाम मद्यपान भी कर रहे थे। कमरे में सिगरेट के टुकड़े इधर-उधर बिखरे थे। इस दृश्य को देख कर सुमी को बहुत गुस्सा आया था।

मद्यपान करने पर भी हरिप्रसाद होश में था लेकिन सहदेव सोफ़े के एक किनारे मस्त हो कर सोया था। सुमी अकेली किचन में क्रोध से छटपटा रही थी।

'भाभी!' कहते हुए अचानक हरिप्रसाद किचन में आ घुसा। सुमी के होश सँभालने से पहले ही हरिप्रसाद उस के शरीर के प्रत्येक अंग को निहार चुका था।

'क्या बात है, हरि बाबू?' सुमी ने पूछा था।

उस क्षण हरि की आँखों में सुमी ने अनेक दृश्यों का अवलोकन किया। एक भीषण तूफ़ान उस मरुभूमि में आता अनुभव किया। एक वीभत्स चेहरा क्रूर तथा घृणास्पद होने लगा। लेकिन सुमी ने स्थिति सँभाल ली थी।

'मुझे नींबू का एक टुकड़ा चाहिए।' उस ने कहा था। सुमी ने किचन से नींबू ले हरिप्रसाद को दिया। हरिप्रसाद ने जब सुमी के हाथ का स्पर्श किया, उस ने तुरंत अपना हाथ खींच लिया। सुमी को अपना शरीर हल्की रुई की मानिन्द लगा।

एक दिन सुमी बगीचे की सफ़ाई कर रही थी। हरिप्रसाद वहीं आ गया और हँसते हुए कहने लगा, 'बाग़वानी कर रही हैं?'

सुमी ने कोई उत्तर नहीं दिया। फिर उस ने कहा, 'यह तो बंजर है, इसे एक दो बार जोतना चाहिए।'

'बगीचे के सब फूल अधकचरे हो गए हैं।' . . .सुमी के मुँह से अनायास निकल गया।

'भाभी! ज़मीन बंजर नहीं रखनी चाहिए। बढ़िया बीज बोने से ही बढ़िया फूल खिलेंगे। मैं इस बगीचे के लिए बढ़िया बीज ला दूँ?' उस ने हँस कर कहा था और फिर सहदेव से मिलने घर के भीतर प्रवेश कर गया था। लेकिन हरिप्रसाद ने जो व्यंग-बाण छोड़ा था, सुमी के हृदय को अंदर तक बींध गया था। इस निर्लज्ज पुरुष की बेतुकी बातों को वह मन ही मन तौल रही थी।

सुमी एक दिन शाम को खिड़की से दूर पहाड़ियों की ओर टकटकी लगाए बैठी थी। आकाश में शून्य ही शून्य छाया हुआ था। वह गई रात देखे अचरज भरे सपने का अर्थ खोज रही थी।

उस रात सहदेव घर में नहीं था। किसी आवश्यक काम से घर लौटने में उसे देर हो गई थी। वह शाम सुमी को ख़ाली-ख़ाली लगी। रात्रि भी रिक्त लगी। शरीर में आँधी-तूफ़ान आया हुआ था। देर रात तक वह छटपटाती रही। सूने आकाश का स्मरण करते-करते वह सो गई। लेकिन आधी रात को वह डर से जाग गई।

'कैसा स्वप्न था?' अपने आप से प्रश्न किया उस ने। उसी क्षण 'सुमी. . .! सुमी!' कहते सहदेव दरवाज़ा खटखटा रहा था। डर के कारण वह सिकुड़ी हुई थी। उस ने जल्दी से दरवाज़ा खोल दिया और सहदेव को आलिंगन करती इतना ही कह सकी, 'मुझे डर लग रहा है।'

'क्या हुआ, सुमी?' चेहरे पर आए पसीने को पोंछते हुए सहदेव ने पूछा।

'मैं ने भयंकर स्वप्न देखा. . .'

'मुझे बताओ न कैसा स्वप्न था?' सहदेव ने पूछा। सुमी ने देखा स्वप्न सुनाया।

'हरे घास के मैदान में सुमी बैठी थी। तालाब का दृश्य उसे अति मनोरम लगा था। उस तालाब में तैरने की प्रबल इच्छा हुई। उसी क्षण एक बालक का उस की गोद में बैठने का अनुभव हुआ उसे। सुमी इस से बहुत प्रसन्न हुई थी। शादी के पाँच वर्ष पश्चात भी सुमी की कोख सूनी थी। लेकिन आज उस ने एक सुंदर बालक प्राप्त किया था। फिर कुछ ही क्षण पश्चात वह तालाब में खेल रही थी। परंतु तालाब की मछलियाँ उस का पीछा करने लगीं। मछलियाँ उस के शरीर में घुस कर नोंच रही थीं। जल्दी से सुमी तालाब के किनारे आ गई। लेकिन अचानक तालाब के किनारे एक काला सर्प उसे निहारने लगा। हड़बड़ा कर सुमी भागने लगी। काला सर्प उस का पीछा

कर रहा था। उसे देख सुमी और तेज़ी से भागी। भागते-भागते सुमी फिसल कर गिर गई। वह काला सर्प सुमी के शरीर के अंदर घुस गया। छिः! कैसा स्वप्न था?'

स्वप्न की बात सुन चुकने के बाद सहदेव ने कहा, 'स्वप्न तो कुछ नहीं है।'

'डरावना स्वप्न तो था।' सुमी ने कहा।

'इस स्वप्न का विश्लेषण मित्र हरिप्रसाद कर सकता है।' सहदेव ने कहा।

'हरि स्वप्न-विशेषज्ञ है क्या?' सुमी ने पूछा।

'अवश्य! मित्र हरिप्रसाद दिखने में कुरूप होते हुए भी एक बुद्धिजीवी है। उस ने बहुत से स्वप्नों का विश्लेषण मुझे सुनाया है।' सहदेव ने सहजता के साथ कहा।

दोनों अब बिछौने में थे। सहदेव मस्त नींद में था। लेकिन इस स्वप्न का विश्लेषण सुमी न कर सकी। उत्सुकता से सुमी छटपटा रही थी।

'सुमी! हरिप्रसाद मेरा परम मित्र है। उस से कभी अभद्र व्यवहार न करना।' सुबह सहदेव ने कहा।

'आप इस स्वप्न के विषय में अपने मित्र से ज़िक्र करेंगे?' सुमी ने पूछा।

'अच्छा, पूछ लूँगा।' सहदेव ने इतना ही कहा।

एक दिन शाम के समय वह अकेली घर में बैठी थी। कुछ आवश्यक काम ले कर सहदेव सप्ताह भर के लिए बाहर गया था। सुमी जब अकेली होती, काले सर्प का स्मरण हो आता और भयभीत हो जाती! घर में अकेली टी.वी. देख रही थी कि बाहर किसी ने दरवाज़ा खटखटाया। उस ने दरवाज़ा खोला। उस के सामने मूँछ वाला, भद्दा कुरूप चेहरा लिए हरिप्रसाद खड़ा था। सुमी हतप्रभ हुई। इस क्षण उसे हरिप्रसाद काला सर्प लगा।

'भाभी, नमस्ते।' हरिप्रसाद के इतना कहते ही सुमी हड़बड़ा उठी।

'ओह! आप?' इतना ही कह सकी। 'कहिए, कैसे आना हुआ?' सुमी ने फिर कहा, 'वे घर में नहीं हैं।'

सिगरेट का कश लेते हुए उस ने सुमी को ग़ौर से देखा और कहा :

'आज मैं घर नहीं लौट सकूँगा. . .। बाज़ार में ही देर हो गई।'

'कैसे. . .? . . . क्षमा करें . . .।' सुमी ने कहा।

'ठीक है, फिर मैं लौट चलता हूँ।' . . .हरिप्रसाद ने सहजता से कहा।

'आप की घरवाली आप का रास्ता देख रही होंगी।' सुमी ने कहा।

'सहदेव नहीं हैं तो क्या हुआ, भाभी आप तो हो न।'

कुछ देर तक सुमी उधेड़बुन में पड़ी रही। हरिप्रसाद के साथ परिचय हो जाने के पश्चात् इस घर से उस का लगाव बढ़ गया था। फिर वह समय-असमय यहाँ रात्रि भी बिता लेता था। लेकिन आज वह घर में अकेली है, परपुरुष को घर में कैसे पनाह दे सकती है? फिर शाम को आँए मेहमान को कैसे लौटा सकती है? विचित्र उधेड़बुन में पड़ी थी।

तब तक हरिप्रसाद सोफ़े में बैठ टी.वी. देखने लग गया था। खा-पी कर बाहर के कमरे में हरिप्रसाद सोने का इंतज़ाम करने लगा, लेकिन सुमी को मन ही मन छटपटाहट-सी होने लगी थी। पहले ही हरिप्रसाद के स्वभाव से घृणा करती आ रही थी। लेकिन आज सहदेव की अनुपस्थिति में कैसे उस के मन से समस्त घृणा नदारद हो गई थी। उल्टे वह मेहमाननवाज़ी में लग गई थी।

'भाभी! मैं कुछ ज़्यादा ही खाऊँगा, भूखा जो हूँ।' खाते-खाते उस ने कहा था।

'खा लीजिए भरपेट। फिर न कहें मित्र की अनुपस्थिति में भूखे ही लौटाया।' सुमी ने कहा।

'आप के हाथों से बने पकवान मुझे बेहद स्वादिष्ट लगते हैं, और फिर आज भूख भी ज़ोर से लगी है।'

'अब ज़्यादा बातें न करें। खा-पी कर सोने की कोशिश करें।' सुमी ने कहा।

लेकिन हरिप्रसाद की आँखों में सुमी बस गई थी। सुमी ने भी हरिप्रसाद की आँखों में उसी दृष्टि से देखा था। कुछ क्षणों के लिए दोनों मूक रह गए थे। हरिप्रसाद की आँखों की भाषा सुमी समझ चुकी थी। उस क्षण की आँधी को सुमी किसी तरह सँभाले रही थी।

द्वंद्व के भँवर में सुमी छपपटा रही थी। नींद उस से कोसों दूर चली गई थी। बाहर हरिप्रसाद भी छटपटा रहा था। सुमी के हृदय में अनेक बातें आ-जा रही थीं। सहदेव की अनुपस्थिति का उसे अनुभव हुआ, फिर हरिप्रसाद के हाथों का हल्का स्पर्श। हरिप्रसाद पहले तो उस के लिए निर्लज्ज घृणास्पद पुरुष था। लेकिन यह भावना कभी की उस के हृदय से दूर हट चुकी थी। फिर उस काले सर्प की याद बारंबार उसे सता रही थी। उस काले सर्प ने स्वप्न में कैसे उस का पीछा किया था? कभी-कभी सुमी इसी तरह भयभीत हो जाती और उस भय को छिपाने के लिए उसे उष्ण छाती की कामना होती। उस स्वप्न को जिस रात सुमी ने देखा, सहदेव का सान्निध्य उस का डर भगा ले गया था। लेकिन आज वह क्यों इतनी अस्थिर है? इस प्रश्न का उत्तर उस के पास भी नहीं था। केवल द्वंद्व के बीच असमंजस में पड़ी रही।

और फिर सुमी गहरी नींद सो गई। कुछ क्षण पहले एक काली आकृति ने उस की संपूर्णता को ढँक लिया था। पहले-पहल उस ने कुछ विरोध किया, परंतु वह विरोध हल्का और कमज़ोर पड़ता गया। वास्तव में सुमी ने केवल हल्का विरोध किया था।

सुमी देखे स्वप्न और इस घटना को भुलाने की कोशिश करती। परंतु वह इस घटना को कैसे भूल सकती है? कुछ माह पश्चात सुमी को अपना शरीर भारी लगने लगा। बगीचे में खिला फूलों का बीज उस ने देखा। सहदेव को कैसे बताऊँ ये सारी बातें?

हरिप्रसाद की उष्ण छाती आज तक उसे चुभ रही है। उसे पश्चाताप कदाचित नहीं है। अब यह भी स्वप्न-सा लग रहा है। द्वंद्व के बीच पड़ी है सुमी। पहले-पहल उस की आँखों से निकले आँसू ने उसे बहुत कष्ट दिया है। लेकिन सत्य स्वीकारना ही पड़ेगा। सहदेव के साथ विश्वास का समझौता करना है। सोच-सोच कर सहदेव की छाती में ही सुमी सो गई।

नेपाली से अनुवाद : **किताब सिंह राई**

रामसरूप अणखी

जड़ें

सुखानंद एक पुरानी मंडी है, रियासतों के समय की। यहाँ सुखानंद नाम का एक गाँव था, जो अब भी है। लेकिन अब लगता है जैसे यह गाँव इस मंडी का ही एक हिस्सा हो, मंडी का ग्रामीण भाग। महाराज ने जब अपनी रियासत में दाना-मंडियाँ बनवाईं तो सुखानंद गाँव की भी क़िस्मत जाग उठी। इलाक़े का सारा दाना यहाँ आने लगा। जितनी लंबी, उतनी चौड़ी-चौकोर मंडी की दुकानों के दो बड़े-बड़े लोहे के दरवाज़े रखे गए। आसपास के गाँवों से महाजन लोग मंडी में आ बसे और वे आढ़त करने लगे। आज़ादी के बाद तो इन का सुखानंद मंडी पर आधिपत्य हो गया। रेलवे-स्टेशन तो पहले ही था, अब यह मंडी मेन रोड़ पर आ गई। जब लिंक-सड़कों का सिलसिला शुरू हुआ तो यह मंडी इलाक़े के हर गाँव से जुड़ गई। यहाँ अब सरकारी और अर्धसरकारी दफ़्तर खुल गए। लड़कियाँ और लड़कों के दो अलग-अलग हाई स्कूल बन गए। बड़ा सरकारी अस्पताल इलाक़े के मरीज़ों की ज़रूरतें पूरी करता। पुलिस-चौकी के स्थान पर पूरा थाना बन गया। ग्रामीण लोगों का आना-जाना और भी बढ़ गया।

मंडी के दाहिने भाग में सात गलियाँ हैं जो आज़ादी के बाद बनीं। इन में तमाम घर महाजनों के हैं। आढ़तियों के बाद दूसरे दुकानदारों के घर। सातवीं गली के पार एक लंबे-चौड़े आँगन वाली हवेली में पुलिस थाना है।

नज़दीकी गाँव अकालसर का नंबरदार निहालसिंह दोपहर से थाने में बैठा हुआ था। वह अपने गाँव के एक व्यक्ति को छुड़ाने आया था। वह व्यक्ति शराब बनाता पकड़ा गया था। ग़रीब दिहाड़ी करके अपना गुज़ारा करता था, कभी-कभी शराब का ठेका भी कर लेता था। खुद तो पीता नहीं था। दो-चार बोतलें निकाल कर बेच देता था। उस की क़बीलदारी न के बराबर थी। वह तो पहले ही मरे समान था, जाट हो कर दिहाड़ी करता था। मरे हुए को क्या मारना, नंबरदार उस की जमानत करने आया था। कह रहा था, 'बेचारे की माँ बहुत बीमार है। उसे सँभालने वाला कोई नहीं है। इस बेचारे को छोड़ दो, आगे से कोई ग़लत काम नहीं करेगा। मेरी ज़िम्मेदारी रही। सेवा जितनी जायज़ है, करवा लो।'

मालूम नहीं क्यों, थानेदार के मन में अभी दया नहीं आ रही थी।

परछाइयाँ लंबी हो चलीं थीं। पुलिस वालों के बहलावे भी। नंबरदार निहालसिंह वैसे ही बैठा रहा। तभी सब

को कुछ शोर सुनाई दिया। शोर बढ़ता ही गया था। लगा जैसे कोई भीड़ थाने की तरफ़ आ रही है।

केसरी पगड़ी पहने और खुली दाड़ी वाले दो नौजवान थे। उन के बीच में एक औरत थी। उन के पीछे तीस-चालीस लोग थे।

औरत ने मैली-कुचैली सलवार कमीज़ पहन रखी थी। पैरों में घिसी हुई पुरानी चप्पलें। सिर के बाल रूखे और उलझे हुए। गले में लाल चुन्नी, चुन्नी भी फटी-पुरानी और मुड़ी-तुड़ी थी। औरत की आँखें सुंदर थीं, नाक अधिक तीखी नहीं थी, दाँत सफ़ेद थे, जंग लगे लोहे-सा रंग था। शरीर भरा नहीं था। लेकिन लगता था वह पैंतीस से कम नहीं है। केसरी पगड़ी वाले युवकों ने भीड़ को थाने के दरवाज़े पर ही रोक दिया। थानेदार उठ कर खुद उन के पास आया। नौजवान बोले, 'इसे सँभालो जी, आवारा है। इस का कोई बंदोबस्त करो।'

युवकों को कुर्सियाँ मिल गई।

थानेदार ने औरत को ज़मीन पर बिठा दिया। बोला, 'इस जैसी तो यहाँ रोज़ ही घूमती रहती हैं। ट्रक-ड्राइवरों का माल है। आम चूस कर गुठली फेंक गए। इस का क्या बंदोबस्त करें हम? फिर बोला, 'आप लोग आए हो इसलिए कुछ करते हैं। छह बजे वाली गाड़ी आने वाली है, हमारे सिपाही इसे चढ़ा आएँगे।'

थानेदार की भाषा सुन कर और इरादा भाँप कर केसरी पगड़ी वाले युवक गंभीर हो गए। वे आँखें तरेर कर थानेदार की तरफ़ देखने लगे। एक बोला, 'यह तो कोई इलाज़ नहीं, सरदारजी।'

'फिर, आप ही बताओ, क्या किया जाए?' थानेदार मुस्कुरा रहा था। 'इसे आवारागर्दी के केस में गिरफ़्तार करो और फिर इसे इस के ठिकाने पहुँचाओ। हमारी सरकार का यह फ़र्ज़ बनता है।'

'इस के ठिकाने का क्या पता चलेगा?' थानेदार को फ़ीकी मुस्कुराहट रोकनी पड़ गई।

'यह सब बता रही है, अपने ठिकाने के बारे में।' दूसरा नौजवान रौब से बोला।

'क्यों भई, कहाँ की रहने वाली हो तुम?' थानेदार ने औरत से पूछा।

औरत ने जो उत्तर दिया, किसी को समझ नहीं आया।

पहला नौजवान बोला, 'इस की बोली हम नहीं समझ सकते सरदारजी। हमारे पास है एक बंदा।' वह दरवाज़े पर गया और शांत खड़ी भीड़ में से धागा-मिल के एक मज़दूर को बुला लाया।

मंडी के प्रमुख दरवाज़े से थोड़ा हट कर बस-स्टॉप है। यहाँ से एक मील दूर मेन-सड़क। लिंक-रोड पर बसों की आवाजाही कभी आम होती थी, अब नहीं। मनमर्ज़ी से ही, कोई बस अंदर वाले बस-स्टॉप पर आती है। मंडी का प्रेस-रिपोर्टर हर महीने ख़बर छपवाता है कि सभी बसें अंदर हो कर जाया करें। मंडी में कोई राजनीतिक जलसा हो तो एक माँग, अंदर बस-अड्डे पर बसें आने से संबंधित, ज़रूर रखी जाती है। लेकिन कोई नहीं सुनता। उल्टा उस समय मंडी में से ही कोई आवाज़ उठ जाती है, 'भाई, रिक्शे वालों ने भी तो कहीं दाल-रोटी खानी है।'

लेकिन थ्री-व्हीलर का क्या करेगा कोई? रिक्शे वाले खड़े-खड़े मुँह देखते रह जाते हैं और थ्री-व्हीलर सारी सवारी ले जाता है।

जब अंदर बस-स्टाप पर सभी बसें आती थीं, तब यहाँ कई वर्कशॉप खुली थीं। ट्रैक्टर, ट्रक और मज़दूरों की वर्कशॉप । ये वर्कशॉप अब भी हैं। नहीं आती कोई बस अंदर स्टॉप पर तो न आए, लोगों का तो यहाँ वैसे ही मेला लगा रहता है।

उस दिन उस के इर्द-गिर्द भीड़ इकट्ठी हुई खड़ी थी। कोई उस के पास मुँह ले जा कर कुछ पूछता, कोई कुछ। कोई पंजाबी बोलता, कोई टूटी-फूटी हिन्दी। वह जो भी जवाब देती, किसी को कुछ समझ न आता। तमाशबीन

हँसते और उस का मज़ाक उड़ाते। वह दो घंटे से वहाँ बैठी हुई थी। एक होटल वाले ने उस पर तरस खा कर उसे एक चाय का गिलास और ब्रेड-पीस दे दिया था। औरत ने वह सब बुझे मन से अंदर निगल लिया।

वहाँ से निकल रहे दो केसरी पगड़ी वाले युवकों ने भीड़ देखी तो वे वहाँ घुस कर देखने लगे कि मामला क्या है। औरत का मामला देख कर पहले तो वे मुस्कुराए फिर वहाँ से खिसकने लगे। एक युवक बोला, 'कौन होगी यह? अपने शहर की तो लगती नहीं है।'

'पूछ लेते हैं।' दूसरा औरत के पास मुँह ले जा कर पूछने लगा, 'माई, क्या बात है?'

उस ने जो उत्तर दिया, वह उस की समझ में नहीं आया। वह हैरानी से मुस्कुराने लगा। लोग हँस रहे थे। उस औरत पर या शायद केसरी पगड़ी वाले युवक पर भी।

धागा मिल के मज़दूर एक तरफ़ बस की प्रतीक्षा में खड़े थे। वे आठ-दस थे। हाथ में थैले और सिर पर सामान की गठरियाँ। बीड़ी पीते हुए एक-दसूरे से बतिया रहे थे। केसरी पगड़ी वाला एक युवक उन के पास गया और बोला, 'आप सब इधर आओ। उस औरत की बोली सुन कर बताओ तो ज़रा कि वह क्या बोल रही है?'

'कौन-सी औरत?' एक मज़दूर रुखाई से बोला।

'उधर एक औरत है। वह क्या बोल रही है किसी को कुछ समझ नहीं आ रहा। शायद आप लोग समझ जाएँगे कि वह क्या कह रही है।'

उन मज़दूरों में से अधिकतर बिहारी थे, दो-तीन यू.पी. के थे और एक हिमाचली। एक बंगाली भी था। औरत अपने आप कुछ बोलती जा रही थी। वे सब उसे सुनने लगे। बंगाली उस के और नज़दीक गया। बोला तो औरत अचंभित रह गई। मुस्कुरा भी रही थी। दोनों आपस में बतियाने लगे।

बंगाली मज़दूर रोहित कई सालों से यहीं था। वह टूटी-फूटी पंजाबी बोल लेता था। पंजाबी में कही गई सब बातें समझ लेता था। केसरी पगड़ी वालों को जो उस ने बताया वह यह कि यह औरत बंगालन है। कलकत्ता शहर की। एक ट्रक-ड्राइवर चक़मा दे कर उसे यहाँ ले आया था कि वह उस से शादी करेगा। वहाँ इस के पति ने दूसरी शादी करवा ली थी। यह उधर अपनी तीन लड़कियाँ छोड़ कर आई है। दूसरी पत्नी इसे तंग करती थी और पति खाने-पहनने को नहीं देता था। इसे मारता-पीटता था। जो ट्रक-ड्राइवर इसे यहाँ ले कर आया था, अब मालूम नहीं कहाँ है। यह तीन-चार दूसरों लोगों के पास भी रही है। उन्होंने बीस दिन इसे एक कमरे में बंद रखा। वे शाम को अँधेरा पड़ने पर आते और सुबह जाते हुए बाहर ताला लगा जाते। केवल रात को ही रोटी खाने को देते। ट्रक-ड्राइवर दो महीने बाद इसे उन व्यक्तियों के पास छोड़ गया था, आज वही लोग ट्रक में से इसे यहाँ उतार गए हैं।

उस ने अपना नाम सुजाता बताया।

रोहित ने थानेदार को बताया कि यह किसी के भी घर जा सकती है, जो केवल उसे दो समय की रोटी दे सके। निहालसिंह नंबरदार उठा और थानेदार से पूछने लगा, 'इस से पूछो सरदारजी, यह रोटी वग़ैरह तो बना लेती है?' थानेदार ने रोहित को कहा, 'पूछना ज़रा इस से. . .।' रोहित ने सुजाता के साथ बात की और फिर टूटी-फूटी पंजाबी में बोला कि यह घर का सारा काम करेगी। निहालसिंह विनती करता हुआ बोला, 'महाराज, मैं गाँव जाता हूँ। एक घंटा दे दो केवल। अभी ला कर बंदा हाज़िर कर देता हूँ। इस का भी भला, उस का भी भला।'

'नंबरदार, तुम्हें ज़िम्मेदारी लेनी पड़ेगी। ऐसा न हो कि तुम्हारा वह बंदा भी ट्रक-ड्राइवरों की तरह इसे बीस दिन बाद फेंक दे।' थानेदार को भी अब उस औरत में दिलचस्पी हो गई लगती थी।

'न सरदारजी, फूलों की तरह रखेगा वह तो इसे। उसे तो औरत चाहिए, चाहे कैसी भी हो। केवल दो रोटियाँ पका सकती हो। वह बेचारा, खुद ही अपना हाथ जलाता रहता है। वह तो औरत के लिए सात जन्मों से भूखा है। फिर उस में ऐब भी कोई नहीं। कमाता है और खाता है। मैं ज़िम्मेदारी लेता हूँ इस बात की तो। आप हुक्म तो करो एक बार। जाऊँ मैं?'

'जा, यह भी ठीक है यदि यहीं इस का कोई ठिकाना बन जाए तो क्या हर्ज़ है।' इस बार री पगड़ी वाले बोले।

बचनसिंह का घर निहालसिंह के पड़ोस में था। उस का कोई नहीं था। अकेली जान, ज़मीन नहीं थी। घर भी क्या था, एक कमरा था। साथ में छोटी-सी रसोई। छोटा-सा आँगन। आँगन में नीम का पेड़। एक तरफ़ पानी का हैन्डपंप। एक तरफ़ नहाने-धोने का फ़र्श। वह शहर से चायपत्ती, कपड़े धोने वाला साबुन, माचिसें, गरम-मसाला वग़ैरह ले आता। साइकिल को गधे की तरह लाद लेता। आसपास के सभी गाँवों में जा कर बेच आता। कंजूसी करके उस ने काफ़ी पैसे जोड़ लिए थे। वह यह काम कई सालों से करता आ रहा था। इस समय उस की उम्र पचास के क़रीब थी। चालीस साल तक उस का कोई रिश्ता नहीं हुआ और फिर उस ने आस ही छोड़ दी। लेकिन उस के दिल में था कि वह एक दिन अपने घर बीवी ज़रूर लाएगा। उसे यह भी यक़ीन था कि अब तो पैसे दे कर बीवी आ सकती है। इसीलिए वह पैसे जोड़ता जा रहा था। बैंक की कॉपी में आठ हज़ार जमा थे। उसे किसी ने दस हज़ार का वायदा किया हुआ था। वह दिन देखता न रात, कमाई की तरफ़ ध्यान रखता। जैसे ही दस हज़ार होंगे, बीवी उस के घर में होगी। बीवी की आस में वह थकता नहीं था। वह सोचता, 'एक बार बीवी उस के घर में आ जाए, वह दुगुनी कमाई करेगा। जीते लोगों में आ जाएगा। बिरादरी के शिकवे ख़त्म हो जाएँगे। आँगन वाले नीम को एक दिन बताशे ज़रूर लगेंगे।'

बचनसिंह निहालसिंह की बिरादरी का था। चाहे वह अड़ोस-पड़ोस में किसी की बहू-बेटी की तरफ़ आँख उठा कर नहीं देखता था, लेकिन उस के घर कभी-कभी बेगाने लोग आते। रात पड़े आते और तड़के मुँह-अँधेरे ही निकल जाते। उन के साथ कोई लड़की भी होती। कुँवारे पड़ोस के सौ दुख, नंबरदार सोचता। वह पोते-पोतियों वाला ख़ानदानी आदमी था। बचन का घर बसाने के लिए वह बचन से ज़्यादा फ़िक्रमंद था।

आज बचनसिंह सामान बेचने नहीं गया था। उस का शरीर ढीला था। लौंग वाली चाय पी कर, चादर तान कर, वह आँगन में चारपाई पर पड़ा हुआ था। नंबरदार ने उसे झिंझोड़ा तो वह उठ कर बैठ गया। बात सुनी तो चादर तह कर सिरहाने रख दी। अँगड़ाई लेने लगा।

नंबरदार बोला, 'गुरबचनसिंह, मेरे भाई, देर तो कर मत। अब उठ और चल मेरे साथ। खोया वक़्त लौट कर हाथ नहीं आता।'

अकालसर से सुखानंद मंडी नज़दीक ही थी। पक्की लिंक सड़क। दोनों के पास अपनी-अपनी साइकिल। वे झट थाने जा पहुँचे। इस दौरान रोहित ने सुजाता से और भी कई बातें पूछ कर थानेदार को बताई थीं। थानेदार बातें सुनता और हँसने लगता। केसरी पगड़ी वाले, जो उस मंडी के नौजवान थे, कुछ समय के लिए चाय-पानी पीने अपने घर चले गए थे। भीड़ भी जा चुकी थी।

एक कागज़ पर थानेदार ने मुंशी से सुजाता का बयान लिखवा लिया। सुजाता ने अंग्रेज़ी में अपना नाम लिखा। फिर गुरबचनसिंह का बयान लिखा गया। उस ने पंजाबी में दस्तख़त किए। दोनों नौजवानों और नंबरदार निहालसिंह ने गवाही दे दी।

वह चलने लगा तो थानेदार बोला, 'गुरबचनसिंह, इसे बच्चा भी हो सकता है। फिर न कहना. . .'

'यह तो और भी अच्छी बात है सरदारजी। जल्दी बच्चा भी मिल जाएगा।' बचनसिंह को सब मंज़ूर था।

रोहित कह रहा था, 'आमार बाड़ी की जड़ें तोमार बाड़ी में लग रही हैं। ख़ुशी की बात, भई।'

थानेदार बोला, 'हमारे सिपाहियों के लड्डू, नंबरदार?' नंबरदार सारा इंतज़ाम करके आया था। उस ने चार बोतलों के पैसे गिन कर मुंशी को दे दिए।

बचन की साइकिल के पीछे सुजाता और नंबरदार की साइकिल के पीछे दारू बनाने वाला जाट था।

सुखानंद मंडी फिर से अपनी पुरानी चहल-पहल में खो गई।

पंजाबी से अनुवाद : **शांता ग्रोवर**

शकुंतला पंडा

अलबम की तस्वीर

जीवन का आरंभ है या अंत? यदि अंत, तो इस मन में इतना उत्साह, इतनी शक्ति कहाँ से आई? उन लोगों ने इस प्रश्न को स्मृतिचारण एवं भाषणों के दौरान बारंबार उपस्थित किया। अवसन्न अपराह्न की तरह कई शब्दों ने उस के मस्तिष्क की स्नायुतंत्री छू कर उसे उद्वेलित कर दिया।

अपने सहकर्मी छात्र-छात्राओं से वही पूछना चाहते थे इंद्रनाथ।

'कहिए, आरंभ है या अंत?'

हो सकता है इस प्रश्न को पूछते ही वे लोग इंद्रनाथ को पागल अथवा सठिया गया कहें। पचपन की उम्र में स्वेच्छा से रिटायर्ड होने वाले इंद्रनाथ मिश्र को ऐसी बचकानी हरकत शोभा नहीं देती। इस उम्र में गंभीरता ही फबती है।

उन के व्यक्तित्व पर कभी किसी ने उँगली नहीं उठाई, न ही इंद्रनाथ ही उन्हें ऐसा कोई अवसर अपने कार्यकाल के अंतिम दिन देना चाहते हैं जिस से उन के व्यक्तित्व के प्रति कोई विपरीत भावना जन्म ले। इस प्रश्न का अपने पास उत्तर है। अतः दूसरों को क्यों परेशान किया जाए? हो सकता है कुछ उन से सहमत न हों। सुरबाला? प्रातः नींद से उठने के बाद से अब तक उन के साथ भेंट नहीं हुई। ट्रे में चाय की प्याली, केतली इत्यादि तथा प्लेट में कुछ बिस्कुट रख कर सुरबाला सीढ़ी से उतर कर उन के पास आ रही हैं। प्रातः भ्रमण के बाद बगीचे के इस शांत परिवेश में दो कुर्सियाँ डाले इंद्रनाथ सुरबाला के इंतज़ार में रोज़ बैठे रहते हैं। अब भी वही क्रम चल रहा है।

कल रात देर से लौटे थे इंद्रनाथ। विश्वविद्यालय के छात्रों ने चाय के लिए रोक लिया था। बाद में अन्य प्रोफ़ेसरों के साथ आंतरिक बातचीत एवं भोजन के उपरांत जब वे घर लौटे, सुरबाला सो चुकी थीं।

इंद्रनाथ को नींद नहीं आई। आज का दिन उन के लिए काफ़ी महत्त्वपूर्ण था। आनंद एवं ख़ुशी से भरा दिन। अपने कमरे में रोशनी जला कर मेज़ के पास आ बैठे एवं पुराने काग़ज़, किताबों को काफ़ी देर तक उलटते रहे। सुरबाला क्लांत हो कर सोती रहीं।

सुबह का यह शांत समय दोनों के लिए जैसे अपेक्षारत है। इंद्रनाथ ने चाय बना कर सुरबाला को पकड़ाई। अपना कप उठा कर कुछ देर तक पत्नी को मुग्ध दृष्टि से देखते रहे इंद्रनाथ। कहा, 'जानती हो, कल रात मैं पुराना अलबम देख रहा था—तुम्हें याद है? पहली बार तुम जब हमारे यहाँ आई थीं—यह वही तस्वीर है। गाँठ बाँधे

हम दोनों चल रहे हैं। घूँघट में भी तुम्हारे चेहरे का तीखापन दिख रहा है।'

'सुनिए, उस दिन की बात इस उम्र में! पोते-पोती की बात सोचिए!'

'क्यों? जी नहीं, मैं किसी की नहीं, अपनी बात सोचूँगा।'

'स्वार्थी! अपनी बात में क्या रखा है?'

'सुनो सुरबाला, ज़्यादा मत बोलो! मैं पूछना चाहता हूँ, क्या तुम मेरे साथ पहाड़ चलोगी? इस शहर में गर्मी पड़ने लगी है। थोड़े ही दिनों में असहनीय हो जाएगी। चलो, मसूरी या नैनीताल कहीं चल कर कुछ दिन बिता कर आया जाए।'

सुरबाला स्तब्ध हो गई। एक दिन पुरी जा कर जगन्नाथजी के दर्शन करने का समय नहीं निकाल पाते इंद्रनाथ। अपने पठन-पाठन एवं छात्रों में ही व्यस्त रहते हैं इंद्रनाथ! कभी-कभी विश्वविद्यालय के कार्य से भारत भ्रमण कर आते, पर कभी सुरबाला को साथ लेने का अवसर नहीं निकाल पाते। इधर वह बच्चों की पढ़ाई और उन की परीक्षा छोड़ कर कहीं जा पाती!

बच्चों के बड़े होने पर, दोनों बेटों की नौकरी, शादी एवं बेटी का ब्याह कर देने के बाद कभी उन का परिवार-संसार देखने का समय नहीं मिला। बच्चों के शहर की दूरी को अर्थाभाव के कारण वे कभी तय नहीं कर पाए। अब जो बच्चे कभी यदा-कदा अतिथि की तरह आ जाते हैं, माँ-पापा से मिल कर घूमघाम कर लौट जाते हैं। उन्हें ज़्यादा दिनों तक रुकने को कहना संभव नहीं हो पाता, क्योंकि इस से अधिक पैसों की आवश्यकता बढ़ जाती। भविष्य के लिए सामान्य बचत, आभिजात्य से भरे जीवन का दैनिक ख़र्च, फिर अन्यान्य ख़र्च भी हैं। लाख हिसाब जोड़ने पर ही गुणा-भाग, जोड़-घटाव करके संसार का ख़र्च चला पाते हैं इंद्रनाथ। पर इतना कुछ जानने-समझने के बाद भी बच्चों को बिना देखे रहा नहीं जा पा रहा उन से।

'कुछ कहा नहीं तुम ने? क्या सोच रही हो?'

इंद्रनाथ के प्रश्न से उतावली हो कर कुछ ढूँढ़ने लगीं सुरबाला।

'सुनिए, मैं भूल गई थी, निलय ने पत्र लिखा है, पढ़िए।'

'क्या लिखा है?' गंभीरता से पूछा इंद्रनाथ ने।

'हम दोनों को बुलाया है। हमें अब उस के साथ ही रहना चाहिए। इस उम्र में यही ठीक रहेगा। समझाया है, साथ ही आप से कुछ आवश्यक बातें भी करना चाहता है।' पत्र का सारांश सुनाया सुरबाला ने।

'कितने दिनों तक हम स्वस्थ रह पाएँगे। अंत में बेटे-बहू के आश्रय में रहना ही है।' इंद्रनाथ की चुप्पी के कारण सुरबाला बोलती गईं।

इंद्रनाथ अचानक हँस पड़े, 'अंतिम यात्रा के लिए प्रस्तुतीकरण।' वे फिर हँस पड़े।

'क्या कहे जा रहे हैं! पता नहीं क्यों सारी ऊलजलूल बातें आप को चाय पीते समय ही सूझती हैं,'—कहते हुए सुरबाला गुस्से से उठ गईं कुर्सी छोड़ कर।

इंद्रनाथ ने कहा, 'क्यों परेशान हो रही हो, मुझे आज विश्वविद्यालय नहीं जाना। सुनो, अब जहाँ भी कहोगी ले चलूँगा। निलय चाहता है—ठीक है, चलो घूम आते हैं दो चार दिन।'

निलयकांत एवं सागरिका स्टेशन आए थे इंद्रनाथ, सुरबाला को लेने। उस दिन रविवार था। दिन सुख से बीत गया। पोते-पोती की तुतली बातों से सुरबाला का मन भी खिल उठा। यहाँ तक कि उन्हें बेटे के घर का नौकर भी अच्छा लगा। नौकर खाना-वग़ैरह भी बढ़िया बना लेता है। आया भी बच्चों का खूब ध्यान रखती है। निलय

एवं सागरिका तो जैसे उन्हें घर पर ही रखे रहे। इंद्रनाथ तीन साल की पोती को चित्र आँकना सिखा रहे थे। सुरबाला की गोद में साल भर का छोटा निलय खेल रहा है, ठीक अपने पापा की तरह। क्या चेहरा पाया है बच्चे ने, और माँ का रंग!

सोमवार की सुबह दृश्यांतर हो गया। निलयकांत एवं सागरिका जल्दी-जल्दी ऑफ़िस चले गए। किसी ने किसी को नहीं देखा। चपरासी ने आ कर चाय पकड़ाई। नहा कर बैठे हैं इंद्रनाथ और सुरबाला, परंतु किसी ने नाश्ते के लिए नहीं पूछा। देर तक इंतज़ार करने के बाद सुरबाला स्वयं रसोई से टोस्ट, पनीर, चाय एवं कुछ फल ले कर इंद्रनाथ के पास आ बैठी। देर तक बैठने के बाद भी चपरासी-माली की गप्पें बंद नहीं हो रही थीं। बच्चे सो रहे हैं। माता-पिता के जाने के बाद बच्चे देर से उठें, इसलिए आया रात में उन्हें देर से सुलाती है। बच्चे अब उठे। उन का काम कैसे पूरा हो रहा है। दोनों नौकर उन्हें सँभाल नहीं पा रहे। आया बच्ची एलिजा पर हाथ उठा रही है। चपरासी चिल्ला रहा है। नहलाने-धुलाने से ले कर खिलाने तक किसी भी काम में सफ़ाई नहीं। सुरबाला के असंतोष को देख कर इंद्रनाथ कहने लगे, 'तुम इन की बातों में मत पड़ो। जिन के बच्चे हैं, वही सँभालें।'

'तो क्या बच्चे हमारे नहीं हैं?' एलिजा को गोद में लेते हुए सुरबाला ने कहा।

इंद्रनाथ हँस कर चुप हो गए। दिन भर बहू-बेटे के दर्शन नहीं। आया से पता चला कि मेम साब ऐसे ही देर से लौटती हैं। दोस्त बहुत हैं। प्रायः भोजन के लिए चली जाती हैं किसी के यहाँ। और प्रायः साहब भी टूर नहीं तो ऑफ़िस के काम में व्यस्त रहते हैं।

रात बारह बजे बेटे-बहू के लौटने पर क्या बातें हो सकती हैं भला? इंद्रनाथ का धीरज टूटने लगा। तीन दिन, तीन साल की तरह बीते। उन्होंने सुरबाला को नींद से उठा कर पूछा, 'निलय की गाड़ी जा रही है, हमें विनय के घर घूम आने के लिए कह रहा है। सोच रहा हूँ विनय एवं नीलिमा के घर भी हो आऊँ। फिर कौन आने की दिक़्क़त मोल ले।' सुरबाला ने दीर्घ श्वास के साथ सम्मति प्रकट की, 'ठीक है। हो आइए।'

सागरिका उलाहने से कहने लगी, 'क्यों माँजी, आप आने के बाद में निश्चिन्त हो गई थीं। अब आप इतनी जल्दी. . . इतनी जल्दी चली जा रही हैं?' सुरबाला की आँखें भींग गईं। उन का परिवार भरापूरा है परंतु उन की पकड़ में कुछ भी नहीं आ रहा है। पता नहीं कहाँ क्या हो रहा है, उन्हें मालूम नहीं पड़ रहा है।

रात के भोजन के समय निलय ने कहा, 'पापा, अब तक मैं ने अपना प्लान आप को बताया नहीं। अब तो आप के बैठने का समय आ गया है। आप ने जो ज़मीन ख़रीदी है उस में मल्टीस्टोरीड बिल्डिंग बनाने पर आगे के लिए ख़ूब अच्छा रहेगा। सभी फ़्लैटों को भाड़े पर लगा कर आप दोनों मेरे साथ एवं विनय के साथ रह सकते हैं अथवा अपनी इच्छा अनुसार एक फ़्लैट में आप माँ के साथ भी रह सकते हैं। वर्तमान में उस शहर में किराए के मकान की काफ़ी माँग है। आप जानते ही हैं कि मैं या विनय अपनी नौकरी के कारण मकान बनाने का बीड़ा उठा नहीं पाएँगे।'

'बेटा, इतना रुपया कहाँ है?' सुरबाला बीच में ही बोल पड़ी।

'रुपया लगाने से ही, रुपया कमाया जा सकता है माँ। केवल जमा करने पर कुछ नहीं होता। अब तो पापा पेंशन, ग्रेच्युइटी, इंश्योरेंस इत्यादि से सारा रुपया पा ही जाएँगे।'

'हाँ बेटे, वह सब तो ठीक है! परंतु मैं अब कोई झंझट मोल नहीं ले सकता। तुम सब जानते ही हो, फूलों के बगीचे एवं फलों के पेड़ों के साथ उस ज़मीन पर मैं ने दो कमरों वाला मकान बनवाया है। हम दोनों के लिए क्या वह पर्याप्त नहीं है?'

इंद्रनाथ चुप हो रहे। मन ही मन कहते रहे, देखिए, यह है मेरे जीवन का आरंभ। मैं बंधन नहीं चाहता। मुझे मेरी तरह जीने दें। मेरे सब बच्चे सुख से रहें, आनंद से रहें। हम माता-पिता यही चाहते हैं।

इंद्रनाथ के अंदर की ये बातें कोई नहीं सुन पाया। निलय और सागरिका काफ़ी देर पहले वह स्थान छोड़ कर चले गए थे। एकमात्र सुरबाला ही खाने की मेज़ पर, एक कोने में बैठी रहीं देर तक।

ओड़िया से अनुवाद : **केतकी महापात्र**

बटरोही

बिच्छी बुआ पर श्वेतपत्र जारी होगा

इस पहाड़ी गाँव का पुराना नाम शौरफटक था। नेहरू रोज़गार योजना के गाँव में प्रवेश के साथ ही नए नाम का आगमन हुआ—शहरफ़ाटक। मेरे भाषा-वैज्ञानिक मित्र बताते हैं कि ऐसा हमेशा होता है। राजकीय संरक्षण प्राप्त भाषा हमेशा ही शेष भाषाओं को लील जाती है। मित्र महोदय बताते हैं कि किसी ज़माने में ब्रजभाषा राज करती थी और खड़ी बोली गँवारों की बोली समझी जाती थी। मगर राजधानी के दिल्ली बनते ही खड़ी बोली ने ब्रजभाषा को मथुरा-वृंदावन तक ही समेट कर रख दिया। फिर नया ज़माना आया तो सारी भारतीय भाषाएँ अंग्रेज़ी के इशारे पर नाचने लगीं। 'पुरम्' का 'पुरा' और 'अशोक' का 'अशोका' तक तो ग़नीमत, इस अंग्रेजी ने 'कर सेवा' को 'कार सेवा' बना डाला।

लगभग इसी तरह हिन्दी ने अपनी बेटी कुमाऊँनी के 'शौरफटक' को बदल कर 'शहरफ़ाटक' बना डाला। अर्थ ही इतना बदल डाला कि दूर-दूर तक दोनों के बीच कोई संबंध ही नहीं रहा। कुमाऊँनी में 'शौर' का अर्थ है 'ससुर' और 'फटक' का अर्थ है 'कूद'। कहाँ 'ससुर की कूद' और कहाँ 'शहर का फ़ाटक'।

यह बात हालाँकि हैरत में डालने वाली है क्योंकि हिन्दी उस सीधे पल्ले वाली, पुराने ज़माने की माँ की तरह है जो पूरी ज़िन्दगी खटा कर बेटे-बेटियों को पालती है, मगर ज्यों ही बच्चे आत्मनिर्भर हो कर गृहस्थी का भार सँभाल लेते हैं, एक दिन उन्ही के अनुसार ढल जाती है। बेटे-बेटियाँ ही क्यों, दूसरे जो लोग भी उस की शरण में आते हैं, उन के साथ भी वह ऐसा ही व्यवहार करती है—वो चाहे उर्दू बेगम साहिबा हों या अंग्रेज़ी खबीस।

इसीलिए लगता है कि 'शौरफटक' से 'शहरफ़ाटक' का यह परिवर्तन हिन्दी की नहीं, किसी और की क़ारस्तानी होनी चाहिए। हिन्दी तो इस गाँव में नेहरू रोज़गार योजना के आगमन से काफ़ी पहले मौजूद थी, मगर अंग्रेज़ी उस के बाद आई। पहले यहाँ प्राइमरी पाठशालाएँ होती थीं, अब गाँव-गाँव में कुकुरमुत्तों की तरह कॉन्वेन्ट उग आए हैं, पहले अंग्रेज़ी कक्षा छह से पढ़ाई जाती थी, अब अंग्रेज़ी तो नरसरी से पढ़ाई जाती है मगर संस्कृत-हिन्दी की पढ़ाई कक्षा छह से वैकल्पिक कर दी गई है। पहले कक्षा दो तक शिक्षा का माध्यम कुमाऊँनी और फिर हिन्दी होता था, अब शुरू से ही माध्यम अंग्रेज़ी बन गया है।

अतः जब हिन्दी है ही नहीं तो 'शहरफ़ाटक' शब्द हिन्दी का कैसे हो जाएगा? जैसे 'जवाहरलाल' हिन्दी का शब्द है और 'मदर टेरेसा' अंग्रेज़ी का। लेकिन अपनी-अपनी भाषाओं में इन दोनों शब्दों के अर्थ नहीं हैं। लानत है इन भाषा पंडितों पर, शब्द एक भाषा का बनाते हैं और अर्थ रखते हैं दूसरी भाषा में।

यह कहानी जिस बिच्छी बुआ की है, उस का अतीत 'शौरफटक' है और वर्तमान 'शहरफ़ाटक'। अतः इन शब्दों का अर्थ पूछने के लिए पंडितों के पास जाने के बजाय बिच्छी बुआ के बारे में जान लें तो हमें सहज ही पता लग जाएगा कि 'शहरफ़ाटक' हिन्दी का शब्द है या अंग्रेज़ी का।

पैंतीस हज़ार वर्ष पहले की बात है, एक पहाड़ी गाँव था शौरफटक, जिस में बिच्छी बुआ रहती थी। पूरा नाम ज्ञात नहीं है। हो सकता है कि उस का नाम बचुली देवी हो या बान्या दुब्रेत्स्काया, बेला सिंह हो, बृन्दा बिष्ट हो या बाटिका जोशी, बिजली अग्रवाल हो या बीना यादव.... उस का नाम बॉबी स्मिथ भी हो सकता है और बेनज़ीर अहमद भी, बलबिन्दर कौर भी हो सकता है और बृहन्नला देवाशीष भी। कुछ भी हो सकता है, लेकिन इस से क्या फ़र्क पड़ता है?

निहायत टिपिकल पहाड़ी औरत है बिच्छी बुआ। उम्र पैंतीस वर्ष। क़द चार फ़ुट दस इंच। मध्यम शरीर। एक आम पहाड़ी औरत की तरह दबी हुई नाक और उठा-उभरा माथा। तराशी हुई गरदन और उभरे हुए नितंब। नेहरू रोज़गार योजना और टेलीविज़न के आगमन के बावजूद अभी ब्रेसियर और पैन्टी नहीं पहनती, माला डी या डीलक्स निरोध नहीं देखा है, फिर भी 'फ़िगर' के लिहाज़ से अपनी उम्र से कम लगती है। पैंतीस साल में पैंतीस हज़ार वर्षों से चली आ रही पहाड़ी औरत का जीवन जी चुकी है और पहाड़ की इस औरत का बिम्ब सहज ही उस की आँखों में देखा जा सकता है। अतः किताबी शिक्षा तो शून्य है लेकिन जीवन की शिक्षा पैंतीस हज़ार वर्ष। भाषा ज्ञान—कुमाऊँनी और चेहरे की भाषा?

बिच्छी बुआ आजकल आमरण अनशन पर बैठी है। आज ही ज़िलाधिकारी से उस की बातें हुई थीं। ज़िलाधिकारी अंग्रेज़ी में बोल रहे थे और वह कुमाउँनी में, इसलिए दोनों एक दूसरे की भाषा नहीं समझ पा रहे थे। ज़िलाधिकारी अपनी बातों को अनेक तरह के मुहावरों द्वारा पेश करने की कोशिश कर रहे थे लेकिन फिर भी अपनी बात नहीं समझा पा रहे थे। बिच्छी बुआ बार-बार अपने बचपन से ले कर अब तक की लंबी दास्तान सुना रही थी, जो पूरी होने में आ ही नहीं रही थी।

बिच्छी बुआ के इस लंबे आत्मालाप को सुनने की फ़ुरसत तो ज़िलाधिकारी को नहीं थी, फिर भी वह जो-कुछ कह रही थी, उस का निचोड़ इस प्रकार था :

बिच्छी बुआ जब पाँच वर्ष की थी तभी से वह मुँह अँधेरे उठ जाती थी। भिनसार चिड़िया की पहली कूक न जाने कैसे उसे सपने देखते हुए भी सुनाई देती और वह बिना कोई देर किए, सपने को धकेल कर मिट्टी लिपे फ़र्श पर उठ कर बैठ जाती। बचपन में उसे मोटे गाड़े का एक फ्रॉक पहनाया गया था जिसे वह दिन में पहनती और रात को ओढ़ती। बड़े होने पर यह फ्रॉक घाघरा-आँगड़ा (मोटे कपड़े का ब्लाउज़) बन गया और रंग हरे से नीला हो गया। कपड़ा वही गाड़ा रहा और काम भी वही रहा—दिन में पहनना, रात को ओढ़ना।

भोर के धुँधलके में ही बिच्छी बुआ गाय-भैंसों के गोठ में घुसती तो जुगाली करते मवेशी उस के स्वागत में झटके में उठ खड़े होते। रात भर मवेशियों द्वारा फैलाया गया गोबर समेटती। कभी-कभी अँधेरे में कुंडली मारे साँपों पर हाथ या पाँव पड़ जाते, कभी उसे डस भी लेते लेकिन इस सब की परवाह किए बिना वह गोबर को टोकरे में भर कर बाहर खाद के ढेर में डालने लगती। गोबर ही साँप के ज़हर का प्रतिरोधक बन जाता और वह भैंसों के आगे पुआल फैला कर दूध दुहने लगती। लोटे में या किसी छोटी-मोटी बाल्टी में दूध दुह कर दुमंज़िले के पिछवाड़े रसोई में दूध को कढ़ाई में उड़ेलती तो बाहर निकलने तक पूर्वी क्षितिज गुलाबी से नारंगी और नारंगी से

लाल हो चुका होता। क्षितिज के रंगों में तेज़ गति से आने वाला यह परिवर्तन सिर्फ़ बिच्छी बुआ ही देख सकती थी। पाँच वर्ष की उम्र में ही रंगों की यह विशिष्ट छवि उस की आँखों में इतनी बस गई होती कि बिच्छी बुआ बिना देखे बता सकती थी कि इस वक़्त क्षितिज का रंग कैसा है?

जितनी तेज़ गति से क्षितिज के रंग बदलते थे, उतनी ही तेज़ गति से बिच्छी बुआ भी बच्ची से किशोरी, किशोरी से युवती, युवती से प्रौढ़ा और प्रौढ़ा से वृद्धा हो जाती।

पानी की गगरी ले कर गाँव के दक्षिणी पार्श्व पर स्थित नौले (पोखर) पर जाती बिच्छी बुआ। नौले की मुँडेर पर गगरी रख कर आसपास के खेतों के किनारे शौच से निवृत्त होने के बाद फ्रॉक या घाघरा-आँगड़ा किनारे रख कर कव्वे की तरह नहा लेती और उसी तेज़ी से, उड़ कर बैठते हुए पक्षी के पंखों की तरह कपड़े पहन, गगरी सिर पर रख जब घर वापस लौटती तब तक उजाले में ख़ासी ठसक आ चुकी होती।

चूल्हे में आग जला कर दूध उबालना, परिवार के सारे मर्दों को दूध देना (नेहरू रोज़गार योजना आने के बाद दूध का स्थान चाय ने ले लिया), बच्चों को सुबह की रोटी खिलाना, दुधमुँहे बच्चों को दूध पिला कर टोकरे में रख बाहर धूप में सुला देना, गाय-भैंसों को गोठ से निकाल कर बाहर बाँध देना और फिर दराँती कमर में खोंस कर रस्सी सिर पर सँभालते हुए जंगल की ओर निकल जाना।...

गाँव से जंगल की सीमा तक मन ही मन में भगनौले, न्यौली, बैर और चाँचरी गुनगुनाना, जंगल शुरू होते ही ज़ोर-ज़ोर से नाचते-गाते हुए उन्हें वृक्षों-शिखरों को सुनाना।... जंगल के किसी कोने पर छिपे मनचले का यह समझना कि बिच्छी बुआ यह प्रेमगीत उस के लिए गा रही है, दौड़ कर उस के पास आ कर बड़े फूहड़ ढंग से अपना प्रेम-प्रदर्शन करना।...

गाँव के पुराने नाम 'शौरफटक' का संबंध मनचलों के इसी फूहड़-प्रदर्शन के साथ है। गाँव के दक्षिणी छोर पर एक काली शिला कई मीटर आगे तक निकली हुई थी जिस के नीचे मीलों लंबे ढलान तक न कोई पेड़ था, न झाड़ियाँ। कहीं-कहीं पर ऊबड़-खाबड़ आबनूसी शिलाओं के चेहरे झाँकते थे या नागफनी और रामबाँस के राक्षसी पौधे हाथ फैलाए हुए सब कुछ लील जाने के लिए मानो बेताब थे।

बिच्छी बुआ के जंगल में गाए जाने वाले मधुर न्यौली गीतों (नई-नवेली दुल्हन के गीत) पर फूहड़ प्रेम की प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाले मनचलों के साथ गुज़ारी गई स्मृतियाँ अगर कभी पेट में अटकी रह जातीं या विवाह के दूसरे ही दिन शहर चले गए पति की नराई (याद) में आँसू बहाती बिच्छी बुआ के देवर-ससुर द्वारा ही आँसू पोंछ दिए जाते तो किसी आधी रात को मुँह में कपड़ा ठूँस कर, दोनों हाथों को मोटी रस्सी से बाँध कर खींचता हुआ ससुर मीलीं लंबे ऊबड़-खाबड़ ऊँचे-नीचे रास्तों में बिच्छी बुआ की घुटी-घुटी चीखों के टुकड़े छिटकाता हुआ चला जाता था और भोर का उजाला होने से पहले काली हत्यारी शिला से अकेले लौट कर बिस्तरे पर चैन की नींद सो जाता।

हत्यारी शिला से लौटते हुए ससुर अपनी बहू के उल्टी दिशा की ओर बने पगचिह्नों को अपने पाँवों से मिटा देता, इस तरह उल्टी और सीधी दिशा में केवल (ससुर के) दो ही पाँवों के निशान बचे रह जाते।

दूसरे दिन बहू की अनुपस्थिति में शोर मचता, मगर वास्तविकता जानते हुए भी लोग बहू को जंगल, नदी और खेतों में खोजने लगते। शाम होते-होते ससुर तक समाचार पहुँचा दिया जाता कि बहू ने हत्यारी शिला पर से कूद कर आत्महत्या कर ली है। वहाँ पर से शव को लाया जाना संभव नहीं होता, इसलिए गाँव की शेष बहुएँ हफ़्तों तक अपने मन में वहाँ मँडराते चील-कव्वों से घिरी अपनी देह को नुचते हुए देखती हुई खेतों के किसी मोड़ पर

आँसुओं की धारा बहाती रहतीं।

अपनी ही मौत को कई-कई बार अपनी आँखों से देखना—यह अनुभव भी केवल बिच्छी बुआ को है; शरीर का शव में बदलना और शव को अपनी ही आँखों से चील-कव्वों द्वारा नोंचे जाते को देखना—कई-कई बार। बिच्छी बुआ ने इसीलिए इस हत्यारी शिला का नाम रखा था—शौरफटक—ससुर की कूद। यानी ससुर के आदेश पर मारी जाने वाली बहुओं की कूद। यही शौरफटक अब शहरफ़ाटक हो गया था—शहर का प्रवेश द्वार। इसी शहर के फ़ाटक से होते हुए नेहरू रोज़गार योजना आई थी, उर्दू बेगम साहिबा आई थीं और आया था अंग्रेज़ी खबीस, जिस ने आते ही सब कुछ अपने क़ब्ज़े में कर लिया।

•

जंगल से लौटते-लौटते दोपहर का सूरज बिच्छी बुआ के एकदम सिर के ऊपर होता—हुसैन के चित्रों की तरह। घास का गट्ठर गोठ के किनारे खड़े पेड़ के नीचे पटकती और कमर से दराँती निकाल कर उसे छत की मुँडेर पर खोंस देती। वहाँ बने चिड़ियों के घोंसलों में चिचिया रहे नवजात चूज़ों पर एक नज़र डालती और खाने की जुगत में जुट जाती। आँगन में बैठे हुक़्क़ा पी रहे अपने पति की चिलम में से दो जले कोयले ले कर चूल्हे में आग जलाती और भदाली (कड़ाह) में छाँछ तथा भड्डू में भात उबलने रख देती। सारे परिवार को खिला कर खुद भी भदाली चाटती और फिर पनाणी पर बरतन मलने, रसोई लीपने तक दोपहर ढलने लगती थी।

धूप तब तक नदी पार दूसरी पहाड़ी पर चली जाती और बिच्छी बुआ कुदाल ले कर खेतों में निराई-गुड़ाई करने चली जाती। सीढ़ीदार खेतों में गुबरैलों की तरह बिखरी हुई बहुएँ आपस में अपना-अपना सुख-दुख कहतीं। मन और शरीर की थकान कुछ कम हो जाती तो खेतों से उखाड़ी गई खर-पतवार अपने-अपने जाल में भर कर घर लौटतीं। अस्त होते सूर्य की गुलाबी किरणें, पंजों के सहारे बढ़ती उन की गति और कूल्हों के ऊपर घाघरे के अवगुंठन के साथ नाचती हुई उन्हें उन के घर तक पहुँचा आती।

उजाला बचा रहता तो अपनी संतानों के झबरीले-लटीले बालों से लीख-जुँए खोजने लगतीं और आँखों पर से बहते कीचड़ के साथ दोनों अँगूठों के बीच लीखों-जुओं का गाढ़ा लाल रक्त फैला लेतीं। तब तक दूर पहाड़ी पर से दो-तीन छटाँक कड़वे तेल से युक्त बोतल को कंधे पर लटकाए (नेहरू रोज़गार योजना के बाद बोतल में तेल की जगह दारू आने लगी) और कंधे पर पिसान का थैला रखे (नेहरू रोज़गार योजना के बाद थैला ख़ाली हो गया और कंधे के साथ वह भी झूमने लगता) बिच्छी बुआ के ससुर या पति दिखाई देने लगते।

बिच्छी बुआ लोटा-बाल्टी ले कर भैंस दुहने गोठ चली जाती और अमूमन थनों में दूध भरने के कुछ देर बाद तक कटड़े को दूध पीने देती। मुट्ठी भर कर थनों पर पानी छिटकाने के बाद अँगूठे और तर्जनी से पूरे ज़ोर से थन दबा कर दूध निकालती और कटड़े के लिए पर्याप्त दूध छोड़ कर उठ खड़ी होती। (हाँ, नेहरू रोज़गार योजना के बाद भैंसों के लिए सब्सिडी मिलने लगी थी मगर पूरे थन चूस लेने के बावजूद पहले जैसा दूध नहीं रह गया था। न मात्रा में और न गुण में। न बिच्छी बुआ के लिए, न कटड़े के लिए। एक ही भैंस पर कई-कई बार ऋण मिलने लगा था, यह बात अलग थी कि ऋण आवंटित करने वाले अधिकारी को दो-तिहाई हिस्सा देना पड़ता था।)

भैंस-बैलों के मुँह पर घास डालती बिच्छी बुआ, रसोई में जा कर शाम का दूध गरम करती और दूध का एक बड़ा हिस्सा दही जमाने के लिए तथा एक छोटा-सा हिस्सा कटोरे में डाल कर बिल्ली के लिए, दूसरा छोटा-सा हिस्सा साँप के लिए आँगन की मुँडेर पर रख आती। जमाया गया दही अगर छाँछ के लायक जमा हो गया होता तो उसे डौंकी में डालती, फिरकनी को रस्सी में लपेट कर कमर में घाघरे की बनी गाँठ को नचाते हुए दही फैंटने लगती। डौंकी में से नौनी निकाल कर कड़ाही में गरम करने चूल्हे पर रख देती। नौनी-सने हाथों को अपनी सब

से छोटी संतान के सिर पर मलती। कड़ाही उतार कर घी निकालने के बाद जंबू की छौंक दे कर छाँछ उबालने रखती और दूसरे चूल्हे पर तवा चढ़ा देती।

बच्चे नींद के खुमार में आधा-अधूरा खा कर सो जाते। पति गाँव के सयानों के साथ गाँव के भूत-भविष्य पर चर्चा करने गया होता लेकिन खाना बन जाने तक वापस आ जाता। (नेहरू रोज़गार योजना के बाद पति घर पर ही नशे में बड़बड़ाता हुआ गाँव के सयानों और बीवी-बच्चों को गरियाता रहता।) खाना खाने के बाद गहरे सन्नाटे के बीच झींगुरों की आवाज़ के साथ बिच्छी बुआ बरतन मलती और आधी रात को चूल्हा लीपने के बाद अपने ठंडे-खुरदरे हाथों से ब्लाउज़ का बटन खोलती। एक ओर दुधमुँहे बच्चे का मुँह टिकाती और दूसरी ओर मर्द (?) का हाथ अपने-आप टिक जाता।

शौरफटक की बिच्छी बुआ की यही अंतरंग दिनचर्या थी। दिन-रात की इस लंबी अवधि में उसे न तो अपने बारे में सोचने की फ़ुरसत थी, न पति के बारे में और न अपने ससुर के बारे में। गाँव का नाम उस ने शौरफटक तो रख दिया था लेकिन वह आज खुद ही इस का अर्थ भूल गई थी। तभी तो बिच्छी बुआ आज पैंतीस हज़ार वर्ष बाद भी यह नहीं समझ पा रही है कि शौरफटक और शहरफ़ाटक में क्या अंतर है? ये दोनों अलग-अलग शब्द हैं या यह शब्दों का स्वाभाविक विकास है।

सचमुच वह एक ऐतिहासिक घटना थी। बिच्छी बुआ ने सारे ज़िला प्रशासन को हिला दिया था। किसी ने सपने में भी नहीं सोचा था कि इस दूर-दराज़ के इलाक़े में मीलों लंबी चढ़ाई चढ़ कर ज़िलाधिकारी, मुख्य विकास अधिकारी, अतिरिक्त ज़िलाधिकारी, परगनाधिकारी भागे-भागे आएँगे। अनपढ़-असभ्य बिच्छी बुआ ने वह कर दिखाया था, जो बड़े-बड़े आंदोलनकारी नहीं कर सके थे।

शहरफ़ाटक तक नेहरू रोज़गार योजना गाड़ी के ज़रिए आई थी, वहाँ से इलाक़े के ही कुछ शिक्षित बेरोज़गार युवक-युवतियाँ यहाँ बिच्छी बुआ के गाँव में उसे लाए थे। रोज़गार के अवसर, हरिजनों-दलितों और महिलाओं का आरक्षण, ऋण और सब्सिडी सुविधाएँ, हरित क्रांति, वन और पर्यावरण, परिवार नियोजन, शराबबंदी, लघु उद्योग आदि-आदि। ये सारी बातें शुरू में किसी की भी समझ में नहीं आई थीं लेकिन ये शहरी युवा ही जब गाँव के दो-चार लोगों को अपने साथ शहर ले गए थे तो गाँव के लोग तो वापस लौटे नहीं, लेकिन शहरी युवाओं के ज़रिए इन सारी सुविधाओं को गाँव भेजते रहे।

शहरी युवाओं ने गाँव में गोष्ठियाँ कीं, हड़ताल, आंदोलन और अनशन के बारे में विस्तार से जानकारी दी तथा इन तरीक़ों से किस प्रकार विभिन्न सुविधाएँ लाई जा सकती हैं, उन के प्रयोग किए। वे लोग अपनी गाड़ियों में आते, दो-एक दिन गाँव में रहते और जाती दफ़े फिर से गाँव के दो-चार युवाओं को ले जाते। गाँव के ये युवा तब भी नहीं लौटते। सब लोग किसी-न-किसी काम से वहीं शहर में ही लग गए होते। चनिया लोहार को लोहा पीटने के बजाय स्कूल की चौक़ीदारी बेहतर लगी; शेरी राम, भादुर सिंह, खीमानंद वग़ैरह युवाओं को गाँव में मकानों की दीवारें चिनने या खेत खोदने से अधिक आकर्षण शहर की सड़क कूटने में दिखाई दिया; गाँव के बेहतरीन राज-मिस्त्री खड़क राम को अफ़सर के कमरे के आगे स्टूल पर बैठना अधिक सम्मानजनक लगा और कई कुशल हलवाहों को होटलों के जूठे बरतन मलना और ग्राहकों की जूठन खा कर बिना बिछौने के भट्टी के पास सोना ज्यादा सुविधाजनक अनुभव हुआ।

शहरी युवाओं ने नेहरू रोज़गार योजना के अंतर्गत ऋण सुविधाओं के बारे में बताया तो लोग ऋण लेने लगे। हर घर में एक-एक सरकारी मुहर लगी भैंस बँध गई। उन्हें शराब की बुराइयों के बारे में बताया गया तो पहली

बार लोगों ने शराब के बारे में जाना। इन्हीं दिनों गाँव से शहर गए शेरी राम और कुशलिया थोकदार जब वापस लौटे तो चार-छह दिन के ही अंदर गाँव में देशी शराब की गंध अनुभव होने लगी। शहरी युवा जितना ही शराब के दुर्गुणों और स्वच्छ पर्यावरण की बात करते, उसी अनुपात में शराब के बारे में रुचि बढ़ती दिखाई देने लगी।

और फिर कुछ ही दिनों के बाद नेहरू रोज़गार योजना के परिणाम बड़े विचित्र रूप में सामने आने लगे। एक ही भैंस पर दो-तीन बार ऋण लिया जाने लगा, स्कूलों के लिए स्वीकृत ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड का अनुदान शराब-भट्टी में जाने लगा और टेलीविज़न के प्रणय-दृश्यों के बिम्ब नदी-किनारों, खेतों-पगडंडियों और चरागाहों में दिखाई देने लगे। परिणामस्वरूप कुछ ही वर्षों में लोग या तो तेज़ी से बुढ़ाने लगे या शहर की ओर भागने लगे। सारा गाँव औरतों, बच्चों और अपंगों-बूढ़ों की सराय-सा दिखाई देने लगा। हत्यारी शिला पर बहुओं को ले जाने वाले ससुर भी नहीं रहे, न वो मनचले युवक, जो गाँव की बहु-बेटियों की भावुकता का फ़ायदा उठाते थे। बीस की उम्र के युवक चालीस वर्ष के लगते और चालीस के बाद दमा-क्षयरोग से एक-एक करके खिसकने लगते।

अंततः नहीं रहा गया तो बिच्छी बुआ एक दिन गाँव की उस काली हत्यारी शिला पर चढ़ी और दराँती नचाती हुई रोज़गार योजना को गरियाने लगी। घंटों तक बिना रुके वह अपनी ठेठ गँवारू कुमाऊँनी में बकती रही—नाश हो जाए इस रोज़गार का, दरवाज़े ढके रह जाएँ, कोई गुसाईं न रह जाए, अपनी माँ का ख़सम हो जाए यह रोज़गार, जिस ने सफ़ेद आइने जैसे कागज़ में शराब भर कर भेज दी, घुटने टूट जाएँ इस के, चढ़ाई चढ़ने लायक ही न रहें पाँव उस के, जिस ने सनीमा-तसवीर की लड़कियों के कपड़े उतार दिए हैं... कि जिस को देख कर लड़के-लड़कियों ने अपने सारे काम छोड़ दिए हैं.... ऐसा तो हमारे ज़माने में ब्याह कर आने के बाद भी नहीं होता था। हमारी गाय-भैंसें भूखों मार डाली हैं, हल की मूठ को हाथ देने वाले और दराँती-कुदाल पीटने वाले हम से छीन लिए हैं... भगवान करे इस रोज़गार को हमारे शौर ज्यू (ससुरजी) फटक (कूद) लगा दें, इस रोज़गार के पालने वाले को इंदर भगवान बहा ले जाएँ अपने साथ।... लगता था कि जैसे आज बिच्छी बुआ सचमुच पगला गई है।

शहरी युवा उस दिन गाँव में ही थे। उन लोगों ने बिच्छी बुआ को हत्यारी शिला से नीचे उतारा और गाँव के प्राइमरी स्कूल के कमरे में बैठा कर उसे फूलों की माला पहना दी। बिच्छी बुआ के दोनों ओर तीन-चार शहरी युवक और युवतियाँ भी माला पहन कर बैठ गए। यह संकल्प लिया गया कि जब तक सरकार खुद आ कर बिच्छी बुआ से माफ़ी नहीं माँगेगी, वे लोग न खाना खाएँगे, न पानी पिएँगे। आमरण अनशन जारी रहेगा।

जो शहरी युवा अनशन पर नहीं बैठे थे, वे दूसरे ही दिन ज़िला मुख्यालय गए और वहाँ से लौटते हुए अपने साथ ज़िला प्रशासन को लेते आए।

ज़िलाधिकारी ने बिच्छी बुआ से अनेक प्रश्न किए और बिच्छी बुआ ने पहले की तरह अपना पक्ष रखा। मगर न तो ज़िलाधिकारी बिच्छी बुआ की भावनाएँ समझ सका, न बिच्छी बुआ की समझ में ही कुछ आया। वह भावावेश में इतनी ठेठ कुमाऊँनी बोल रही थी कि मैदानों से आया ज़िला प्रशासन तो क्या, शहरी युवा भी, जो बिच्छी बुआ के गाँव के ही प्रवासी थे, उस की भाषा नहीं समझ सके। ज़िलाधिकारी ने युवाओं से बिच्छी बुआ की बातों का अंग्रेज़ी में अनुवाद सुनाने के लिए कहा, मगर वे क्या अनुवाद करते? फिर भी कुछ न कुछ उल्टा-सीधा तो बता ही दिया उन्होंने।

और जब बिच्छी बुआ ने मन भर कर गाली दे दी, जी भर कर रो लिया तो मूर्छित हो कर वहीं ज़मीन पर गिर पड़ी। ज़िलाधिकारी ने बिच्छी बुआ को संतरे का रस पिलाया और अपने साथ लाए एक कुशल डॉक्टर के परीक्षण के बाद ससम्मान उस के घर भेज कर शीघ्र ही उस की समस्याओं को ले कर एक श्वेतपत्र जारी करने का आश्वासन

दे दिया। शहरी युवा 'बिच्छी बुआ की जै' के नारे लगाते हुए ज़िला प्रशासन के साथ ही वापस शहर चले गए।

गाँव के युवा अभी भी शहर जा रहे हैं और अभी भी उन में से कोई वापस नहीं आता। गाँव में बचे हुए लोगों को बचपन में ही बूढ़ा बनाने के लिए अभी भी शराब बनती है, अलबत्ता शहरी युवा अब गाँव नहीं आते। शहरफ़ाटक की समस्याओं के विशेषज्ञ के रूप में वे लोग ज़िला प्रशासन को श्वेतपत्र तैयार करने में मदद देते हैं। बिच्छी बुआ पर श्वेतपत्र तैयार करने के लिए पहाड़ी विकास मंत्रालय ने कई करोड़ रुपयों का एक महत्त्वाकांक्षी प्रोजेक्ट स्वीकार किया है, जिस पर युद्ध स्तर पर कार्य चल रहा है। मुख्यमंत्री के स्पष्ट आदेश हैं कि अगर छह महीने के अंदर रिपोर्ट नहीं पेश की गई तो इस के लिए ज़िलाधिकारी को दंडित किया जाएगा।

कर्त्तार सिंह दुग्गल

कमबख़्त लकीरें हाथ की

मनीष का ज़मीर हमेशा उसे कचोटा करता! उसने कुद्दसिया के साथ ज़्यादती की थी। ज़्यादती सी ज़्यादती! यूँ किसी जवान-जहान लड़की की ज़िन्दगी से खिलवाड़ करना! वह सोचता और उस की अंतर-आत्मा उसे कोसती, लानत भेजती रहती।

एक तूफ़ान जैसे उमड़ पड़ा हो। यूँ ही तो हुआ था। एक आँधी, एक बगूला और उस के पाँव जैसे उखड़ गए थे। जैसे उसे कोई उड़ा कर ले गया हो। कैसे बारिश हुई थी। कैसे टूट-कर बादल बरसे थे। सब कुछ ढह-ढेर हो गया। पलक झपकते ही तो सब कुछ हो गया था। अब भी जब वह उस शाम के बारे में सोचता, उसे लगता जैसे उस के कपड़े निचुड़ रहे हों। भीगा-भीगा वह महसूस करता।

गिनती के कुछ दिनों के लिए ही तो वह उन के देश में मेहमान था। हॉकी का मैच खेलने-टीम के साथ गया था और वह कॉलेज से खिसक कर अपनी सहेलियों के साथ मैच देखने आई थी। क़ायदेआज़म स्टेडियम में सब से अगली पंक्ति में बैठी थी। जाड़ा जा रहा था। कोसी-कोसी पोठोहार की धूप। मूँगफली खा-खा कर उस की सहेलियाँ छिलकों के ढेर लगा रही थीं। लेकिन कुछ देर से मूँगफली का दाना उस की उँगलियों में वैसे का वैसा थमा रह गया था, और वह एक-टक उस की ओर देखे जा रही थी। मेहमान-टीम का 'राइट-आउट'। यह कौन था? किस ख़ूबसूरती से गेंद को रोकता और फिर जैसे उड़ कर 'डी' में पहुँच जाता। एक बार, दो बार, तीन बार और फिर आख़िर इस बार गेंद को लपेटता हुआ गया, देखते ही देखते उस ने गोल दाग़ दिया। मेहमान टीम ने गोल किया था। उन की अपनी टीम पर गोल हुआ था, और दीवानी वह तालियाँ बजा-बजा कर दाद दे रही थी। उस की सहेलियाँ उस के मुँह की ओर देख रही थीं और फिर रेडियो की कॅमेन्टरी से उसे मालूम हुआ कि उस का नाम 'मनीष' था। मनीष ने पहले पाँच मिनटों में गोल दाग़ कर स्टेडियम में जमा दस हज़ार के मज़मे को चकाचौंध कर दिया।

फिर 'फ्री हिट'; और उधर जैसे उस ने गेंद को दबोच लिया हो। विपक्षी टीम के खिलाड़ियों को तरह दे कर, वह बिजली के कौंचे की तरह टूट पड़ा था, और फिर मुख़ालिफ़ 'डी' में जा उतरा था।

इस बार 'पैनेल्टी कॉर्नर' मिला।

कुद्दसिया एक नशे-नशे में मख़मूर देख रही थी। उस का दिल कहता, उधर से पैनेल्टी कॉर्नर की गेंद आएगी, वह आगे बढ़ेगा और ऐसी हिट लगाएगा कि फिर गोल हो जाएगा।

और अगले क्षण बिल्कुल वैसे ही हुआ : उधर से गेंद आई, इधर कुद्दसिया के मुँह से निकला : शाबाश मनीष, और उस की हिट पर गेंद गोल को पार कर गई। उस की सहेलियों की नज़रें जैसे तीरों की तरह उसे बींध रही हों। वह विपक्षी टीम के खिलाड़ी को दाद दे रही थी। कोई बात भी हुई? दीवानी लड़की! काफ़िर का साथ!

कुछ भी था; कितना ग़ज़ब का खिलाड़ी था। खेल का शेष सारा समय कुद्दसिया मनीष के खेल को सराहती रही। जब रेफ़्री ने खेल ख़त्म होने की सीटी बजाई तो मेहमान पाँच गोलों से जीत गए थे—5-0! और पाँचों के पाँचों गोल उस ने ही किए थे। और अब उस की टीम के खिलाड़ियों ने उसे कंधों पर उठा लिया था।

इधर कुद्दसिया आप-से-आप बोल रही थी—उस का गेंद पर काबू, उस के स्कूप, उस का डॉज़ करना, कभी बैक-पास, कभी रिटर्न पास, कभी डायगनलू पास. . . सिवाए एक के तमाम मैदानी गोल. . . पहले पैनेल्टी कॉर्नर को कैसे उस ने गोल में बदला!. . . उस का स्टिक वर्क! गेंद हमेशा दाएँ फ्लैंक पर रखता, हमेशा अटैक, ज़बरदस्त रफ़्तार. . . कभी ड्रिब्बल कर रहा है, कभी क्रॉस हिट. . . बार-बार कहती—ये क्या ज़िन्दाबाद-ज़िन्दाबाद नारे लगाए जा रहे हैं। मैं तो उस के साथियों को हटा कर एक 'प्यार' उस के दाएँ गाल और एक प्यार उस के बाएँ गाल पर जा कर सब्त करूँ, इस तरह के खिलाड़ी को तो आँखों में बिठाया जाता है। दिल के तख़्त पर उस का मुक़ाम होता है। कुद्दसिया की अजीब हरकतें! घर लौटते तक वह अपनी सहेलियों से कोसों दूर हो गई।

तो फिर क्या? घर लौटी, अपने कमरे को बंद करके पढ़ने के लिए बैठी कुद्दसिया की आँखों के सामने एक के बाद एक—पाँच गोल दाग़ने वाले मनीष की सूरत एक फ़िल्म की तरह तैरने लगी। कैसे सुंदर ढंग से अपने बालों को इकट्ठा करके उस ने चोटी पर गाँठ दे रखी थी। और फिर जूड़े को केसरी रंग के रेशमी रूमाल से ढका हुआ था। उस के गेहुएँ रंग के साथ यह सब कुछ कैसे फबता था। गुथा हुआ शरीर। बस, इतना लंबा जितना किसी महबूब को होना चाहिए। कुददसिया के महबूब को। यह सोचती, वह पसीना-पसीना हो गई।

एक नज़र और वह कहीं की कहीं पहुँच गई। न जान-पहचान, न कोई परिचय, वह हिन्दुस्तानी, यह पाकिस्तानी, वह सिक्ख, यह मुसलमान। वह हॉकी का सितारा, और यह जिस ने खेल के मैदान में कभी क़दम नहीं रखा था, महज़ एक तमाशबीन।

और फिर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान, एक दूसरे से कितने दूर-दूर थे; जितने नज़दीक उतने दूर-दूर। बेशक क्रिकेट और हॉकी के मैच खेलते, भीतर उन के हमेशा बैर होता। मैच भी इसीलिए खेलते ताकि दूसरे को नीचा दिखा सकें। इन के मैच कोई खिलाड़ियों का खेल थोड़े ही होता है। ये तो दो फ़ौजों का मैदाने-जंग में ज़िन्दगी-मौत का मुक़ाबला होता है।

और फिर सिक्ख! अभी कल बँटवारे के समय किस तरह मुसलमान और सिक्ख एक दूसरे के ख़ून के प्यासे थे, किस तरह एक दूसरे से गिन-गिन कर बदले लेते रहे। पाकिस्तानियों ने चुन-चुन कर सिक्खों की हत्या की और जब मार-मार कर थक गए तो बाक़ी बचे बेघरों को उधर खदेड़ दिया। और ठीक वैसे ही इधर सिक्खों नें अपने मुसलमान पड़ोसियों के साथ किया।

जो कुछ भी हो, कुद्दसिया को लगता—वह तो बिक चुकी थी। उस के वश में कुछ नहीं था। एक-एक करके दाग़े उस के गोलों के चित्र उस की आँखों के सामने घूम-घूम जाते और कुद्दसिया के यह सोच कर पसीने छूटने लगे, वह तो उंसे खुद मन ही मन में जिता रही थी, जैसे उस की स्टिक पकड़ कर हिट लगा रही हो। हर बार उस

के गोल दाग़ने पर जैसे खुद इस के मन की तमन्ना पूरी हो रही हो। यूँ भी कभी हुआ है? यह तो ग़द्दारी थी अपने मुल्क़ के साथ। अपनी क़ौम के साथ, अपनी हॉकी की टीम के साथ। यह तो किसी को मुँह दिखाने-लायक़ नहीं रही थी। चुल्लूभर पानी में डूब मरे! पाँच गोलों की हार; एक भी गोल तो वे नहीं कर पाए। फ़ाइव-ज़ीरो। और पाँचों के पाँचों गोल उस के मनीष ने किए थे। उस का मनीष!! कुद्दसिया को यह सोच कर अपना-आप अच्छा-अच्छा लगने लगा। उसे अपने आप से खुशबू-खुशबू आने लगी। उस के मुँह में जैसे शहद घुल रहा हो। उस के कानों में किसी नग़मे के बोल सुनाई दे रहे थे। जैसे किसी मज़बूत बाहु-पाश में वह लिपटी जा रही हो। कितना लाड़, कितना प्यार था इस आलिंगन में।

और फिर उस शाम वह अपने महबूब के बाहु-पाश में थी। सब कुछ ही एक बिजली की तेज़ी के साथ होता चला गया। वह अपने बरामदे में गई। बरामदा ख़ाली था। उस ने टेलीफ़ोन करके पता किया कि भारत की हॉकी टीम कहाँ ठहरी हुई थी। उस ने उन के होटल का नंबर मिलाया। टेलीफ़ोन पर वह था। उस की शाम ख़ाली थी।

और इस से पहले कि परछाइयाँ ढलीं, वे एक झील के किनारे, शहतूत के पेड़ के नीचे, बैंच पर बैठे हुए थे। जैसे किसी पूर्व-निश्चित फ़िल्म की कोई कहानी हो। एक के बाद एक कड़ी जुड़ती गई।

उधर परछाइयाँ ढलीं, इधर घने काले बादल घिर आए। जाड़ा चाहे जा चुका था, दिन अभी भी छोटे थे। इस से पहले कि वे मन बना पाते कि दूर पार्क के गेट पर खड़ी अपनी टैक्सी की ओर बढ़ें कि टप-टप बूँदें पड़ने लगीं। सुनसान पार्क का एकांत। झील का किनारा। साँझ ढले का झुटपुटा। हल्की-हल्की बारिश। वे एक-दूसरे की बाँहों में लिपट गए। फिर होंठों पर होंठ। फिर जीभ पर जीभ। फिर साँस में साँस। और फिर पता नहीं कब आँधी-तूफ़ान घिर आया। झक्कड़ उठा-उठा फैंकता। बादल उमड़-घुमड़ कर गरजते। झील के किनारे, शहतूत के पेड़ के नीचे, पार्क के बैंच पर सारा वह तूफ़ान, सारे वे बादल, सारी वह बारिश उन के सिर से होती हुई उन के पाँव तक चू गई। वे निचुड़-निचुड़ रहे थे।

जब वे होटल के उस के कमरे में पहुँचे, मनीष और कुद्दसिया फूल की तरह हल्के थे जैसे डोरिया के महीन-बारीक कपड़ों को उतार कर सूखने डाला हो।

अगली सुबह उन की एयर लाइंस के हवाई जहाज़ ने उसे फ़ैसलाबाद ले जाना था। बाद दोपहर का मैच उसे वहाँ के स्टेडियम में खेलना था। तो फिर क्या? शाम को मैच खेल कर लौटा, और फ़ोन पर कितनी ही देर मैच की एक-एक बात बताता रहा। और यह सैकड़ों मील दूर बैठी यूँ महसूस करती, जैसे इसे सब कुछ मालूम हो। जैसे इस का सब कुछ देखा हुआ था, चाहे टेलीविज़न वाले कोशिश के बावजूद मैच का आँखों देखा हाल टेलीकास्ट नहीं कर पाए थे।.

वे फिर जीते थे। लेकिन सिर्फ़ दो गोल से। कुद्दसिया का जी चाहता कि वह उस से कहे कि पिन्डी में तो मैं ने तुम्हें जिताया था। ये बोल बार-बार उस के होंठों पर आते, लेकिन उस ने दबाए रखे।

मनीष का अगला मैच कराची में था। हर शाम मैच के बाद टेलीफ़ोन पर उन की मुलाक़ात होती। और फिर मिलने के लाख कौल-इक़रार करके वह अपने देश लौट गया। इन में वायदे फिर पाकिस्तान आने के थे। इन में वायदे कुद्दसिया को हिन्दुस्तान में बुलाने के थे। कुद्दसिया तो उस की जान थी। उन के भीतर की दूरी तो रावलपिन्डी के पार्क की उस शाम समूची मिट गई थी। एक ज्योति-दो मूर्ति। उन में अब कोई फ़र्क़ नहीं था। एक-दूसरे के अंग का अंग थे। एक-दूसरे की जान की जान थे। एक-दूसरे की साँस की साँस थे।

वह दिन और आज का दिन, इतने बरस हो गए वह पाकिस्तान नहीं आया। न ही उस ने इसे अपने पास बुलाया। और तो और, फिर यह ख़बर आई कि उस ने उधर अपनी जात-बिरादरी की एक लड़की के साथ घर

बसा लिया था।

इतना बड़ा हॉकी का खिलाड़ी, दुनिया भर में उस की ख्याति थी। उस की हर हरकत की अख़बारों में चर्चा होती थी। क्या भारत क्या पाकिस्तान। यह ख़बर हर अख़बार में छपी थी। कुछ अख़बारों ने तो दुलहन की तसवीर भी छापी थी।

और इस अर्से में कुद्दसिया उस की बेटी की माँ भी बन चुकी थी। पाकिस्तान जैसे रूढ़िवादी समाज में अनब्याही माँ! लोगों का बस न चलता। वे तो इसे कच्चा खा जाएँ। लेकिन कुद्दसिया का सिदक़, क्या मज़ाल कि एक बार भी मनीष का नाम वह अपने होठों पर लाई हो। उसे घर से बेदख़ल कर दिया गया। उस की सहेलियाँ उसे छोड़ गईं। उसे कोई मुँह लगाने के लिए तैयार नहीं था। बाहर निकलती तो हर नज़र उस की तरफ़ उठती। हर उँगली उस की ओर इशारे करती। दर-दीवार जैसे उसे काट-काट खाते!

बहुत दिन नहीं गुज़रे थे कि वह रावलपिन्डी की तंग दुनिया को छोड़ कर लाहौर आ गई। वाई डब्ल्यू सी ए वालों को हाथ जोड़ कर सिर ढकने के लिए कमरा लिया और अपनी मुहब्बत की निशानी को छाती से लगाए जीवन के दिन गिन-गिन कर गुज़ारने लगी।

जिस दिन से इस ने सुना कि मनीष ने ब्याह कर लिया है, न फिर कभी इस ने उसे टेलीफ़ोन किया, न उस ने ही कभी इसे याद किया। कोई चिट्ठी नहीं, कोई संवाद नहीं।

लेकिन लोगों को यह जानने से कौन रोक सकता था कि वह कौन था जिस की बच्ची कुद्दसिया सारी दुनिया को तिलांजलि दे कर छाती से लगाए हुए थी। और फिर कुद्दसिया जैसी हसीना! और अब तो उस ने ढेर-सारा नाम टेलीविज़न और फ़िल्मों में काम करके कमा लिया था। आए दिन उस की तसवीरें पत्र-पत्रिकाओं में छपती रहतीं। कोई कुछ अनुमान लगाते, कोई कुछ। लेकिन क्या मज़ाल जो कुद्दसिया कभी इस बहस में पड़ती हो। और एक माँ का मर्तबा, किसी की मज़ाल नहीं थी कि मुँह चढ़ कर इस बारे में उस से कोई सवाल कर सके।

मौलवी और कट्टरपंथी माथा पीट कर रह गए। घर वाले ज़्यादा से ज़्यादा उसे घर से निकाल सकते थे। यह वे कर बैठे थे। दोस्त-रिश्तेदार, अड़ोस-पड़ोस वाले, अपने-पराए उसे बिरादरी से अलग कर सकते थे, उन्हें जो कुछ करना था, उन्होंने कर लिया था। लेकिन कुद्दसिया से उस के जीने का हक़ कोई नहीं छीन सकता था। कुद्दसिया से उस की बेटी कोई नहीं अलग कर सकता था। कुद्दसिया से उस का हुस्न कोई नहीं बँटा सकता था। और फिर टी.वी. में क्या, और फ़िल्मों में क्या, वह एक के बाद एक सीढ़ियाँ चढ़ती शिखर पर जा पहुँची।

कुद्दसिया की मुहब्बत, मनीष से मिलाप, और उस ने फिर कभी अपने बालों को कैंची नहीं छूने दी। मनीष की याद, और उस की बेटी के बाल वैसे के वैसे बढ़ते जा रहे थे जैसे उस के जन्म के साथ आए थे। कुददसिया के रेशम के लच्छे, गज़-गज़ लंबे बाल, फ़िल्मी अभिनेत्रियाँ देख-देख कर मुँह में उँगलियाँ दबातीं। कुछ देर और फ़िल्मी दुनिया में लंबे बाल रखने का फ़ैशन चल निकला।

कुद्दसिया की बेबी तीन साल की हो गई थी। अब तो उस ने नर्सरी में भी जाना शुरू कर दिया था। जब अख़बार में किसी साफ़े वाले सिक्ख की तसवीर देखती तो माँ का सिखाया प्रतिक्रम, एकदम पुकार उठती—अम्मी, 'दार जी।'

और यूँ बेबी के मुँह से 'दार जी' कहते सुन कर कभी-कभी कुद्दसिया की आँखें छलछला जातीं। सरदार तो वह था। खेल के मैदान में, हॉकी की स्टिक थामे कैसे एक के बाद एक गोल बटोरता जाता था। जैसे आम की बहार में कोई अमराई से आम समेट रहा हो।

कुद्दसिया की बेबी की यह बड़ी दिलचस्प उम्र थी। अपने काम से फ़ारिग़ हो कर माँ-बेटी का साथ रहता।

माँ-बेटी बातें करतीं, हँसती-खेलतीं, कभी न थकतीं, कभी न ऊबतीं।

हर रोज़ बढ़ रही, हर रोज़ और की और हो रही बेबी के साथ कुद्‌दसिया को अपने जीवन के अभिशप्त दिन जैसे बिसर-बिसर जाते। अब उसे कभी नहीं याद आई थी वह सुबह जब नौकरी की तलाश में घर से निकली थी और उन की अपनी गली में चौबारे से किसी ने उस पर थूक कर उसे 'गश्ती' पुकारा था। और फिर वह दिन, जब उन के मुहल्ले के सामने मैदान में खेलते हुए बच्चों ने उस का बढ़ा हुआ पेट देख कर गाना शुरू कर दिया—'नन्हीं मुन्नी बीबी तेरी गोगड़ में क्या है?'

कुद्‌दसिया सोचती, उन्हें किसी ने सिखाया ही होगा।

फिर नौकरी की तलाश! कैसे लोग बिना उस से बात किए अगले उम्मीदवार को बुला लेते थे। स्कूल में वह पढ़ा नहीं सकती थी। बच्चों के लिए वह बुरी मिसाल होगी। दफ़्तर में उसे रखा नहीं जा सकता था, बाक़ी अमले को ख़राब करेगी। एक मछली सारे तालाब को गंदा कर देती है।

मौलवियों ने तो एक बार फ़तवा लगाने का भी सोचा था कि उसे संगसार कर दिया जाए। यह तो शायद उस के अब्बा का मर्तबा था जो आड़े आ गया। नहीं तो मुल्ला जो कुछ कर गुज़रते, थोड़ा था।

उस दिन कुद्‌दसिया कितनी रोई थी। उस का एक ही एक भाई, बाज़ार में सामने आ रही उसे देख कर, आँखें नीचे किए पास से निकल गया था। उस ने इसे नहीं बुलाया। माँ तो घर में इस का नाम नहीं लेने देती थी। उस की छोटी बहन बारह की हुई कि उस का पर्दा करवा दिया गया। पब्लिक स्कूल से उठा कर इस्लामिया स्कूल में दाख़िल करवा दिया गया। पाँचों वक़्त नमाज़ पढ़ती थी। रमज़ान में एक भी रोज़ा नहीं छूटने दिया था।

यह और कितना कुछ और भी, कुद्‌दसिया एक-एक करके भूल रही थी। उस की बेबी का साथ और अपने घिनौने दिन—सब उस ने बिसरा दिए थे।

यूँ कुद्‌दसिया के दिन गुज़र रहे थे कि एक दिन बाद दोपहर उस की ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की साँस नीचे रह गई। सामने मनीष उस के बरामदे की ओर आ रहा था। वही दिन थे। जाड़ा जा रहा था, हल्की-हल्की धूप में बैठी कुद्‌दसिया अपनी बेबी के साथ कैरम खेल रही थी। उसे देखा तो सँभलते हुए इस ने अपने बालों की आबशार को समेट कर जल्दी-जल्दी जूड़े को गाँठ लगाई। इतने में वह इस के बरामदे में था। बेबी ने मनीष को देखा और एकदम चिल्ला उठी—अम्मी, 'दार जी'। उस ने पाकिस्तान में किसी सिक्ख को चलते-फिरते देखा जो नहीं था, उस की माँ कभी-कभार किसी साफ़े वाले सिक्ख की तस्वीर उसे दिखा देती थी और बस!

मनीष के अचानक लाहौर कुद्‌दसिया से मिलने के लिए आने की कहानी कुछ इस तरह थी—ब्याह कराने से पहले कोई छह महीने मनीष और कुद्‌दसिया एक दूसरे को टेलीफ़ोन भी कर लेते, चिट्ठी-पत्री भी उन की हो जाती। चाहे इस बात का उसे ज्ञान था कि कुद्‌दसिया को कैसे परेशान किया जा रहा है, इस का अंदाज़ा उस को हरगिज़ नहीं था कि किस तरह उसे ज़लील किया जा रहा था। किस तरह उस की जान अज़ाब में कर दी गई थी।

रावलपिन्डी छोड़ कर कुद्‌दसिया लाहौर में, वाई डब्ल्यू सी ए में रहने के लिए भी मनीष के मशवरे पर आई थी। लेकिन फिर जब उस के घरवालों ने मनीष की ज़बरदस्ती शादी अपनी बिरादरी की एक लड़की के साथ करवा दी तो कुद्‌दसिया ने उस से अपना वास्ता पूरी तरह ख़त्म कर लिया। कुद्‌दसिया से की गई ज़्यादती मनीष कभी नहीं भूल पाता। हर क्षण, हर पल, कोई याद उसे अंदर ही अंदर कचोटती रहती। बार-बार वह अपने आप को कोसता रहता। कई बार अकेले बैठे, कुद्‌दसिया के साथ किए अपने व्यवहार को सोच कर उसे अपने आप से नफ़रत होने लगती। कई बार बेबी को याद करके उस की बाँहें कुलबुला उठतीं। कई बार सपनों में वह रो-रो कर हाथ जोड़ता, कुद्‌दसिया से, उस की बेबी से माफ़ियाँ माँगता रहता। बेशक उस ने घर वालों के मजबूर करने पर विवाह कर लिया था, लेकिन उस की यह मानसिक हालत, उस के आस-औलाद अभी तक नहीं हुई थी।

उठते-बैठते वह अपने आप को गुनाहगार गिनता, अपनी क़िस्मत को कोसता रहता।

और फिर उस दिन उस ने एक मशहूर ज्योतिषी को अपना हाथ दिखाया। बड़ा नाम था उस का। जितनी बातें उस ने मनीष के बारे में बताईं, उसे लगता कि सब की सब सच्ची थीं। उस का हाथ देख कर ज्योतिषी ने कहा—आप के दो विवाह होने चाहिए थे। आप के हाथ में दो शादियों की लकीरें हैं. . .

मनीष ने सुना तो एक बम जैसे फटा हो। ज्योतिषी के हाथ में थमा उस का दायाँ हाथ पसीने से तर-बतर हो गया। दो शादियाँ! उस की क़िस्मत में दो शादियाँ लिखी थीं। इस का मतलब कि उस की ज़िन्दगी में जो कुछ बीता था वह तो पहले से ही निश्चित था।

और मनीष ने फ़ैसला किया कि वह लाहौर जा कर कुद्दसिया को कुदरत के इस कहर से अवगत कराएगा। अपने आप को उस से क्षमा करवा लेगा। अपनी ज़िन्दगी के इस कलंक को धो डालेगा। उसे विश्वास था कि उस कां हथेली पर चित्रित 'दो लकीरों' की सच्चाई को जान कर कुद्दसिया जैसी मुहब्बत करने वाली लड़की उसे माफ़ कर देगी।

और पहला मौक़ा, वह पूछता-तलाशता कुद्दसिया के फ़्लैट पर आ पहुँचा। वाई डब्ल्यू सी ए वालों ने उसे इस का पता दिया था।

धूप सेंक रही अपनी महबूबा के पास बैठा, बेबी को अपनी गोद में लिए वे एक दूसरे का कुशल-क्षेम पूछ रहे थे। मौसम का हाल—जाड़ा जा रहा था, लेकिन हवा में खुनकी वैसी की वैसी है। फिर मौक़ा पा कर मनीष ने हाथ जोड़ते हुए कुद्दसिया से फिर एक बार माफ़ी माँगी। बच्चों की तरह सुबकते हुए उस ने अपने दाएँ हाथ की सब से छोटी उँगली के बग़ल में दो लकीरों वाली ज्योतिषी की बात उसे बताई। दो शादियाँ उस की क़िस्मत में अज़ल से लिखी हुई थीं। वह होनी के हाथों बेबस था। और अब अपना दायाँ हाथ आगे बढ़ा कर वह कुद्दसिया को छोटी उँगली के बग़ल में दो लकीरें दिखा रहा था।

कुद्दसिया ने सुना और उस के होठों पर एक फ़ीकी-सी मुस्कान उभरी। और फिर एकदम उस का चेहरा बुझ गया। शिला की तरह कठोर हो गया। एक क्षण भर के लिए बरामदे में चुप्पी छाई रही। फिर सहसा कुद्दसिया उठी, बेबी को उस की गोद में से ले कर उस ने अपनी सारंगी जैसी सुरीली लेकिन विलाप कर रही आवाज़ में कहा, 'लेकिन मेरे हाथ पर तो एक ही लकीर है।'

यह कहते हुए कुद्दसिया अपनी बेबी को उँगली से लगाए, क़दम-क़दम फ़्लैट के अंदर चली गई। उस ने दरवाज़ा बंद कर लिया।

मराठी ललित-निबंध

ग्रेस

दंतकथाओं के संदर्भ

नटों की छोकरियों का जीवन यों देखा जाए तो अपने कुनबे में जूठन चाटने में ही ख़त्म हो जाता है। पर फुलबनिया इनामदारों की हवेली में पली-बढ़ी। इस गाँव से उस गाँव की, इस शहर से उस शहर की भटकन में उलझी उस की माँ नदी के इस ओर ही प्रसूता हुई। तब जंगल गुलमोहरों से दहक रहा था। अपनी ही दो-जून रोटी का ब-मुश्किल जुगाड़ बैठा पाती वह माँ, बेटी के जन्म से बेज़ार हो गई। नदी के दह में अपने रक्त-सने चिथड़े धो कर, लड़की को तिलांजलि दे, उस ने आगे की राह पकड़ी। पल भर को ही सही, उसे यह भी विचार आया कि क्यों न लड़की को दह में ढकेल दूँ—पर हिम्मत नहीं हुई।

इनामदारों की हवेली में रहने वाली एक प्रौढ़ा अहीरन जब शाम के समय अपने मवेशी ढूँढ़ने नदी किनारे आई, तब उसे यह नवजात बालिका दिखी। वह उस बच्ची को हवेली में उठा लाई। घर में दो पीढ़ियों से कोई लड़की ही पैदा नहीं हुई थी, अतः उसे ईश्वर की देन मान कर पाला जाए, ऐसा विचार वृद्ध इनामदार के मन को छू गया। पर तुरंत ही उन के व्यावहारिक मन ने अपनी भावनाओं को लगाम दी। बच्ची के जन्मदाताओं का अता-पता मालूम किया। पता चला कि नटों की एक टोली कल ही अपना डेरा-तंबू समेट कर देशांतर कर गई है। नटों की उस टोली का तो पता नहीं चला, पर इस एक इतनी-सी ख़बर से बच्ची के प्रारब्ध पर थूहर उग आया। इनामदारों ने अहीरनी की इच्छा जान कर गोशाले के पास ही एक छोटी-सी झोंपड़ी बाँध दी और उसे उस अनाथ बच्ची की देखभाल का ज़िम्मा सौंपा।

अहीरनी को जब वह मिली थी तब जंगल फूलों से भरा-भरा महक रहा था। इसीलिए अहीरनी ने बच्ची का नाम रखा 'फुलबनिया'। गाँव को यह बात नागवार गुज़री। सारा गाँव अहीरनी पर सख़्त नाराज़ था, पर इनामदारों के समर्थन के कारण उस का कुछ बिगाड़ न सके। गोठ में रहते गाय-बछड़ों जितनी ही प्रगाढ़ ममता इनामदारों को फुलबनिया पर भी थी। फुलबनिया हवेली के परिसर में ही पली, बछड़ों से जी भर कर खेली। उस के कपड़े-लत्तों की भी चिन्ता इनामदारों को थी।

तेरहवाँ साल लगते ही सचमुच फुलबनिया पुष्पवती हो गई। अपनी अंतिम साँस भरने के पूर्व वृद्ध इनामदार ने उसे घेरदार घाघरा, पोलका व मलमल का लाल दुपट्टा ला दिया था। पाँवों में चाँदी के दो कड़े भी बनवा दिए थे। हवेली अब वीरान हो गई थी। इनामदार के सभी वारिस शहर में जा कर बस गए थे। दुबले-मरघिल्ले मवेशी

साप्ताहिक हाट के पगहे में बाँध दिए जाते थे। उदास उसाँसे भरती हवेली केवल इसीलिए बची रह गई थी कि उस की सही क़ीमत आँकने वाला मिल नहीं रहा था। वृद्ध इनामदार सा के बाद दो वर्षों में ही बुढ़िया अहीरनी भी मर गई। तब उस की मृत देह को अग्नि देने के लिए फूटी कौड़ी भी बची न थी। गाँव वालों से कुछ माँगने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। उन्हें कोई मतलब ही नहीं था। उस के जीवित रहने तक के सारे प्रतिशोध अब उस के न रहने पर, उस की देह पर चमक उठे थे। उस नट-कन्या के अस्तित्व से जुड़ी अस्पृश्यता की झाँई, जो मानो उसी के प्राणों की आड़ ले, छिपी बैठी थी, अब खुले में आ उन्मुक्त नाच रही थी। आख़िर फुलबनिया ने दिल पर पत्थर रख कर, बाएँ पैर का चाँदी का कड़ा बेच ही दिया।—गाँव वालों की जैसी इच्छा थी—बुढ़िया की देह अग्नि को सौंप ही दी। चिता तो बुझ गई पर फुलबनिया के कलेजे में प्रतिशोध की आग धधकने लगी। वह चिनगी फुँकारते हुए मानो पूरे गाँव को झुलसाने लगी।

नौजवान फुलबनिया गौशाले के पास वाली झोंपड़ी में अब अकेली ही रहती थी। एक ही घाघरा पोलका पहने, दाहिने पाँव का एक ही कड़ा ठक-ठक करने लगता... फिर वह ऐसी उद्दंड बन गई थी, मानो पूरे गाँव को तहस-नहस करके ही छोड़ेगी, अगर उस का बस चले...।

उस के भविष्य को शापित करने वाले नदी किनारे खिले हुए फूलबन में अब वीरान नागफनी की खरपात में बैठ कर फुलबनिया दिन भर नदी की देह में कंकर-पत्थर फेंका करती। अगर किसी ने भूले-से उसे टोक दिया, तो उसी का कपालमोक्ष होने की संभावना बनी रहती। इसीलिए उसे शायद ही कोई टोकता। उस के अंग-अंग में लगी आग से पूरा गाँव जल रहा था। शाम होते ही गाय-बछड़ों के घंटा-रव के साथ ही उस का चाँदी का कड़ा ठक-ठक करने लगता और उस आवाज़ से चौपाल-अड्डों पर के पत्थरों में भी मोर पंखों की भाँति असंख्य आँखें उग आतीं। जीर्ण होते मोरपंखी घाघरे में से दिखाई पड़ते सुघड़ पाँव जब नज़रों से ओझल हो जाते तब क्षण भर तो सोनचूरे-सी चमचमाती सायंकालीन रज कोयले की तरह काली-स्याह पड़ जाती। नदी का दह और किनारे पर की नागफनी थक कर अँधेरे में डूब जाते। चौपाल-अड्डे के पत्थर पंख झड़े हुए मोर के पाँव की तरह कुरूप दिखने लगते। जब तक उस के पास इनामदारों की हवेली का सहारा था तब तक उन पत्थरों को अपने पंख समेटे रखना लाज़िमी था। हवेली में अब समृद्धि नहीं बची थी। पर खंडहर बता रहे थे इमारत बुलंद थी। पूरा गाँव इसी फ़िराक़ में था कि कब फुलबनिया को हवेली के बाहर खदेड़ा जाए और कब उस के जन्म के समय का बैर उस के ख़ूबसूरत बदन पर निकाला जाए। पर फुलबनिया ने भी कच्ची गोलियाँ नहीं खेली थीं। वह भी दिल से चाहती थी गाँव से प्रतिशोध लेना। कुल मिला कर इंसानों की दुनिया और फुलबनिया के बीच गहरी अनबन थी। अन्याय इत्यादि की बातें वैसे तो उस की समझ में बहुत नहीं आती थीं, पर कुछ इस तरह कि काँटा चुभे और ख़ून निकल आए। अब उस के इकलौते घाघरे में उस की देह समाती नहीं थी और परसे हुए (बँधे) खाने से उस की भूख मिटती नहीं थी। फुलबनिया भीतर से दहल गई थी। भरी दुपहरी में वह अपना इकलौता घाघरा दह में धो कर नागफनी की खरपात पर सुखाने डालती। उस समय उसे ऐसा महसूस होता गोया आसपास के पेड़ मोरपंखों से लद गए हैं। चारों ओर से घेरने वाली आँखें नागफनी के उस पार से दिखने लगतीं और तुरंत ही वह प्रतिशोध के नशे में पत्थर फेंकने लगती। आँखें भयभीत हो कर चौपाल-अड्डों की ओर भाग जातीं और संध्या के महाप्रयाण की प्रतीक्षा करने लगतीं। पेट की आँतें फटने-फटने को होतीं, पर मज़ाल जो फुलबनिया ने किसी के आगे हाथ भी पसारा हो। कंद-मूल खा कर पेट भर लेती। ऐसे ही दिन काट रही थी वह। हवेली में बूढ़ा गुसईं कुलदेवता की पूजा के लिए आता। वह दोपहर को ही गो-ग्रास की थाली फुलबनिया की झोंपड़ी में सरका जाता। रात में, वह चीटियों भरा अन्न, किसी तरह गले के नीचे उतार सो रहती। सामाजिक अन्याय संज्ञा से भी जो परिचित नहीं थी

ऐसी यह लड़की पूरी निश्चिन्तता के साथ उस अँधेरी हवेली के गौशाले के पास वाली झोंपड़ी में अकेले ही सो रहती।

पर ऐसी निश्चिन्त निर्दोषिता पर सदैव क्षणभंगुरता का शाप जड़ा रहता है।

सारा गाँव इनामदारों की हवेली से डरता था। उसी डर के बूते पर फुलबनिया की यह ज़िद्द बदले की धधकती आग में बदलती जा रही थी। चाँदी का कड़ा ठन-ठन गूँजता। पर बाड़ ही जब खेत चर जाए, तो कोई क्या करे?

परदेस गए हुए छोटे इनामदार गाँव लौटे। हवेली बेचनी थी, चाहे जो क़ीमत आए!! हवेली के गत वैभव की उस के तईं चाहे कोई क़ीमत न थी, पर गौशाले के पास वाली झोंपड़ी का वैभव पागल कर देने वाला था। छोटे इनामदार की नज़र गाँव वालों ने भली-भाँति परख ली थी। काँटे से ही काँटा निकलेगा, इस निश्चिन्तता के साथ पूरा गाँव कान खड़े किए तत्पर बैठा था। नट कीं छोकड़ी में इतना गुरूर भरने वाली इनामदारों की यह हवेली ही अब कभी न कभी उसे सचमुच ही नटनिया बनाएगी—इस उम्मीद में, इस अपेक्षा से सारा वातावरण अंदर से एक अजब-सी उत्सुकता से तन गया था। उस के जन्म के समय का घाव अब भी गाँव वालों की स्मृति में हरा था। इनामदारों की मानवीयता गाँव वालों को एक काँटे की तरह चुभी थी। इतने वर्ष बीत जाने पर भी उस चुभन की कसक कम तो नहीं ही हुई थी, बल्कि फुलबनिया के उभरते यौवन के साथ अधिक तीखी हो गई थी। फुलबनिया को इस क़मीनेपन की गंध आ गई थी। पर इनामदारों की हवेली पर उस का अटूट विश्वास था। तभी छोटे इनामदार की आँखों को उस ने चौपाल-अड्डे के मोर पंखों में गूँथा नहीं। एक बार जब भरी दोपहरी में, घाघरा धो कर सुखाने डाला था, तो उस ने देखा—नदी किनारे की पगवाट में छोटे इनामदार आ रहे हैं। तब कहीं जा कर फुलबनिया की आँखों के सामने उन की वासना की बैसाखियाँ व हथियार चमकने लगे। गीला घाघरा कमर पर लपेट, पहली बार एकदम भयभीत हो कर वह जान हथेली पर रख कर भागी। सच को साक्षी रखते हुए, पेड़ों पर मोरपंखों की आँखें फूट निकली थीं। नागफनी के काँटे पिंडलियाँ नोच रहे थे। आख़िर जब प्रतिकार के आवेग से थक गई फुलबनिया, तो छोटे इनामदार के सामने पीठ दे कर खड़ी हो गई, कमर पर हाथ रख कर—और उस ने कहा, 'मालिक, मुझे लूटना है तो शौक़ से लूटो, पर बूढ़े इनामदार ने मुझे अपनी बेटी मान कर मेरे पाँव में जो कड़े पहनाए हैं उन्हें कलंकित मत करो। मुझे यह कड़ा सामने के दह में फेंक लेने दो—क्योंकि उन का आशीर्वाद है कि पाँव में जब तक कड़ा है तब तक उन्हें कोई नंगा नहीं कर पाएगा...।' ऐसा कह कर फुलबनिया धप्प से नीचे बैठ गई और पाँव से कड़ा निकालने लगी। छोटा इनामदार चौंक पड़ा। पेड़ पर लदी मोरपंखों की आँखें भी आश्चर्यपूरित। इस के पूर्व एक ही बार उस ने अपने बाएँ पाँव का कड़ा निकाला था—तब गाँव उस दिलदार अहीरनी की मृतदेह को सड़ाने पर उतारू था। इस बार जब दाहिने पाँव का कड़ा निकाल रही थी तब गाँव उस के ज़िन्दा शरीर को सड़ाने पर उतारू था। इन दोनों साज़िशों में इस कड़े की धाक कुछ ऐसी थी जैसे अचानक ही एक भोली-भाली लड़की द्वारा आसुरी वासनाओं के तमाशे के इस साक्षात् विग्रह को उघाड़ कर रख दिया गया हो।

जब फुलबनिया ने कड़ा पहना था तब वह निरी तेरह वर्ष की थी। अब इन गदराए पाँवों में इतने वर्षों बाद ये कड़े मानों काल-पाश बन गए थे। अब जब कड़ा निकलने का नाम ही नहीं ले रहा था तब केवल कड़े को दह में विसर्जित करने के चक्कर में फुलबनिया ने पूरी देह विसर्जित कर डाली। जंगली फूलों के सहवास में जन्मी वह लड़की कड़े की मर्यादा के लिए दह में गुडुप हो गई। जान ले चुकने के बाद गाँव ने भी, उस का उदात्तीकरण करने की परंपरा को भली-भाँति निभाया। अब वे उस दह को 'कड़े का दह' कहने लगे। इस प्रसंग में एक किंवदन्ती यों भी फैली कि कुंवारी लड़कियों को इस दह के पास भी फटकना नहीं चाहिए। जीवन भर का क्लेश अब मरने के बाद गरिमामंडित हो कर दंतकथा के रूप में अजर-अमर बन गया।

अभी परसों ही एक ओवरसीयर मित्र से बातचीत के दौरान मुझे यह बात जानने को मिली। इस नदी पर बाँध बनाने के बाद अब विद्युत-केन्द्र निर्माण की योजना आकार ले रही है। मैं ने ओवरसीयर की बात ठंडे दिमाग़ से सुन तो ली, पर भीतर ही भीतर मुझे अच्छा नहीं लग रहा था। वह नदी का पाट, चारों ओर फैली नागफनी, काला दह, गवाही देते पहाड़—इस तमाम को मिटा देने की कल्पना-मात्र मेरे लिए असह्य थी। इस सृष्टि-सौन्दर्य को सुरंग लगा कर उड़ा देना एक तरह का क्रूर अन्याय ही तो कहा जाएगा।

विज्ञान से बैर करना ठीक नहीं—इस किताबी ज्ञान से मैं अपने आप को बहला रहा था। यथासंभव चुप भी बैठा था। पर आख़िरकार मेरे धीरज ने जवाब दे दिया। मैं तड़प कर बोल उठा, 'ठीक है, अगर नदी आड़े आती है तो उस पर पुल बाँधो, ज़रूर बाँधो! पर संहार को सृजन का आवरण उढ़ाने का क्या मतलब? इस के बजाय संहार को संहार ही कहना क्या अधिक बेहतर नहीं होगा? ओवरसीयर एक स्थितप्रज्ञ की तरह एकाग्रचित्त हो कर दह को आच्छादित करने वाले उस बाँध को ध्यान से देख रहा था। आख़िर मित्र ही था वह मेरा। दंतकथाओं के प्रति मेरा प्रेम व पागलपन भी उसे अच्छी तरह मालूम था। मेरी तीव्र भावनाएँ व उन के उतार-चढ़ावों से भी वह भली-भाँति परिचित था। मेरी अतिरिक्त अस्वस्थता उस से सहन नहीं हुई और उस ने कहा, 'यार, सवाल नदी के आड़े आने का नहीं है, पर क्या करूँ, मुझे नदी की पुकार सुनाई देती है। दंतकथाओं की आड़ में भीषण हत्याएँ बोलने लगती हैं। इन भयावह कथाओं में समाजपुरुष को जीवन-दान देने के लिए कंसों द्वारा अपने प्राण होम कराती हुईं असंख्य बिजलियाँ कौंधती हुई दिखाई पड़ती हैं। नदी को क्षण-भर रोक कर अगर उन में से हम बिजलियाँ उठाना चाहें, तो क्या इसे संहार कहेंगे?

इस प्रश्न से मेरे भीतर बिजली कौंधी। अँधेरे वटवृक्ष पर चाँदनी मढ़ने जैसा तत्त्वज्ञान मेरी समझ से परे था। मेरी आँखों के सामने थी केवल नदी और बिजली। दह में फुलबनिया के पाँवों वाले अग्निवलय के कड़े प्राचीन अंधकार में से चमक रहे थे... बिजली के पाज़ेब पहन कर बिंदास नाचने वाली फुलबनिया और दंतकथाओं के भविष्य के संभावित संदर्भ, मृत्यु की सार्वभौमता को तत्त्वज्ञान के अधूरे परिमाण देते संदर्भ। मेरी किसी से दुश्मनी नहीं है। मैं ने तो मात्र अपने संदर्भ एकत्रित कर शुभेच्छाओं के साथ ओवरसीयर से विदा ली, तब मेरी हथेलियों पर ये पंक्तियाँ उभर आई थीं :

याद कृष्ण की तुम्हें देवकी
मुझे बिजली का फूल.........

मराठी से अनुवाद : **रंजना अरगड़े**

हरप्रसाद दास

गल्प का सत्य : आत्मजीवन चरित का अंतर्ग्रन्थन*

फकीरमोहन-कृत *आत्मजीवन चरित* पारंपरिक अर्थ में आत्मकथा नहीं है बल्कि एक ऐसी संश्लिष्ट साहित्यिक कृति है जिस में संस्मरण, सांस्कृतिक इतिहास और एक पूरे युग की सामाजिक प्रक्रिया को औपन्यासिक ढाँचे में एक-दूसरे से गूँथ कर प्रस्तुत किया गया है। दरअसल इस ग्रंथ *आत्मजीवन चरित* के अंदर तीन समानांतर ग्रंथ या पाठ चलते रहते हैं। पहले में लेखक के व्यक्तिगत जीवन की झाँकी है, दूसरे में सामाजिक परिवर्तन के बारे में एक व्यक्ति की प्रतिक्रिया है, और तीसरे में पतनशीलता का एक गुरु-गंभीर रूपक निर्मित किया गया है। इस पूरे कार्य व्यापार को औपन्यासिक ढाँचे में रखा गया है।

सन् 1917 में जब फकीरमोहन ने 'आत्मजीवन चरित' लिखना शुरू किया तो उन की आयु 74 साल थी। वह बीमार और अकेले थे और उन के जीवन का केवल एक साल बाक़ी रह गया था। उन के मन में कड़वापन था लेकिन इस से उन की दृष्टि पर कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा। उन्होंने एक मिशनरी की तरह साफ़ दृष्टि के साथ लिखना शुरू किया। इस कृति की भूमिका में वह कहते हैं : 'मेरे कुछ मित्रों और पढ़े-लिखे युवकों ने, जिन की उम्र मेरे बच्चों के बराबर है, मुझ से कहा है कि मैं अपनी जीवनकथा लिखूँ। मेरे लिए इस माँग को टालना आसान नहीं है। इस के अलावा ओड़िया में आत्मकथा साहित्य न के बराबर है, और मेरे अपने जीवन में भी ऐसी कोई ख़ास बात नहीं कि उस से आत्मकथा रची जा सके। फिर मुझ में वह योग्यता भी नहीं है कि किसी कथानक को पाठकों के लिए रोचक बना सकूँ। अगर मैं यह आत्मकथा लिखने का दुस्साहस कर रहा हूँ तो मात्र इस इरादे से कि भविष्य में लोग आत्मकथा लिखना चाहेंगे, और मैं कम-से-कम इस के लिए एक नींव तो तैयार कर ही दूँ।'

इस तरह *आत्मजीवन चरित* ओड़िया साहित्य की एक विधा विशेष—आत्मकथा—की पहली कृति है। फकीरमोहन का यह विश्वास कि लोग रचनात्मक साहित्य के बतौर आत्मकथा लिखेंगे, ग़लत साबित हुआ। अभी तक ओड़िया में इस तरह का काम ज़्यादा नहीं हुआ है। *आत्मजीवन चरित* एक जटिल कृति है। इस में एक ऐसे आदमी के जीवन का लंबा वृत्तांत है जिस ने काफ़ी ऊँच-नीच और सुख-दुख देखे और जिसे लोग प्रशंसा की बजाय भयमिश्रित आदर से देखते थे। उन के व्यक्तित्व के समक्ष कमतर लेखक नज़र ही नहीं आते थे और उन से बड़े लेखक पैदा नहीं हुए थे। इस कृति को कुछ इस शैली में लिखा गया है कि वह अत्यंत सरल नज़र आती है, ठहरे हुए झील के पानी की तरह, जिस के नीचे काफ़ी गहराई छिपी है। इस महान कथानक को फकीरमोहन का

पाँचवाँ उपन्यास भी कहा जाता है। उपन्यास तो ख़ैर यह नहीं है, लेकिन अगर यह होता भी तो कथानक की पेचीदगियाँ औपन्यासिक लेखन के मानदंडों के अनुसार इस के स्वभाव का ठीक-ठीक पता नहीं लगने देतीं। ये पेचीदगियाँ तीन तरह की कथा-वस्तुओं के सम्मिश्रण से पैदा हुई हैं। हम यहाँ थोड़ा आसान रास्ता अपनाते हुए इस उपन्यास की घटनाओं, अनुभवों और विवरणों को तीन ख़ानों में रख कर देखेंगे—व्यक्तिगत, सामाजिक और रूपकीय। इस के पश्चात हम एक औपन्यासिक कथा के दृष्टिकोण से इस पर निगाह डालेंगे।

फकीरमोहन के व्यक्तिगत जीवन में पाँच ख़ास बातें दिखाई देती हैं : दुखी बचपन, शिक्षा, पहले असफल विवाह के बाद दूसरा सफल विवाह, नौकरी में उन की उपलब्धियाँ और बुढ़ापे का अकेलापन। *आत्मजीवन चरित* में वह अपने जीवन के साहित्यिक पक्ष को निर्दयता के साथ उपेक्षित करते हैं, हालाँकि जब वह यह जीवनी लिख रहे थे तो अपनी भाषा के सब से मशहूर लेखक थे। पहले हम *आत्मजीवन चरित* में जो छोटे-मोटे साहित्य-संबंधी विवरण हैं उन्हें देखें। वे इस प्रकार हैं : (1) ओड़िया के प्राचीन काव्य को प्रकाशित करने के लिए ओड़िया भाषा के छापेख़ाने की स्थापना (16 पंक्तियाँ); (2) डोमपाड़ा के राजा द्वारा फकीरमोहन को भेंट की गई शीशे की दवात का विवरण (10 पंक्तियाँ); (3) वाल्मीकि रामायण के अनुवाद का संदर्भ (20 पंक्तियाँ); (4) कवि राधानाथ राय के साथ किए गए एक संक्षिप्त नौका विहार का उल्लेख जिस में राधानाथ की अपूर्ण कृति *महायात्रा* का विवरण है (10 पंक्तियाँ); (5) *उत्कल भ्रमण* नामक काव्यमय यात्रा वृत्तांत के लेखन की परिस्थितियों का विवरण (20 पंक्तियाँ); (6) अपनी कविता के प्रेरणा स्रोतों का संदर्भ (8 पंक्तियाँ); (7) अपनी काव्य कृति *अवासार बासारे* के प्रकाशन का उल्लेख (8 पंक्तियाँ); (8) अपने दो काव्य संकलनों के प्रकाशन का संदर्भ (10 पंक्तियाँ); (9) 'धूर्जटि' के छद्म नाम से कहानियों और उपन्यासों की रचना का उल्लेख (10 पंक्तियाँ); (10) *मामू, प्रायश्चित, बौध कातार काव्य* और *आत्मजीवन चरित* के लेखन का ज़िक्र (10 पंक्तियाँ)। इस प्रकार 150 पृष्ठों की इस किताब में कुल मिला कर साहित्य-संदर्भ सिर्फ़ 120 पंक्तियों में आता है। ऐसा क्यों हुआ? मुझे इस में कोई संदेह नहीं कि फकीरमोहन ने ऐसा जान-बूझ कर किया। वह साहित्यकार के रूप में न तो कीर्ति चाहते थे, न कोई पारिश्रमिक। वह अपनी कोई साहित्यिक छवि भी नहीं बनाना चाहते थे। वह अपने लेखन के बारे में ज़्यादा ऊँचा विचार नहीं रखते थे और रचनात्मक लेखन से ज़्यादा जीवन में दिलचस्पी लेते थे। रचनात्मक लेखन करते हुए भी वह कविता और अनुवाद में अपने प्रयासों को ज़्यादा रेखांकित करते थे और उपन्यासों को भूल जाते थे। वह दुनिया के अकेले लेखक थे जिन की आत्मकथा में उन के द्वारा रचित साहित्य के बारे में इतनी कम सूचना है। वह अपने युग से अपने संबंध को महत्त्वपूर्ण मानते थे, खुद अपने महत्त्व की परवाह नहीं करते थे।

अब हम इस कृति की बात करेंगे। पहले उन के दुखी बचपन को लें। इस में तीन बातें नज़र आती हैं : फ़क़ीरी, प्रेम और धोखा। फ़क़ीर का रूपक सिर्फ़ उन के नाम में ही नहीं, उन के जीवन-दर्शन में भी केन्द्रीय स्थान रखता है। उन का जन्म का नाम तो ब्रजमोहन था लेकिन उन की दादी ने उन्हें बीमारी से बचाने के लिए उन की ज़िन्दगी फ़क़ीरों के नाम कर दी। बीमारी से ठीक होने के बाद बालक फकीरमोहन को मुहर्रम के महीने में आठ दिन तक फ़क़ीर का जीवन व्यतीत करना था। वे खुद बताते हैं, 'मैं ठीक हो गया यानी ज़िन्दा बच गया। लेकिन मेरी दादी मुझे फ़क़ीरों के हवाले नहीं कर सकी। उस ने कहा कि बस मुहर्रम के महीने में 8 दिन तक फ़क़ीर बन कर रहो। उन दिनों मैं फ़क़ीर का चोला पहनता यानी घुटनों तक लंबा एक पाजामा, रंग-बिरंगी थिगलियों से बना कोट, सिर पर फ़क़ीरों की टोपी और रंग-बिरंगे चिथड़ों से बना हुआ एक झोला। हाथ में लाल रंग का मोम लगा डंडा रहता। मुझे यह वेशभूषा पहना कर मेरे चेहरे पर भभूत मल दी जाती और मैं सुबह और शाम भीख माँगने निकल पड़ता। भीख में मिले चावलों को बेच कर

में यह पैसा फ़क़ीरों को दे देता ताकि वे खाने का कच्चा सामान ख़रीद कर मौला को भेंट कर सकें।' इस रूपक में तीन तरह के तनाव हैं : पहला तो मनुष्य की स्वार्थ-वृत्ति और त्याग-भावना के बीच, दूसरा मसख़रेपन और कड़वी हँसी के बीच, तीसरा वास्तविक और काल्पनिक के बीच। ये तीनों विरोधाभास दरअसल फकीरमोहन के औपन्यासिक साहित्य की जान हैं।

प्रेम का रूपक दादी के व्यक्तित्व में समाया है। एक तो दादी उस प्रेम की प्रतीक है जो एक अनाथ के लिए बहुत महत्त्व रखता है। दूसरे, दादी फकीरमोहन की आदर्श स्त्री की अवधारणा का भी प्रतिनिधित्व करती है। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि यह रूपक उन के जीवन में उन की दूसरी पत्नी कृष्णाकुमारी के रूप में घटित हुआ। धोखे का रूपक वैष्णव महांति नामक अवधान अथवा देहाती प्राइमरी स्कूल के शिक्षक के रूप में सामने आता है। अवधान जिस क्रूरता से बालक फकीरमोहन से पेश आता है वह फकीरमोहन के लिए एक शोषक की धारणा का प्रतिनिधित्व करता है।

फकीरमोहन की पढ़ाई-लिखाई की कहानी भी दिलचस्प है। उन की औपचारिक शिक्षा लगभग नहीं के बराबर हुई। शुरू में उन की स्कूली तालीम रुक-रुक कर हुई, वह भी पर्याप्त रूप से नहीं। इस की वजह से उन में जीवन भर कुछ न कुछ सीखने का माद्दा विकसित हुआ, जैसे कि वह अपने बचपन की पढ़ाई की कमी को पूरा कर रहे हों। यहाँ भी तीन चीज़ें दिखाई देती हैं : पहचान का संकट, उदार दृष्टिकोण और विवेकवाद। फकीरमोहन ओड़िया भाषा को एक स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित होते देखना चाहते थे, उन्होंने संस्कृत, अंग्रेज़ी, फ़ारसी और तेलुगु भी अपने आप सीख ली। वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण और विवेकवाद के हिमायती थे और अपने ज्ञान का समाज-सुधार तथा जीवन की बेहतरी के लिए उपयोग करना चाहते थे।

अंग्रेज़ों के अधीन फकीरमोहन के कार्य-जीवन को दो चरणों में बाँटा जा सकता है—पहला चरण जब वह दो साल तक एक स्कूल के अध्यापक रहे, और दूसरा चररण जब वह अनेक छोटी-छोटी रियासतों और ज़मीन्दारियों में दीवान, प्रशासक या मैनेजर की नौकरी करते रहे। दूसरे चरण में वह एक सफल प्रशासक, राजनयिक और पेशेवर के रूप में स्थापित हुए। उन के चरित्र में दो बातें स्पष्ट रूप से देखी जाती हैं : ईमानदारी और अपने ऊपर व्यंग्य करने की क्षमता। अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के बावजूद वह अपने महत्त्व के दावेदार नहीं बनते। वह इतिहास का बयान ऐसी तटस्थता से करते हैं जैसे इस में उन की ज़रा-सी भी भूमिका न हो। अपने को नगण्य मान कर चलने वाली यह विनम्रता फकीरमोहन की शैली की विशेषता है। यह उन की अपना मज़ाक बनाने की वृत्ति का भी हिस्सा है। वह अपने अनाथ जीवन, अपने शिक्षकों, पंडितों, राजाओं, ज़मीन्दारों और अंग्रेज़ अफ़सरों का एक ही भाव से मज़ाक़ उड़ाते हैं। लेकिन उन के विवरण अचूक होते हैं। कई बार उन के मज़ाक़ हँसाने के साथ-साथ एक टीस भी पैदा करते हैं। एक जगह फकीरमोहन छोटी माता (चेचक) से ग्रस्त हो कर घर लौटते हैं और उन की दादी उन्हें देख कर पूछती हैं कि किस ने उन की इतनी बुरी तरह पिटाई की है। या वह प्रसंग जब फकीरमोहन ईसाई बनने का फ़ैसला कर लेते हैं, लेकिन चूँकि राधानाथ हिन्दू ही बने रहना चाहते हैं इसलिए वह अपना इरादा यह सोच कर त्याग देते हैं कि अकेले ईसाई बन कर क्या कर लेंगे! एक वह प्रसंग जहाँ वह नशे की अवस्था में पूजा करने की ब्रह्म समाज वालों की आदत का उल्लेख़ करते हैं। एक प्रसंग में वह राधानाथ के साथ एक नदी पर यात्रा कर रहे हैं और सिर्फ़ 5 पंक्तियों में राधानाथ की एक अनूठी छवि पेश कर देते हैं। राधानाथ की बीमारी, अफ़ीम की लत, उन का डरपोकपन और कवि के रूप में उन की महानता यह सब इस संक्षिप्त विवरण में सजीव हो उठता है। ऐसा करते हुए भी फकीरमोहन मृत्यु के बारे में अपने ख़ास अंदाज़ में उपहास करना नहीं भूलते। कहते हैं, 'इस बार ही नहीं और भी कई बार मैं प्रभु की कृपा से मृत्यु के जबड़ों में जाने से बचा हूँ। मेरी

सूची इस प्रकार है : तीन बार विषैले नाग द्वारा डसे जाने से, एक बार खूँख़ार भालू से, एक बार जंगली हाथी से, एक बार जंगली भैंसे से, एक बार किसी मनुष्य द्वारा छोड़े गए तीर से, एक बार किसी मनुष्य के हाथ से चली तलवार से, एक बार ज़हर खाने से और दो बार जहाज़ के डूबने से।' मौत से बारह बार सामना हुआ और इन सारे प्रसंगों को फकीरमोहन आधी गंभीरता, आधी हँसी में उड़ा देते हैं। इन की यही तकनीक पूरे कथानक में इस तरह समाई हुई है जैसे कि पत्ती में शिराएँ समाई रहती हैं। एक प्रसंग है जिस में विद्रोही जनजाति के लोग फकीरमोहन को बंदी बना लेते हैं। फकीरमोहन बिना किसी दुर्भावना के अपने बंदी जीवन का उल्लेख करते हैं। हालाँकि अंग्रेज़ फ़ौज की मदद से वह इस बग़ावत को दबाने में सफल हो जाते हैं, लेकिन इस कथानक की सुंदरता उन के द्वारा खींचे गए उन व्यक्ति चित्रों में है जिन के ज़रिए इन आदिवासियों की सादगी, भोलापन और बेवकूफ़ी सामने आती हैं। एक स्तर पर ये जीवंत आदिवासी अपनी स्वाभाविक सादगी में फकीरमोहन की बुद्धि और चातुर्य का मज़ाक़-सा उड़ाने लगते हैं। यहाँ एक जटिल तकनीक अपनाई गई है। एक ओर अपने सारे बुद्धिबल के साथ राजा का विश्वस्त मैनेजर और सरकारी नौकर है, तो दूसरी ओर अपनी स्वाभाविक जीवंतता के साथ एकदम साधारण और बेढब-से लोग। इस सब के पीछे वह प्रेक्षक और रचनाकार मौजूद है जो इस मुक़ाबले के नतीजे से बहुत खुश नज़र नहीं आता। इस कथानक में जो नहीं कहा गया वह महत्त्वपूर्ण है। वही इस को महान विस्तार देता है।

फकीरमोहन एक और तकनीक अपनाते हैं। वह व्यक्तिगत से निर्वैयक्तिक स्वर की ओर बढ़ते हैं। वह मैं से शुरू करके फ़ौरन उस के परे चले जाते हैं। इस प्रकार अपने सादे गद्य में वह एक वृहत्तर सामाजिक वस्तु और वज़न डाल देते हैं। यहाँ भी उन की शैली सादगी और तथ्यात्मकता से दूर नहीं जाती, फिर भी आधी कही बातों और इशारों से भरी होती हैं। इस तरह उन के कथा-साहित्य में सामाजिक वक्तव्य आ भी जाते हैं और वह बयानबाज़ी से बचे भी रहते हैं। बालासोर की साल्ट स्टेट का वृतांत ही लें। पता नहीं वह उन की सुपरवाइज़र के रूप में आरंभिक जीवन की कहानी है या उड़ीसा की पतनशीलता पर एक ऐतिहासिक टिप्पणी। उसे इतने कौशल से कहा गया है कि कुछ हिस्से अलग से चमकते हैं, उस स्फटिक की तरह जिस के चमकते हुए हिस्सों पर ही निगाह जाती है।

इस तरह फकीरमोहन की यह आत्मकथा न तो पूरी तरह एक उपन्यास ही है—क्योंकि यह ऐतिहासिक वृत्तांत से दूर नहीं जा सकी—न ही यह एक ऐतिहासिक वृत्तांत है, क्योंकि इस की औपन्यासिकता भी इस का केन्द्रीय पक्ष है। एक प्रकार से यह इतिहास और उपन्यास के बीच, यथार्थ और गल्प के बीच ठहरी हुई एक कृति है। यही इस की कलात्मक विशेषता है।

अब हम *आत्मजीवन चरित* में अंतर्निहित दो 'पाठों' का उल्लेख करेंगे। वह पाठ जो सामाजिक परिवर्तन के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया को सामने रखता है, इस कृति में जगह-जगह बिखरा हुआ है। यह प्रतिक्रिया तीन प्रकार की है : (1) परिवर्तन का प्रतिरोध, (2) साहित्य में पुरातन परंपरा का क्षय, और (3) ओड़िया सांस्कृतिक पहचान का संकट।

पतनशीलता के रूपक को भी लगभग इसी तरह बाँधा गया है। सामुद्रिक परंपरा का लोप, राजशाही की समाप्ति, एक नए वर्ग का उदय और मूल्यों का पतन। अगर इन दोनों पाठों को एक साथ देखा जाए तो फकीरमोहन की आत्मकथा के तीन पक्ष सामने आते हैं : (1) लेखन का सामाजिक उद्देश्य, (2) नायक की निर्वैयक्तिकता, और (3) सामाजिक फ़ैसले की वस्तुनिष्ठता।

जहाँ तक लेखन के सामाजिक उद्देश्य का सवाल है, फकीरमोहन के गद्य की प्रेरणा के स्रोत चार हैं : दुखी बचपन, विभिन्न लोगों से रिश्तों का एक लंबा-चौड़ा सिलसिला, ओड़िया सांस्कृतिक पहचान के सामने आसन्न ख़तरा, और यह दृष्टिकोण कि साहित्य जीवन का दर्पण है। नायक की निर्वैयक्तिकता को ले कर कई दृष्टिकोण सामने आते हैं। एक राय तो यही है कि जान-बूझ कर व्यक्तिगत तत्त्व को दूर रखा गया है। लेकिन इसे मानना ग़लत होगा। हमारे सामने एक पाठ है और उसे स्वीकार करना ही चाहिए। मेरा अपना मत यह है कि फकीरमोहन की अपनी शैली पात्र को एक प्रतीकात्मक महत्त्व के साथ सामने रखती है, वह खुद कोई पक्ष लेते हुए नज़र नहीं आते, जीवन और जीवन-शैली के बीच वे थोड़ा अंतर रख कर चलते हैं, खेद अथवा पश्चात्तापपूर्ण दृष्टि से जीवन को नहीं देखते और वर्तमान में आस्था रखते हैं।

ये तीनों पाठ एक बिन्दु पर आ कर मिलते हैं और वह बिन्दु एक ही शब्द के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—मनुष्य। फकीरमोहन की आत्मकथा इसी मनुष्य की नियति की खोज है। अगर वह अपने व्यक्तिगत जीवन पर कम रोशनी डालते हैं तो इसलिए कि उन्होंने अपने आप को जीने की प्रक्रिया और अपने उपन्यास के पात्रों में ख़र्च कर रखा है। उन के जीवन के अंतिम दिनों की कहानी एक दर्दनाक उपन्यास का विषय हो सकती है। उन्होंने इसे इसलिए नहीं लिखा क्योंकि वह अपनी व्यक्तिगत गरिमा को बचाए रखना चाहते थे, अपने आत्माभिमान को ठेस नहीं पहुँचाना चाहते थे। या क्या पता 'डाकमुंशी' में उन्होंने अपनी ही कहानी कह दी हो!

आत्मजीवन चरित का कथात्मक ढाँचा एक चौकोर संरचना की तरह है। लेकिन इस से पहले हम *आत्मजीवन चरित* के कुछ महत्त्वपूर्ण कालखंडों का क्रमानुसार ब्यौरा देखें :

1843 : एक ज़मीन्दार परिवार में जन्म।

1845 : हैज़े से पिता की मृत्यु। इस आघात से माँ की मृत्यु।

1852 : गाँव के प्राइमरी स्कूल में दाख़िला।

1856 : 13 वर्ष की आयु में लीलावती देवी से विवाह।

1856-62 : निमक महल और सेल मैनुफ़ैक्चरिंग में काम सीखा।

1862-64 : बालासोर के बाराबाटी स्कूल में अध्ययन। संस्कृतनिष्ठ ओड़िया भाषा की सीमाओं की पहचान। स्कूल में अध्यापन।

1864-71 : बालासोर मिशन स्कूल में अध्यापन। स्कूल के सचिव श्री मिलर का वर्णन। मिलर का गुस्सैल स्वभाव, ओड़िया का ग़लत उच्चारण, हिन्दू-विरोधी रवैया मिल-जुल कर एक हास्यास्पद लेकिन गंभीर चरित्र की सृष्टि करते हैं, भावी उपन्यासकार के लिए यह एक अच्छा अनुभव है। (2) श्री मिलर द्वारा किए गए एक ओड़िया अनुवाद का संशोधन। भाषा के रचनात्मक प्रयोग का पहला प्रयास। (3) बालासोर के कलेक्टर जॉन बीम्स से मेल-जोल और सुधारवादी भावना का जन्म। (4) 1866 के भीषण अकाल का व्यक्तिगत अनुभव, हिन्दू धर्म में दया और सहानुभूति के अभाव और ईसाई धर्म के मानवतावादी पक्षों का उल्लेख। (5) 'एक राजकुमार का इतिहास' नामक गद्य रचना की सृष्टि और ईश्वरचंद्र विद्यासागर कृत जीवनी परक वृत्तांत 'जीवन-चरित' का अनुवाद। एक

व्याकरण की प्राइमर और गणित की पुस्तक का लेखन। (6) ओड़िया छापेख़ाने की स्थापना के लिए अभियान, 'बोध दायिनी' और 'संवाद वाहिका' नामक दो छोटी ओड़िया पत्रिकाओं का संपादन जो ओड़िया की पहली पत्रिकाएँ थीं। इन के 50 ग्राहक थे जिन में से सिर्फ़ दस ने पैसे दिए। (7) दादी की मृत्यु। क्योंकि वे अनाथ थे और दादी ने ही उन्हें पाला था इसलिए यह उन के जीवन का सब से दुखद क्षण था। इस भली, स्वस्थ, शांतचित्त, धर्मभीरु, कभी न हँसने वाली महिला की छवि फकीरमोहन के साहित्य में पीड़ित नारी जाति का प्रतीक बन कर उभरी है।

1871 : पहली पत्नी लीलावती की मृत्यु जो कि कठोर स्वभाव की अहंकारी महिला थी। उस के तत्काल बाद ग्यारह वर्षीया कृष्णाकुमारी से विवाह। इस विवाह से 29 वर्षीय फकीरमोहन के जीवन में स्थायित्व आया।

1871-75 : नीलगिरि के राजा के दरबार में दीवान की नौकरी। दरबार के षड्यंत्रों का शिकार हो कर नौकरी का त्याग।

1876-77 : जॉन बीम्स द्वारा डोमपारा स्टेट की दीवानी का प्रस्ताव, जिसे फकीरमोहन तत्काल स्वीकार कर लेते हैं। इन दो वर्षों में फकीरमोहन उच्च स्तरीय प्रशासनिक क्षमता का परिचय देते हैं। वह कृषि के बंदोबस्त का एक विशाल कार्यक्रम अपने हाथ में लेते हैं और एक जर्जर होती हुई जागीर को नए सिरे से स्थापित कर देते हैं।

1877-83 : ढेनकनाल जागीर के असिस्टेंट मैनेजर का पद सँभालते हैं। इस बीच उन के यहाँ एक पुत्र का जन्म होता है जो जल्द ही मर जाता है। अपनी पत्नी को सांत्वना देने के लिए ओड़िया में *वाल्मीकि रामायण* का अनुवाद करते हैं। षड्यंत्रों का शिकार हो कर ढेनकनाल छोड़ देते हैं।

1884-86 : दासपल्ला जागीर के दीवान बनते हैं। निरक्षर राजा से अनबन होती है और नौकरी छोड़ देते हैं, लेकिन इस बीच राजा की जागीर का काफ़ी विकास करवा चुके होते हैं।

1886-87 : पाल-लहर नामक एक और रियासत के दीवान बनते हैं। करने को काफ़ी काम नहीं होता और ख़ाली बैठे तनख़्वाह लेना अच्छा नहीं लगता इसलिए नौकरी छोड़ देते हैं। एक नैतिक दृढ़ता का यहाँ परिचय देना शुरू करते हैं।

1887-92 : क्योञ्झार स्टेट के मैनेजर बनते हैं। वहाँ एक आदिवासी विद्रोह उन की प्रशासनिक योग्यता की परीक्षा लेता है। विद्रोहियों द्वारा बंदी बनाए जाने के अपने अनुभव को वे एक नपी-तुली, वस्तुनिष्ठ शैली में लिखते हैं, जिस से कि एक प्रशासक और लेखक का आदर्श योग सामने आता है। उद्दंड और भोले क्रांतिकारी धरणीधर का चरित्र फकीरमोहन की मानव-स्वभाव की समझ का परिचय देता है। *उत्कल भ्रमण* नामक काव्यात्मक यात्रा वृत्तांत की रचना करते हैं जो कि ओड़िया महापुरुषों की शान में रचा एक प्रकार का प्रबंध काव्य है। महाराजा से मतभेद होने पर क्योञ्झार छोड़ देते हैं।

1894-96 : फिर से डोमपारा में आ कर नौकरी करते हैं। यहाँ रह कर वह विवेकवादी कम, भाग्यवादी ज़्यादा बन जाते हैं। पत्नी की बीमारी और मृत्यु के बाद डोमपारा छोड़ देते हैं।

1896-1905 : कटक में आ कर बस जाते हैं। कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में मद्रास जाते हैं और बालगंगाधर तिलक से मिलते हैं। रामेश्वरम जाते हैं और इस विश्वास के साथ घर लौटते हैं कि अब वे एक

वृहत्तर दुनिया के लिए सक्रिय रहेंगे। केन्द्रपारा के ज़मीन्दार की नौकरी की अनमनी-सी कोशिश करते हैं और नौ महीने बाद नौकरी छोड़ देते हैं। इन की उम्र 57 साल हो चुकी है। इस अवधि में वह अपने उपन्यास, महत्त्वपूर्ण कहानियाँ और कुछ अन्य कृतियाँ लिखते हैं।

1905-18 : जीवन के ये अंतिम वर्ष वे बालासोर में बिताते हैं। बीमारी, बुढ़ापा और अकेलापन उन पर हावी हैं और वह खुद को भाग्य के भरोसे छोड़ देते हैं। अपनी रचना प्रक्रिया की यह ख़ास बात उन की समझ में आती है कि वह दुखी और परेशान-हाल हो कर ही बेहतर लिख सकते हैं। किसी व्याधि से छुटकारा पाने के लिए वह ग़लती से सांद्र गंधकाम्ल पी लेते हैं। किसी तरह बच तो जाते हैं लेकिन उन की पीठ में एक बड़ा-सा फोड़ा निकल आता है। इस अवधि में उन की अधिकांश महत्त्वपूर्ण कृतियाँ पूरी हो जाती हैं।

1918, जून 14 : बालासोर में मृत्यु।

इन की जीवन यात्रा का यह ख़ाका इसलिए दिया गया कि उन की आत्मकथा में कथा-तत्त्व का ढाँचा देखा जा सके। इस ढाँचे के 4 कोने हैं : व्यक्तिगत अकेलापन, व्यावसायिक कौशल, सामाजिक प्रतिबद्धता और मानववाद। निजी दुख को घटनाओं की एक श्रृंखला के ज़रिए यहाँ-वहाँ दर्शा दिया गया। अपने काम में क़ाबलियत के मज़मून को भी प्रसंगों के ज़रिए बताया गया है। सामाजिक प्रतिबद्धता दूसरे मनुष्यों के प्रति गहरी सहानुभूति के ज़रिए सामने आती है। उन के मानववाद ने उन के अंदर एक विशेष प्रकार के हास्य, व्यंग्य, उपहास, आत्मदया के गुण पैदा किए और एक गरिमामय बौद्धिक ऊँचाई दी। इस मानववाद के कारण उन की शैली में एक प्रकार की किफ़ायत और गहराई उपजी। *आत्मजीवन चरित* इतिहास भी है और उपन्यास भी। इस से भी बड़ी बात यह है कि यह इतिहास और उपन्यास न हो कर भी दोनों विधाओं के इतना समीप है। फकीरमोहन के लिए लेखन एक सक्रिय जीवन का हिस्सा ही है, उस का बदल या एवज़ी नहीं। साहित्य के इतिहास में ऐसे लेखक बहुत कम होते हैं जो लेखक के रूप में अपने महत्त्व और प्रतिष्ठा के प्रति इतने उदासीन रहे हों। बंकिमचंद्र, प्रेमचंद, डिकेन्स, हार्डी और स्तेनधाल ये सभी अच्छी तरह जानते थे कि वे साहित्य में महत्त्वपूर्ण योग दे रहे हैं। दोस्तोएव्स्की शायद यह नहीं जानते थे, पर अपने दुखी जीवन का उन पर इतना दबाव था कि अपने जिए हर क्षण का उन की रचना में महत्त्व बना। फकीरमोहन का मामला इन से बिल्कुल अलग है।

फकीरमोहन की कला का महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि उन के लिए कथानक अपने आप से संवाद का ही एक विस्तार है। वे कहीं से भी शुरू हो कर कहीं भी ख़त्म कर देते हैं। उन का *आत्मजीवन चरित* एक तरह से उन के उपन्यासों, यहाँ तक कि कविताओं का विस्तार-सा है। यह अधूरा और यहाँ-वहाँ बिखरा हुआ लग सकता है, लेकिन धुँधला नहीं है। वे ऐसे कलाकार हैं जो जीवन को कला से श्रेष्ठतर मानते हैं और इसीलिए रूप और गठन पर बहुत ज़्यादा ज़ोर नहीं देते। जो कथानक इस कृति में सामने आता है वह एक जीवन ही की तरह है।

अंग्रेज़ी से अनुवाद : **असद ज़ैदी**

---

* साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 1994 में आयोजित एक परिसंवाद में पढ़े गए परचे का मुक्त रूपांतर।

अभय कुमार दुबे

दलित चेतना : नए शहर की तलाश

. . .उन सब के चेहरे पर उमड़ते हुए आदर मिश्रित भाव एवं आश्चर्य देख कर पहले से ही नौकरी मिलने के कारण प्रफुल्लित मेरा मन प्रेममग्न प्रणयिनी की भाँति रंगीन सुगंधित होता चला गया. . . कि बीच में रणछोड़ ने डरते-डरते पूछा, 'पर तुम्हारी जाति क्या है?'

*यह सुनना था कि मैं क्रोधित बादलों की भाँति गरज पड़ा, 'आप ने जाति किसलिए पूछी? मैं कौन हूँ यह तुम्हें दिखता नहीं? मैं. . .मैं बंबई वाला । सत्य के लिए मरने वाला । शास्त्र और शस्त्र धारण करने वाला । देश को मुक्ति और शक्ति देने वाला, समझे! या फिर से कहूँ? आनंद से मदमस्त होता हुआ गरजते हुए मैं आगे बढ़ा । सारी रात सपनों में धुत्त मेरा मन गतिमान होता हुआ दौड़ता रहा । मेरे कानों पर पीछे आते हुए झुंड के शब्द पड़ते रहे । देवजी कह रहा था, 'अरे रणछोड़, उसे छोड़ मत, किराया मत डुबा । मराठी आदमी है, निर्भय है । शायद ब्राह्मण होगा, अथवा क्षत्रिय होगा । उसे वापस बुला लो, दौड़ो, भागो ।' —मराठी कहानी 'जब मैंने अपनी जाति छिपाई थी' का अंश/*बाबू राव बागुल[1]

कमरे से निकलने के लिए कुछ क़दम कमरे में ही रखने पड़ते हैं । यह दार्शनिक उक्ति बाहर निकलने की सभी समस्याओं का समाधान नहीं कर पाती । भारतीय समाज में जाति को छोड़ने की कोशिश ने अपने आप को छोड़ने के अंदेशे को जन्म दिया है । इसलिए सभी लोगों ने दरवाज़ा पार करने की पूरी कोशिश नहीं की । आधुनिक होने की प्रक्रिया ने जाति-प्रथा के कर्मकांडी स्वरूप का धीरे-धीरे क्षय अवश्य किया लेकिन साथ ही एक ख़ामोश द्वंद्वात्मकता भी काम करती रही । जाति खुद करवट बदल कर परिवर्तनशील समाज के नए आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक ढाँचे में नदी की गाद की तरह उतरती चली गई,[2] और किसी विशेष प्रयास के अभाव में हम कमरे में ही चलते रह गए ।

यही वह बिन्दु है जिस पर हमारे गौरवशाली जाति-प्रथा विरोधी संघर्ष नाकाफ़ी साबित हुए । छुआछूत-विरोध, तालाब और कुएँ के पानी पर अधिकार, मंदिर-प्रवेश, शिक्षा, आरक्षण और मताधिकार के परिप्रेक्ष्य ने अपनी सीमाएँ स्वयं उद्घाटित कर दीं । बाहर निकलने के लिए एक छलाँग की ज़रूरत पड़ी । एक ऐसी चालक शक्ति प्राप्त करना अनिवार्य हो गया जो अतीत और वर्तमान से मुक्ति का एहसास दिला सके । केवल दलित समुदाय ने ही

इस शक्ति का आह्वान किया। अन्य समुदाय जातिवाद-विरोध के चुके हुए प्रत्यय से बँधे रहे और थक-हार कर अपने अग्रहार की तरफ़ लौट गए। जिन्होंने उग्र विरोध किया था, वे सीमा पर खड़े अपने पुनर्ग्रहण की प्रतीक्षा करने लगे। जिन्होंने बौद्धिक मंथन द्वारा मनोवैज्ञानिक मुक्ति चाही थी वे पुराना छोड़ने और नया प्राप्त करने के वास्तविक कार्यभार से कतराते हुए या तो लौट आए या लौटने के निर्णय पर पहुँच गए।

दलित समुदाय ने अकेले ही जोखिम उठाया। वह नए गाँव और नए शहर की तलाश में आगे निकल गया। कोई दूसरा इस सामाजिक और मनोवैज्ञानिक परियोजना में साझीदार होने को तैयार था ही नहीं। अकेले पड़ जाने की अनुभूति ने सदियों से हो रहे अन्याय के प्रति उन की वाणी को और कर्कश बना दिया। उन की मुद्रा युद्ध की हो गई और अभिव्यक्ति आक्रामक। अकेलेपन ने उन्हें बार-बार अपने निजी अनुभव की ओर मोड़ा जिस की प्रामाणिकता पर अत्यधिक ज़ोर देने के कारण उन की चेतना का कला रूप यथार्थवाद तक ही सीमित रह गया। राजनीतिक जुड़ाव ने उस में पूर्वनिर्धारण के तत्त्वों की समस्या पैदा कर दी।[3] लंबे सफ़र के गर्द-गुबार ने कई बार इस चेतना के चमकदार पक्षों को धुँधला किया। युद्ध और रचना के अंतरगुंफन में युद्ध हावी नज़र आया। इस तरह दलित चेतना अपनी आत्मसंभवा अभिव्यक्ति खोजने की डगर पर चल पड़ी।

अकेले चलने के तर्क

दलित चेतना और उस के साहित्य को क्यों जन्म लेना पड़ा—इस के ऐतिहासिक कारणों पर एक नज़र डालते ही 'एकला चलो रे' का तर्क समझ में आ जाता है। रानाडे और फुले जैसे उदारतावादी और रेडिकल तत्त्वों के मिश्रण ने महाराष्ट्र में जिस जातिवाद-विरोधी आंदोलन की नींव डाली थी, मराठी साहित्य ने उस से प्रेरणा लेने से लगभग इंकार कर दिया। वहाँ किसी शिवशंकर पिल्लै ने *झाड़ूबरदार का बेटा* नहीं लिखा। न ही किसी प्रेमचंद ने 'ठाकुर का कुआँ', 'सद्गति' या 'कफ़न' जैसी कहानियाँ रचीं। कोई हैरियट बीचर स्टो भी वहाँ पैदा नहीं हुआ (या हुईं) जो *अंकल टॉम की कुटिया* बना कर सवर्ण समाज के हृदय को अपराधबोध से भर दे। यू.आर. अनंतमूर्ति के *संस्कार* और *भारतीपुर* के मनोजगत से मराठी साहित्यकारों का दूर का रिश्ता भी नहीं था। जो साहित्य जातिवाद-विरोध के सीमित परिप्रेक्ष्य को भी अभिव्यक्ति देने में नाकाम रहा, दलित चेतना उस के लिए कल्पनातीत ही होनी चाहिए थी। प्रगतिशील साहित्य का आंदोलन भी समता की आकांक्षा को पूँजीपति बनाम श्रमिक के वर्गीय सूत्रीकरण के तहत ही व्यक्त कर पाया और मार्क्सवादी साहित्यकार नंबूदरीपाद के मुताबिक 'अछूतों के बेकार में ही उठ आए पचड़े' को अछूत मानते रहे।[4] नारायण सुर्वे जैसे उसी मार्क्सवादी ने दलित चेतना का स्पर्श प्राप्त किया जो स्वयं दलित समाज से आया था। इस विशिष्ट परिस्थिति ने दलित चेतना को अकेले ही मुहिम चलाने का पहला तर्क प्रदान किया।

जिन क्षेत्रों ने अधिक सामाजिक संवेदनशीलता प्रदर्शित की, वहाँ का साहित्य अगर जातिवाद विरोध के परे जाने की चुनौती स्वीकार कर लेता तो दलित चेतना की अकेले चलने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति में बदलाव आ सकता था। समस्या यह थी कि वहाँ *संस्कार* आड़े आ चुका था। नारणप्पा और प्राणेशाचार्य जैसे जातिवाद-विरोधी चरित्र अपनी इच्छा से स्वतंत्र एक विराट अतीत, एक सुसंगठित अग्रहार से युक्त वर्तमान और एक सुनिश्चित विचारधारा के टुकड़ों से बने भविष्य को लाँघने का जोखिम नहीं उठा पाए। इस के विपरीत अक्करमाशी[5] के घिनौने और अतीतविहीन वर्तमान में जीती हुई अछूत और जारज संतान ठीक उसी तरह अपने खोल से बाहर निकल आई जिस तरह 'साँप केंचुल छोड़कर'[6] निकल आता है।

दलित चेतना किस तरह जातिवाद-विरोध से आगे की चीज़ थी और क्यों वह केवल दलितों में ही जन्म ले सकती थी—इस शंका का एक मोटा-मोटा जवाब जातिवाद-विरोधी साहित्य और दलित साहित्य के कुछ उदाहरणों पर तुलनात्मक दृष्टि डालने से मिल सकता है। अनंतमूर्ति हमें बताते हैं कि जाति-प्रथा के दैवी कारागार से छूटने के लिए दलित ही नहीं ब्राह्मण भी छटपटा रहे हैं। उन के कन्नड़ उपन्यास *संस्कार* में नारणप्पा और प्राणेशाचार्य ऐसे ही पात्र हैं। नारणप्पा विद्रोह कर चुका है और अब बारी प्राणेशाचार्य की है। वे शंकाओं की दुनिया में चक्कर लगाते हुए ब्राह्मणत्त्व की निस्सारता समझ लेते हैं। सवाल यह है कि ये दोनों पात्र पुनः अग्रहार की तरफ़ आने के लिए क्यों अभिशप्त हैं? नारणप्पा का शव अग्रहार की सीमा पर रखा हुआ अंत्येष्टि के लिए ब्राह्मणों का इंतज़ार कर रहा है क्योंकि उसी ने ब्राह्मणों को छोड़ा था, ब्राह्मणों ने नहीं। प्राणेशाचार्य अपने वर्तमान की व्यर्थता का साक्षात्कार करने के बावजूद किसी नए अग्रहार के निर्माण का संकल्प नहीं लेते वरन् वापस आने का निर्णय करते हैं। *संस्कार* के ये पात्र जातिवाद-विरोधी संघर्ष-चेतना के शास्त्रीय उदाहरण हैं। इन्हीं में इस संघर्ष की संभावना और सीमाएँ निहित हैं। इन के विपरीत शरण कुमार लिम्बाळे की आत्मकथा *अक्करमाशी* का नायक दलित बस्ती की तरफ़ लौटने की जितनी कोशिश करता है, उतना ही उस से दूर होता चला जाता है। वह कमरे में कई क़दम चलता है। अपने अवैध पिता का उपनाम पाने के लिए संघर्ष करता है। फिर उसी उपनाम से जाति छिपाता घूमता रहता है। 'जय भीम' और 'नमस्कार' अभिवादन के बीच चुनाव के ऊहापोह को लाँघता हुआ शरण कुमार दाँत-पर-दाँत जमा कर अपनी आत्मकथा लिख डालता है। दादी, काका, माँ, पत्नी, बहन और अधिकांश दलित समाज उसे अपनी ओर खींचता है लेकिन वह अपनी केंचुल छोड़ देने के लिए संकल्पबद्ध साबित होता है ताकि नया व्यक्तित्व ग्रहण कर सके। प्राणेशाचार्य और नारणप्पा काल्पनिक पात्र हैं और लिम्बाळे वास्तविकता है। अनंतमूर्ति यथार्थवाद से आगे के कलाकार हैं और शरण कुमार यथार्थवाद की शुरुआती सीढ़ियाँ ही चढ़ सके हैं। लेकिन यह केवल तकनीकी फ़र्क़ है। चेतना के धरातल पर दोनों अलग-अलग धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। लिम्बाळे की दलित चेतना-धारा अनंतमूर्ति की चेतना-धारा के बिना नहीं बन सकती थी लेकिन उस की गुणवत्ता अलग ही तरह की होनी थी।

संस्कार के ब्राह्मण पात्रों के पास उन की इच्छा से स्वतंत्र एक अतीत है। एक सुनिश्चित विचारधारा के तंतुओं से बनी भविष्य-दृष्टि है। वे अपने वर्तमान से घबरा कर आगे-पीछे भागते हैं। नारणप्पा तो दलित जीवन में अर्थात् अतीत में ही फ़रार हो जाता है। अतीत से उल्टे क़दम चलते वक़्त वही छोड़ा हुआ अग्रहार उस का पड़ाव बनता है और भविष्य में जाने की उस की संभावनाएँ विद्रोह का जोख़िम उठाने के बावजूद समाप्त हो जाती हैं। प्राणेशाचार्य नारणप्पा के रास्ते पर चलने से बाल-बाल बचते हैं। धर्मनिष्ठा और बौद्धिक मंथन उन्हें नई चेतना का स्पर्श दिलाता है। लेकिन यह झटका पीठ पर लदे हुए भारी-भरकम अतीत और एक सुविचारित भविष्य-दृष्टि का बोझ उतारने के लिए काफ़ी नहीं होता।

लिम्बाळे के सामने ऐसी कोई समस्या नहीं है। उस का काक़ा मुसलमान है, पिता गाँव का पाटिल है जिस के घर में घुसना उस के लिए कल्पनातीत है। लिम्बाळे महाराष्ट्र की महार जाति के पुत्र हैं लेकिन साथ में वे उत्तरप्रदेश के जौनपुर ज़िले में स्थित माधोपुर गाँव के उन चमारों के प्रतिनिधि भी हैं जो अपना तीन पीढ़ियों से पीछे का अतीत जानते ही नहीं थे।[7] उन के इतिहास के बारे में माधोपुर के राजपूत ज़मीन्दारों को ज़्यादा जानकारी थी। इसलिए अतीत लिम्बाळे को रोकने के लिए शक्तिहीन है। वह भविष्य के निर्माण में पृष्ठभूमि की भूमिका अदा नहीं करता। लिम्बाळे को केवल वर्तमान से ही मुक्त होना शेष है, एक ऐसे वर्तमान से जो अग्रहार की तरह सुगठित नहीं है वरन बंबई के कुलियों और बर्तन माँजने वालियों के बीच बिखरा हुआ है। लिम्बाळे के रक्त संबंधों की शिनाख़्त तलाशने

पर भी नहीं हो पाती। अपने आप को छोड़ने की यह कार्रवाई भी कोई सहज-सरल और स्वाभाविक नहीं हो सकती थी। अपने वर्तमान को, चाहे वह कितना ही घृणित क्यों न हो, बिरले ही त्याग पाते हैं, क्योंकि दलितों को छोड़ कर आम तौर पर सभी के पास कोई न कोई गर्व करने लायक अतीत अवश्य होता है। इस त्याग में अभिव्यक्ति के विकृत हो जाने का ख़तरा भी रहता है। साँप की तरह केंचुल छोड़ने की उपमा में इसे देखा जा सकता है। प्राणेशाचार्य के लिए *संस्कार* की दलित नायिका यौन संवेदना की स्रोत भी है। यह संवेदना लिम्बाळे के पास नहीं है। वह अपनी प्रेमिका के सान्निध्य में वैसी थरथराहट महसूस नहीं कर पाता। एक सुंदर औरत का वर्णन लिम्बाळे के शब्दों में 'बाघ की जीभ की तरह गोरी' के रूप में होता है। लिम्बाळे की कहानी में बिखराव है, उपन्यास का सुगठित विस्तार नहीं। केन्द्राभिमुखता के अभाव से ग्रस्त दलित साहित्य एक तरह की अनिवार्य विकेन्द्रीयता से ओतप्रोत है। इसलिए उस में उपन्यासों की रचना यदा-कदा ही होती है। दलित चेतना का सौन्दर्य शास्त्र जातिवाद-विरोधी चेतना के सौन्दर्य शास्त्र से एकदम अलग है। क्या त्यागना है और क्या ग्रहण करना है—उस के चुनाव की शर्तें और परिस्थितियाँ एकदम अलग हैं।

अक्करमाशी बाहर कैसे निकला? वह क्यों निकलना चाहता था? वही और केवल वही दलित चेतना का वाहक क्यों बन सका? नारणप्पा या एन.जी. रंगा का *हरिजन नायडू* (हरिजन नेता) यह भूमिका क्यों नहीं निभा पाया?[8] बाहर निकल कर *अक्करमाशी, बलुतं* (*अछूत*: दया पवार) या *उचल्या* (*उठाईगीर*: लक्ष्मण गायकवाड़) अब कहाँ जाने की तैयारी में है? उस का पथ-प्रदर्शक कौन है? या उस की चेतना पूरी तरह स्वायत्त हो चुकी है? दलित चेतना की व्याख्या इन सवालों के उपयुक्त जवाबों की माँग करती है।

लंबी छलाँग के बाद

कमरे में काफ़ी चल चुकने के बाद दलितों ने देखा कि वे अभी भी न केवल कमरे में ही हैं वरन उन के पैर जातिवाद के नए रूपों की गाद में धँसे हुए हैं। आंबेडकर को पता था कि उन की पत्नी पंढरपुर के विठोबा के प्रति अपने हृदय की समस्त भक्ति के बावजूद मंदिर की सीढ़ियों के पास बनी हुई चोखामेला की समाधि से आगे नहीं बढ़ पाएगी। इसलिए उन्होंने पत्नी को रोका और कहा कि नया पंढरपुर बनने तक इंतज़ार करो। बीस वर्ष तक उन्होंने दिमाग़ में इस नवनिर्माण का नक़्शा तैयार किया और 1956 में एक ऐसा क्षण आया जब धर्मान्तरण के मौक़े पर अख़बारों ने लिखा कि जैसे वहाँ एक नया पंढरपुर बन गया हो। इस क्षण को केवल धर्म-परिवर्तन की नज़र से देखना ऐतिहासिक अन्याय होगा। इतिहास में मोटे तौर पर इतना ही दर्ज़ है कि उस दिन अस्पृश्यता के शिकार लाखों हिन्दू बौद्ध बन गए। लेकिन दलित चेतना के लिए तो वह मनोवैज्ञानिक मुक्ति का क्षण था जिस की मदद से वह समुदाय दरवाज़ा पार करने के लिए लंबी छलाँग लगा सका।[9]

धर्मान्तरण के पश्चात हम देखते हैं कि उस में महत्त्वपूर्ण सिर्फ़ एक धर्म त्यागना था। बौद्ध धर्म के कर्मकांडी पक्ष को आंबेडकर ने और उन के साथ अन्य दलितों ने पहले ही ठुकरा दिया था। वे परंपरागत बौद्ध नहीं बने। अछूत छात्रों ने अपने कमरों में से देवी-देवताओं की तस्वीरें उतार कर खिड़की के बाहर फेंक दी। उन की जगह बुद्ध की तस्वीर ज़रूर लगाई लेकिन केवल प्रतीकात्मक रूप में। सामाजिक संगठन, निज़ी जीवन और यहाँ तक कि चिन्तन पर उस का कोई असर नहीं पड़ा। दलित साहित्य का नामकरण बौद्ध साहित्य नहीं हुआ। ऐसे सभी प्रयासों का जम कर विरोध किया गया।[10] हिन्दू चेतना की प्रतिक्रिया में कोई बौद्ध चेतना नहीं जन्मी। ज़ाहिर है कि दलित चेतना ने बुद्ध धर्म को एक पेचकस की तरह इस्तेमाल किया और अपने दिमाग़ की मशीन से प्रारब्धवाद

के पेच खोल कर वह टुकड़ा ही निकालने की शुरुआत कर दी जिस के कारण बंधुमाधव की कहानी 'ज़हरीली रोटी' का नायक येतल्या एक छोटी-सी बग़ावत के बावजूद वही रोटी खा कर प्राण त्यागने पर विवश है। चेतना की इसी परत के कारण 'जब आकाश फट पड़ा था' के सखा चाचा का देहांत शिक्षित और समझदार होने के बावजूद सवर्ण अफ़सर का ताँगा अपने सीने पर झेलने के कारण होता है।

मनोवैज्ञानिक मुक्ति का यह क्षण प्राप्त करना बेहद मुश्किल था। राजनीतिक रणनीति के मुक़ाबले प्रति रणनीति बनाना, सवर्णों की पार्टी के मुक़ाबले अवर्णों की पार्टी बनाना, सत्याग्रह से ले कर हड़ताल तक के नुस्ख़े इस्तेमाल करना, शिक्षा के लिए कॉलेज और छात्रावास खोल देना, आरक्षण से अफ़सरी हासिल कर लेना और वोट के संतुलनकारी प्रयोग के ज़रिए सत्ता में हिस्सेदारी प्राप्त कर लेना अपेक्षाकृत आसान था। 1956 से पहले ये सभी काम किए जा चुके थे। सब से बड़ा जोख़िम उठाना ही बाक़ी था जिसके लिए जातिवाद-विरोधी संघर्ष की सफलताओं ने ज़मीन तैयार कर दी थी। चेतना की नियतिवादी और नकारवादी परतों के पलड़े ऊपर-नीचे हो रहे थे। *संस्कार* और *हरिजन नायडू* की चेतना नियतिवाद पर प्रश्न लगा कर रुक गई थी। येतल्या और सखा चाचा के रूप में नियतिवाद पर पहली लेकिन केवल आंशिक रूप में सफल चोट हो चुकी थी। दलित आत्मकथाओं में पुराना कलेवर छोड़ कर नया व्यक्तित्त्व प्राप्त करने की छटपटाहट दिखाई देने लगी थी। बाबूराव बागुल और शंकर राव खरात की कहानियों में एक नई सृष्टि की उत्कट आकांक्षा प्रतिध्वनित हो रही थी।

चेतना की दूसरी परत

दलित चेतना के लिए धर्मान्तरण क्या काम कर सकता था, इस का एक अंदाज़ा वरिष्ठ कहानीकार बंधुमाधव[11] की कहानी 'जहरीली रोटी' है। येतल्या एक परंपरागत 'वतनदार' महार है जिसे ज़मीन्दार बापू पाटिल के यहाँ दिन भर हाड़-तोड़ मेहनत करने के बावजूद अपना हक़ नहीं मिलता। जायज़ होने के बावजूद यह हक़ उसे गिड़गिड़ा कर माँगना पड़ता था। येतल्या का ख़याल है कि उस के पोते महादेव की बग़ावत भरी बातों से नाराज़ हो कर ही बापू पाटिल ने उसे 'हक़' नहीं दिया। येतल्या प्रारब्ध से बँधा हुआ है। महादेव बाहर से आया है और स्वायत्त चेतना के कुछ तत्त्व उस में मौजूद हैं। वह अपने दादा को मिलने वाली गालियों का प्रतिवाद करता है और अपने दादा को भी ललकारता है कि उसे अब यह परंपरागत पेशा ठुकरा देना चाहिए। येतल्या इन बातों पर कान नहीं देता। महादेव व्यंग करने लगता है। इस बहस के दौरान ही येतल्या प्रारब्ध से बँधी अपनी चेतना की कुछ ऐसी परतें खोलता है जिन में नए विचारों की ग्रहणशीलता है। वह उत्तेजित हो कर गू-मूत से सनी रोटी कुत्ते के सामने फेंक देता है। यह छोटी-सी बग़ावत असफलता के अंदेशों से आक्रांत है। बाद में ज़हरीली रोटी के वही टुकड़े खा कर येतल्या को प्राण गँवाने पड़ते हैं। बंधुमाधव की एक और कहानी 'जब आकाश फट पड़ा था' में भी येतल्या जैसा ही पात्र है सखा चाचा।[12] वह भी भवितव्यता और स्वायत्त चेतना के संघर्ष का प्रतिनिधि चरित्र है। 'ज़हरीली रोटी' में युवा और रेडिकल महादेव चेतना की दूसरी और सुप्त परत को अपनी बातों से उकसाता है, लेकिन सखा चाचा में यह अंतर्द्वन्द्व बिना किसी बाह्य प्रेरणा के मौजूद है। ये चरित्र बताते हैं कि आम अशिक्षित दलित अपने प्रारब्धवाद के बावजूद अवचेतन में उस के विपरीत तत्त्वों को छुपाए हुए है। धर्मान्तरण ने इसी परत को सुप्तावस्था से निकालने और प्रारब्धवादी विचारधारा से पिण्ड छुड़ाने में दलितों की मदद की।[13]

दलित रचनाशीलता के लिए मनोवैज्ञानिक मुक्ति का कितना महत्त्व था—इस का पता आंबेडकर के निजी जीवन से भी लगता है। उन के जीवनीकार और रचनाओं के संपादक वसंत मून बताते हैं कि बचपन में आंबेडकर

परीक्षाओं में अच्छे नंबर नहीं ला पाते थे क्योंकि स्कूल में ऊँच-नीच का माहौल उन की प्रतिभा का दमन कर देता था।[14] आंबेडकर की यही प्रतिभा विदेश जा कर खूब फली-फूली क्योंकि उन्हें वहाँ जकड़बंदी का नहीं, मुक्ति का एहसास होता। भारतीय सामाजिक जीवन दलितों के वैचारिक अग्रगमन के लिए कितना असुविधाजनक है, इस की अनुभूति भी आंबेडकर के जीवन से होती है। कोलंबिया विश्वविद्यालय में पढ़ते समय बाबा साहेब मानते थे कि अछूत समस्या हिन्दू समाज में एक अनावश्यक विकृति की तरह पैदा हो गई है। वे अछूतों को एक अलग जाति, राष्ट्रीयता या समुदाय या उपनिवेशबद्ध नहीं मानते थे।[15] इस जगह वे गाँधी के नज़दीक थे। गाँधी भी छुआछूत को हिन्दू समाज की अंदरूनी समस्या मानते थे। समय आने पर संघर्षों के कई दौर की कटु असफलताओं के कारण आंबेडकर के विचारों में क्रमशः परिवर्तन हुआ और आख़िर में वे अछूतों को एक अलग जाति और नस्ल मानते दिखाई दिए। इस विश्लेषण में पृथकतावाद और संकीर्णता देखने की ग़लती हमें नहीं करनी चाहिए क्योंकि अलग राष्ट्र बनाने की सिफ़ारिश उन्होंने केवल मुसलमानों के लिए की थी। हाँ, वे स्वायत्तता ज़रूर चाहते थे। वे भारतीय समाज में अलग शिनाख़्त बना कर विलीन हो जाना चाहते थे। अलग पहचान ही विलय की शर्तों को बराबर का आधार दे सकती थी और इस के लिए उन्हें एक गौरवशाली अतीत की आवश्यकता थी। बौद्ध-धर्म सुदूर अतीत का एक लुप्तप्रायः अंश था। उस की टिमटिमाती हुई लौ में वर्तमान और भविष्य निर्माण की कीमियागीरी असंभव थी। हालाँकि आंबेडकर ने दलितों को एक बौद्ध अतीत देने की भरसक कोशिश की, लेकिन उन के बाद की दलित चेतना ने बौद्ध धर्म से अलग हट कर 'अतीत-निर्माण' का बीड़ा उठाया। इस मामले में वह आंबेडकर की अनुयायी नहीं वरन उन का विकास साबित हुई।

युद्ध और भक्ति के द्वंद्व में 'अतीत-रचना'

दलितों के पास बारहवीं, तेरहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी के दलित संत कवियों की उपलब्धियाँ थीं। लेकिन 'अतीत-रचना' के अनिवार्य तत्त्वों के रूप में दलित बुद्धिजीवियों ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। वे जानते थे और चोखामेला एवं रैदास[16] के उदाहरण उन के सामने थे कि जातिवादी विचारधारा में आध्यात्मिक मुक्ति अर्थात् मोक्ष का आश्वासन उन्हें पहले से ही मिला हुआ है। किंवदंती के अनुसार दोनों संत कवियों को मोक्ष मिला लेकिन वह विठोबा अथवा राम से उन के एकांत और प्रत्यक्ष तादात्म्य का फल नहीं था। दोनों महाभक्तों को बार-बार अपनी भक्ति सिद्ध करनी पड़ी। रैदास को तो अपनी चमड़ी उचेल कर जनेऊ तक दिखाना पड़ा। दरअसल, यह मोक्ष दूसरों द्वारा निर्धारित जगह ही थी। इस आध्यात्मिक समता की उपलब्धि से सामाजिक समता के पहलू ग़ायब थे। चोखामेला पंढरपुर के मंदिर की सीढ़ियों के नीचे बैठे भजन करते रहे। मंदिर की दीवार में ही दब कर उन्हें मोक्ष मिला फिर भी उन की समाधि वहीं सीढ़ियों के नीचे ही बन सकी। रैदास ने जीवन भर चमड़ा घोटा और ब्राह्मणों की साज़िशों एवं ईर्ष्या के लक्ष्य बने रहे। गाँधी के अछूतोद्धार की तर्ज़ पर लिखे गए एन.जी. रंगा के उपन्यास *हरिजन नायडू* में ही यही हुआ था। कम्मा भूपतियों ने अछूतों को मंदिर प्रवेश की इजाज़त तो दे दी थी लेकिन साथ में बीच का रास्ता भी निकाल लिया था। पुजारियों को यह हक़ मिल गया था कि वे अछूतों के चले जाने के बाद मूर्ति को नहला-धुला कर पुनः पवित्र कर लें।[17]

भक्तिकाल का यह हिस्सा अकसर दलितों के लिए गौरव योग्य अतीत के रूप में पेश किया जाता है। इसी निरंतरता में चोखामेला के छूटे हुए काम को पूरा करने के लिए साने गुरूजी ने अनशन किया और अछूतों को मंदिर प्रवेश का अधिकार दिलाया। उधर समाजवादियों ने विश्वनाथ मंदिर में अछूतों के प्रवेश के लिए पुलिस की

लाठियाँ खाईं। यह एक चुके हुए परिप्रेक्ष्य को पुनर्जीवित करने की कोशिश ही थी जबकि दलितों का एजेंडा कभी का बदल चुका था। धर्मान्तरण के कारण उन के मानस में मंदिर प्रवेश की संभावना से हलचल होनी बंद हो गई थी। उन में पुराने नहीं, 'नए अतीत' की चाह थी। उन की ज़रूरत एक ऐसा इच्छानुकूल इतिहास बनाने की थी जिस के ज़रिए वे वर्तमान को दूरबीन की तरह लगा कर भविष्य में झाँक सकें।

एक नए अतीत के निर्माण की परियोजना इस लिहाज़ से सुविधाजनक थी कि उस में तथ्यों की जगह मिथकों से काम चलाया जा सकता था। विशुद्ध और निर्मम इतिहास वहाँ अनावश्यक था क्योंकि वह तो अतीत का संघटन करने के बजाय विखंडन ही कर देता। चूँकि दलितों का अतीत उन पर बाध्यकारी नहीं था इसलिए वे अपनी मर्ज़ी से मिथकों का योजनाबद्ध चुनाव कर सकते थे। आंबेडकर ने देखा कि महारों ने फ़ौज में भर्ती हासिल करके अस्मिताहीनता से छुटकारा पाने की शुरुआत की है। खुद उन के पिता फ़ौज में सूबेदार थे। उन्नीसवीं शताब्दी के आख़िर में आंबेडकर के एक पूर्वज अवकाश प्राप्त हवलदार गोपालनक विट्ठलनक वेलनकर द्वारा लिखित ज्ञापन से उन्हें मालूम हुआ कि सौ साल के इतिहास में महारों के लिए अंग्रेज़ फ़ौज में भर्ती होना सब से ज़्यादा शानदार बात थी।[18] आंबेडकर की कोशिशों से उधर महार रेजिमेंट बनी और इधर दलित चेतना में युद्ध की प्रतीकात्मक और व्यावहारिक महत्ता बढ़ने लगी। संत कवियों से तो दलित बुद्धिजीवी कतरा कर निकल ही चुके थे। पुणे के मंदिर का चोखामेला पर नामकरण आंबेडकर को मंजूर न था।[19] इस परिस्थिति में पराक्रमी अमृतक की दंतकथा महारों के काम आई। खूबसूरत रानी को शत्रु के पंजे से छुड़ाने की मुहिम पर जाने से पहले अमृतक ने अपना यौनांग काट कर लकड़ी के बक्से में रख कर वफ़ादारी की अमानत बतौर राजा को भेंट कर दिया था। एक अरसे बाद जब अपनी तलवार और चमत्कारी घोड़े के दम पर वह रानी को छुड़ा कर लाया तो राजा ने रानी की पवित्रता पर शक किया। इस पर अमृतक हँसा और उस ने राजा को लकड़ी का बक्सा खोल कर रानी की पवित्रता और अपनी वफ़ादारी का सबूत देखने को कहा। पराक्रम और आत्मत्याग की इस कहानी ने महारों के रोंगटे खड़े कर दिए।[20] शुरुआती दलित कहानीकार अण्णा भाऊ साठे ने 'फकीरा' और 'सवाला माँग' जैसे योद्धा और रॉबिनहुड सरीखे चरित्रों की रचना की और इस प्रक्रिया में साहित्यिक योगदान किया। बाद के दलित साहित्यकारों ने तो युद्ध को अपना प्रतीक ही बना लिया। 'जब मैं ने अपनी जाति छिपाई थी' के यशस्वी कथाकार बाबूराव बागुल ने लिखा है—'इस देश में पैदा होने की ग़लती की है तो अब उसे सुधारो, या तो इसे त्याग दो, या युद्ध करो।' दलित साहित्यकारों के सामने हमेशा से ही युद्ध को न चुनने की स्वतंत्रता थी। वे विकल्प के रूप में पलायन अपना सकते थे पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। धीरे-धीरे दलित समीक्षकों ने विश्व साहित्य से कला की वे परिभाषाएँ चुन लीं जो कला को युद्ध और हथियार की तरह देखती थीं। उन्होंने कामू के इस कथन को उद्धृत किया—'सिर्फ़ युद्ध के बीच ही कलाकार को मिल सकती है शांति, और कहीं नहीं।' चूँकि वे युद्ध का इस्तेमाल एक मिथक के रूप में कर रहे थे, इसलिए उसे शाश्वत बना देना भी उन के लिए ज़रूरी था। यहाँ पर सार्त्र उन के काम आए—'लेखन केवल लिखना ही नहीं, एक कार्रवाई है; और बुराई के ख़िलाफ़ मनुष्य के सतत संघर्ष में लेखन को सायास एक हथियार की तरह इस्तेमाल करना चाहिए। लेखक को यह बात समझनी चाहिए।[21]

मराठी दलित साहित्य के अलावा भी अन्य भाषाओं की दलित साहित्य-धाराओं में युद्ध को स्थापित करने के उदाहरण देखे जा सकते हैं। हिन्दी की क्षीण-सी दलित काव्यधारा में महाभारत काल के दो दलित योद्धा प्रतीकों, एकलव्य और घटोत्कच का तो आह्वान है ही, साथ ही वहाँ एक नया चौंका देने वाला दलित शौर्य का प्रतीक भी है—रानी लक्ष्मीबाई की सहेली झलकारी बाई।[22] महिला होने के कारण यह प्रतीक एक विशिष्ट रूप प्राप्त

कर लेता है। झलकारी पर लिखी अर्चना वर्मा की कविता की कुछ पंक्तियाँ खुद-ब-खुद झलकारी की कहानी कह देती हैं और नए तथ्यों का सृजन भी करती हैं—

थी शक्ल भी उसकी रानी की, भेष बनाया रानी सा।
ले तलवार, घोड़े पर सवार, रानी को बाहर पहुँचाया।
मुंड कटे और लाश बिछीं, गोरों को ललकारी थी।
अंग्रेज़ों से लोहा लेने रण में कूदी झलकारी थी।
अचूक निशानेबाज़ थी वह, त्याग, शौर्य साहस का रूप।
पति शहीद हुए बेफ़िक्र रही, रण में फिर भी वह लड़ी खूब।
मनुवादी बरतें भेदभाव, कोरिन अछूत वह नारी थी।
. . . . रण में कूदी झलकारी थी।

ज़ाहिर है कि इस कविता को सुभद्रा कुमारी चौहान की 'खूब लड़ी मर्दानी' की तर्ज़ पर लिखने की कोशिश की गई, लेकिन रचना तुकबंदी से आगे नहीं बढ़ पाई। इस कलात्मक अकुशलता को नज़रंदाज़ करते ही हमें एकदम नई चीज़ के दर्शन होते हैं। दलित वर्गों के स्वाधीनता संग्राम में योगदान का तथ्य झलकारी के रूप में गढ़ कर पेश कर दिया गया है। आम धारणा और तथ्य इस के विपरीत हैं। महारों का युद्ध से संबंध ईस्ट इंडिया कंपनी की फ़ौज में शामिल होने का फलितार्थ था। आंबेडकर ने अंग्रेज़ों की तरफ़ से लड़ने वाले महार वीरों को सम्मानित किया था।[23] 'सबॉल्टर्न' इतिहासकार भी निचले वर्ग की जिस स्वतः स्फूर्त राजनीतिक चेतना का उत्सव रचते हैं—वह सब से निचला वर्ग दलित अर्थात पंचम वर्ण नहीं है। वह वर्णाश्रम के दायरे से अलग आदिवासी तबका है, जिस में स्वायत्तता के पहलू काफ़ी मात्रा में बचे हुए हैं या फिर वे शूद्र लेकिन किसान जातियाँ हैं जो पंचायतों के आदेश पर विद्रोही सिपाहियों से मिल जाती हैं। या फिर वे कुलीन सामंत हैं जो 'सबॉल्टर्न' परिभाषा के अनुसार 'अधीनस्थता' के दायरे में आते हैं।[24]

दलित साहित्यकार यह चिन्ता नहीं करते कि इतिहास क्या कहता है—उन्हें तो नए रूपक बनाने हैं। दंतकथाओं से लिए गए हों अथवा निकट अतीत से। कन्नड दलित साहित्य में भी मडेश्वर की दंतकथा है। वह हमारे सामने 'लार्ड मडेश्वरा ऑफ़ सेविन हिल्स' के रूप में आता है। राजा की पालकी उठाने वाला और उस के लिए चप्पलें बनाने वाला दलितों का चमत्कारी ईश्वर मडेवा विराट पुरुष की तरह आकार में बढ़ता चला जाता है। एक विशाल वृक्ष को उखाड़ कर छड़ी की तरह इस्तेमाल करता हुआ मडेवा उसी राजा को गरदन पर पैर रख कर कुचल देता है।[25]

युद्ध नहीं रचना भी

युद्ध में विश्वास आरोपित कर लेने के कारण दलित चिन्तकों के लिए अग्रगमन के कुछ रास्ते खुले लेकिन कुछ बाधाएँ भी खड़ी हो गईं। आंबेडकर ने कहा था कि बलि सिर्फ़ बकरियों की दी जाती है शेरों की नहीं। इसलिए युद्ध के जरिए उन्होंने 'दलित' शब्द में से दलित भावना को निकाला और उसे 'पैंथर' से जोड़ दिया। दलित पैंथर के संस्थापक नामदेव ढसाल और राजा ढाले जैसे दलित कवि ही थे। पैंथरों ने उसी कीर्तिस्तंभ के नीचे खड़े हो कर शपथ लेनी शुरू की जिस पर महार योद्धाओं के नाम अंकित हैं। इस तरह युद्ध को परंपरा और संगठन का

रूप दिया गया। मुश्किल यह थी कि इस में से रचना के तत्त्व कैसे निकाले जाएँ। अपने तात्कालिक रूप में युद्ध रचना की एंटीथीसिस (या विलोम) था और युद्ध के स्वचालित ढंग से रचनां में परिवर्तित होने के लिए जितने समय की दरकार थी, उतना इंतज़ार करना दलितों के लिए नामुमकिन था। वे पहले ही शताब्दियों तक प्रतीक्षा कर चुके थे। इस उलझन को सुलझाने में भी आंबेडकर ने उन की मदद की।

आंबेडकर एक समाजशास्त्री और राजनीतिज्ञ, समाज सुधारक, अर्थशास्त्री और क़ानूनविद थे लेकिन वे साहित्यकार नहीं थे। कहने भर के लिए माना जा सकता है कि आंबेडकर की आत्मकथा 'मी कसा झालो' (मैं ऐसे बना) से प्रेरणा ले कर दलित साहित्यकारों ने आत्मकथा की विधा विकसित की।[26] आंबेडकर में ही दलित साहित्य के स्रोत दिखाने के लिए यह उदाहरण दिया जाता है लेकिन साहित्य के क्षेत्र में आंबेडकर का असली महत्त्व कुछ और ही था। यह था एक पथ प्रदर्शक और मनोवैज्ञानिक मुक्ति के द्वार पर दलितों को खड़ा कर देने का महत्त्व।

दलित आंदोलन पर विस्तृत काम करने वाले इलिअनॅर जिलिॲट ने अपने लेख 'गौरव का लोकगीत : समकालीन दलित विश्वास के तीन घटक' की शुरुआत बाबा साहेब द्वारा मराठी में लिखी गई तीन पंक्तियों के अंग्रेज़ी अनुवाद से की है—

हिन्दुओं को चाहिए थे वेद, इसलिए उन्होंने व्यास को
बुलाया जो सवर्ण नहीं थे।
हिन्दुओं को चाहिए था एक महाकाव्य, इसलिए उन्होंने
वाल्मीकि को बुलाया जो खुद अछूत थे।
हिन्दुओं को चाहिए था एक संविधान, और उन्होंने
मुझे बुला भेजा।[27]

ये पंक्तियाँ अंग्रेज़ी से हिन्दी में अनुवादित हैं, फिर भी काफ़ी शक्तिशाली भावनाओं से ओतप्रोत लगती हैं। मूल मराठी में उन का प्रभाव निश्चित रूप से चमत्कारी होगा। ये पंक्तियाँ दलितों को संदेश देती हैं कि तुम कला और संस्कृति की रचना में किसी से पीछे नहीं हो। ये पंक्तियाँ और भी आगे जा कर दलितों को विश्वास दिलाती हैं कि वे कला और संस्कृति के मूल रचयिता हैं। इस के बाद दलित रचनाशीलता के अतीत निर्माण में दलितों द्वारा लोक कला के विभिन्न रूपों में परंपरागत भागीदारी के तथ्यों ने भी मदद की।

दया पवार को एक मराठी कहावत प्रिय है, जिसे मोटे तौर पर हिन्दी में इस तरह कह सकते हैं—ब्राह्मण के घर लिखना, कुनबी के घर अनाज और महार के घर गाना। जिलिॲट बताते हैं कि गजट में माँग जाति का वर्णन 'विलेज म्यूज़ीशियन' के रूप में किया गया है। 'तमाशा' में महारों की भागीदारी एक लोकमान्य तथ्य है। बीसवीं सदी में 'तमाशा' का जीर्णोद्धार करने वाले ब्राह्मण बापू राव की संगिनी पवाला एक कलावंत और रूपसी महार नारी ही थी। हाल तक दादू इंदुरिकर (इंदु महार) तमाशा कला के बड़े महारथी थे। उत्तर भारत में नटनियों के साथ जुड़ी हुई किंवदंतियों और नौटंकी के रूपों का आज भी अस्तित्व है।[28]

दलित कला के अतीत के लिए लोकरूपों का इस्तेमाल पूरी तरह समस्याविहीन नहीं था। तमाशा और नौटंकी में भाग लेने वाली अछूत महिलाओं को चरित्रहीन समझा जाता था। रंग-रुतबे वाले लोग इन का रखैलों की तरह इस्तेमाल करने से नहीं चूकते थे। इसलिए आंबेडकर ने दलित कला के संदर्भ में इस क़िस्म के तथ्यों को चतुराई पूर्वक सीमित रखा। यह भी एक कारण है कि दलित साहित्य में नाटक का आविर्भाव कुछ देर से हुआ।

आधुनिकता से भी परे

युद्ध और रचना के अतीत-निर्माण की परियोजना कहाँ तक पहुँची, यह विवाद का विषय हो सकता है—लेकिन उस का रास्ता असंदिग्ध रूप से साफ़ है। यह अभियान पूरी तरह भविष्याधीन था जिस से दलित चेतना में आधुनिकता के प्रति पर्याप्त ललक पैदा हो गई। दलित बुद्धिजीवियों का एक हिस्सा दलित चेतना की इस प्रवृत्ति से चिन्तित है।[29] उसे दलित लोग पूँजीवाद के समर्थक होते हुए दिखाई दे रहे हैं। गेल ओम्बिड्ट तथा अन्य दलित अध्येताओं के एक-दूसरे तबक़े ने पूँजीवाद के नए रूपों को अपनाने के लिए दलितों का आह्वान करना शुरू कर दिया है। इस से यह शक और मज़बूत होता है। इस अपील से चिन्तित बुद्धिजीवियों ने इस के जवाब के लिए आंबेडकर के कृतित्त्व में पूँजीवादी मुनाफ़ाखोरी की आलोचना और पब्लिक सेक्टर के कठोर समर्थन को खोज निकाला है।[30] इस तरह एक तरफ़ आंबेडकर को पूँजीवादी आधुनिकता के समर्थक के रूप में चित्रित किया जा रहा है और दूसरी तरफ़ 'आधुनिकता के सशर्त समर्थक' के रूप में उन की छवि बनाई जा रही है। उन्हें आधुनिकता से दूर दिखाने के लिए जीवन के अंतिम समय में धर्म का आसरा ढूँढ़ने और इस तरह गाँधी से सीखने जैसे निष्कर्ष निकाले जा रहे हैं। दलित चेतना में धर्म के महत्त्व की व्याख्या में हम देख चुके हैं कि बौद्ध धर्म वहाँ केवल नियतिवाद की प्रतिरणनीति की तरह है; वह केवल नकार की अभिव्यक्ति है, न कि धार्मिक चेतना की स्वीकारोक्ति। दरअसल, दलित साहित्य आधुनिकता के प्रति अपनी ललक इन सरलीकृत सूत्रीकरणों से अलग अधिक संकुल और रचनात्मक ढंग से दिखाता है।

यह एक दिलचस्प तथ्य है कि पूँजीवादी क्रांति के ऐतिहासिक रूप से सीमाबद्ध चरित्र को समझने में अफ़्रीका के काले बुद्धिजीवियों को जितना समय लगा, ठीक उतने ही समय में एकदम अलग परिस्थितियों के बावजूद दलित बुद्धिजीवियों ने इस की अनुभूति कर ली। उन के पास समाजशास्त्रीय अभिव्यक्ति तो विकसित नहीं हो पाई लेकिन व्यावहारिक ज्ञान की मदद से उन्होंने वर्णाश्रम और पूँजीवाद के तालमेल को देख लिया। इसलिए जिस आधुनिकता की उस ने कामना की, उस में पूँजीवाद का स्थान नहीं था। समकालीन विश्व में इस तरह के यूटोपिया की संरचना दुर्लभ है।[31]

प्र.ई. सोनकांबले अपनी आत्मकथा *यादों के पंछी*[32] में बचपन की हाहाकारी स्मृतियों में पहुँच कर उस राजाराम ब्राह्मण से मिलते हैं जिस की पतोहू की विदा का शगुन अछूत बालक का मुख देख लेने के कारण बिगड़ गया था। बरसों बाद हुई इस मुलाक़ात में ग़रीबी और वृद्धावस्था के कारण ऊँच-नीच का भौतिक आधार टूट चुका है। वह ब्राह्मण उस अछूत से दान माँगता है जो बाबा साहेब के मिलिंद कॉलेज में पढ़ कर लेक्चरर हो चुका है लेकिन वर्णक्रम के हिसाब से जिसे दान देने का अधिकार नहीं है। ज़ाहिर है कि ब्राह्मण दान नहीं भीख माँग रहा है। नायक को दया आती है और वह जेब में अधिक पैसे होने के बावजूद केवल एक रुपया निकाल कर देता है। जब ब्राह्मण भगवान के नाम पर ज़्यादा पैसे माँगता है तो नायक का जवाब होता है, 'भगवान को क्या करने हैं ज़्यादा रुपए।' यह पात्र और घटना आधुनिकता की उपलब्धि की शुरूआत है। ईश्वर और धन का द्विभाजन इहलोकवाद का प्रतीक है। सोनकांबले आधुनिक चेतना के लौकिक स्वरूप को बुनियाद के रूप में दिखाते हैं। ध्यान रखना चाहिए कि इसी बिन्दु के बाद पूँजीवाद चर्च से पुनः नाता जोड़ लेता है। लेकिन आधुनिकता की तरफ़ बढ़ रही दलित यात्रा इस कुटेव के प्रति सतर्क हो जाती है। एक कहानी में शहर से पढ़ कर आए इंजीनियर को पता चलता है कि पूँजीवादी आधुनिकता दलितों को उन की मंज़िल पर नहीं पहुँचा पाई है। वे अभी भी अपना गाँव ढूँढ़ रहे हैं। न ही वे शहर की तलाश में कामयाब हैं। एक अन्य कहानी में शहर में मकान और नागरिकता की तलाश कर रहे

आदर्शवादी युवक को जाति छिपाने के लिए नागरिकता छद्मावरण की तरह ओढ़नी पड़ती है।

शंकर राव खरात की कहानी 'मैं मेरा गाँव ढूँढ़ रहा था' दलितों की दुनिया में आधुनिकता की संरचना के अछूते तत्त्वों का उद्घाटन करती है। नायक शहर से इंजीनियरिंग पास करके आया है। आधुनिक जीवन की इस महत्त्वपूर्ण उपलब्धि से अपने पिता को गौरवान्वित होते देखने की कल्पना से वह रोमांचित है। सवर्णों के व्यंगबाण और अपमान भी उस के उत्साह को मंद नहीं कर पाते लेकिन दलित बस्ती उसे ख़ाली मिलती है। छुआछूत और भेदभाव के विरोध में दलित एक नई बस्ती बसाने कहीं और चले गए हैं। कहाँ गए हैं—किसी को नहीं पता। नायक भी नए गाँव की तलाश में निकल पड़ता है।[33]

इस प्रतीक को आरक्षण के ज़रिए ऊँची नौकरियाँ पाए दलितों के मुक़ाबले रख कर देखना चाहिए। तेल आयोग के एक शीर्ष अफ़सर ने, जो दलित कतारों से उठ कर आया है, हाल ही में दिए इंटरव्यू में कहा कि अगर मनु आप को पसंद नहीं है तो उस की बात मत कीजिए।[34] यह अफ़सर नए शहर की खोज में नहीं है। पूँजीवादी व्यवस्था ने उसे पूरी तरह हड़प लिया है। यह अफ़सर डी.आर. नागराज जैसे बुद्धिजीवियों की चिन्ता को सही ठहराता है। लेकिन वह दलित चेतना का प्रतिनिधि भी नहीं है। वह तो 'दलित ब्राह्मण' है। खरात की कहानी का इंजीनियर नायक ऐसा नहीं है। वह आर्थिक और प्रशासनिक उपलब्धि की होड़ में तो है लेकिन आनंदातिरेक भंग होने के बाद उसे पता चलता है कि अफ़सरी उस की मंज़िल नहीं थी।

पूँजीवादी विकास ने दलितों को वह देश मुहैया नहीं कराया जिस की आंबेडकर को अपेक्षा थी। बाबू राव बागुल की अमर कहानी 'जब मैंने अपनी जाति छिपाई थी' इसी असलियत का एक श्रेष्ठ कलात्मक बयान है। नायक को रेलवे की नौकरी मिल चुकी है। उसे किराए पर मकान पाने के लिए जाति छिपानी पड़ती है। वह खुद को किसी अन्य जाति का नहीं बताता। हर बार उस से जब जाति पूछी जाती है तो वह आवेश में गरज पड़ता है और खुद को देश की उन्नति के लिए समर्पित कर्मठ नागरिक के रूप में पेश कर देता है। सावधानी से चुने गए इस आवरण का बहुमुखी असर होता है—जाति भी छिप जाती है, जाति पूछने वाला जातिवादी होने के इलज़ाम में कुछ सिटपिटा भी जाता है और नायक के मन का आदर्शवाद भी तरंगित हो उठता है। इस कहानी का दलित नायक शुद्ध नागरिक बनना चाहता है। वह चाहता तो खुद को उच्चवर्णीय भी घोषित कर सकता था। नागरिक समाज उपलब्ध न करा पाने में पूँजीवादी विकास की असफलता इसी जगह उभर आती है। नागरिकता का दावा भी दूसरों के मन में नायक की सवर्ण छवि ही बना पाता है। अंत में छिपी हुई असलियत खुल जाती है और जूतों-लातों की निर्मम पिटाई के साथ प्रकरण ख़त्म होता है। बागुल का नायक 'नागरिक समाज' की खोज में फ़िलहाल नाकाम हो चुका है। उस में आधुनिकता के प्रति ललक है लेकिन आधुनिकतावाद की चुकी हुई संभावनाओं के प्रति वह निराश है। वह युद्ध का उद्घोष करता है लेकिन उस में रचना की छटपटाहट भी है। वह प्रचंड नकार का प्रतिनिधि है लेकिन 'नागरिक समाज' के यूटोपिया में निजी पहचान और स्वीकार की खोज कर रहा है। नए शहर की तलाश में बागुल का नायक जिस जगह खड़ा है, वही दलित चेतना का मौजूदा मुक़ाम है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. देखें, डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे (सं.) : *दलित कहानियों का संकलन*; जयपुर : पंचशील प्रकाशन, 1981

2. दलितों और पिछड़ी जातियों के बीच चल रहे ब्राह्मणीकरण के पहलू अब छिपे हुए नहीं रह गए हैं। इस विषय में सक्षम समाज-शास्त्रीय अध्ययनों की भरमार है (उदाहरण के लिए देखें—सी.आर. प्रसाद राव और के. राधाकृष्ण मूर्ति : दलित कांशसनेस एंड ब्राह्मणिज़्म : ए मल्टीप्लेक्स क्वेश्चन, द ईस्टर्न एंथोपॉलिजिस्ट 46:1 (1993)। गोपाल गुरु ने आरक्षण के असर पर जो काम किया है, उस के नतीज़े भी इसी ओर इंगित करते हैं (रिज़र्वेशंस एंड द संस्कृताइजेशन ऑफ़ शेड्यूल्ड कास्ट्स—सम थियरॉटीकल आस्पेक्ट्स : सोशियालाजीकल बुलेटिन 33 (वन एंड टू)। ब्राह्मणवाद से संघर्ष करते-करते नवब्राह्मणवाद के चंगुल में फँस जाने की परिघटना जब आम हो चुकी है। दलितों और पिछड़ी जातियों के अंतर-विरोध की जड़ में भी यही प्रक्रिया है।
3. दलित साहित्य के कलापक्ष से संबंधित इन समस्याओं को ले कर खुद दलित समीक्षकों, उन के हमदर्दों के बीच ही बहस चल रही है। देखें, अर्जुन डांगले द्वारा संपादित संकलन *पॉयज़ंड ब्रेड*; दिल्ली : (ओरिएंट लांगमैन, 1982) में आर.जी. जाधव और शरच्चंद्र माधव मुक्तिबोध के लेख।
4. गेल ओम्बिड्ट ने दलित आंदोलन पर प्रकाशित अपनी ताज़ा पुस्तक (दलित एंड डेमोक्रेटिक रिवोल्यूशन ऑफ़ इंडिया : सेज, दिल्ली, 1994) में इस कथन का उल्लेख किया है। दलित समीक्षकों को भी प्रगतिशील साहित्यकारों से यही शिकायत रही है। उत्पादन संबंधों के बदलने से जाति और वर्ण की समस्याओं का निपटारा हो जाएगा—यह परंपरागत मार्क्सवादी धारणा भारतीय संदर्भ में पूरी तरह नाक़ाम हो चुकी है, लेकिन मार्क्सवादी चिन्तक इस में आज भी संशोधन करने को तैयार नहीं हैं। उदाहरण के लिए देखें, विनोद मिश्र : 'एंटीथीसिस ऑफ़ कास्ट एंड क्लास : एन ऑर्थोडॉक्स हाइपोथेसिस', *लिबरेशन* (विशेषांक), दिल्ली, 1994
5. शरण कुमार लिम्बाळे : *अक्करमाशी*; ग्रंथ अकादमी, दिल्ली, 1989
6. लिम्बाळे : '*अक्करमाशी* की आत्मकथा'; *हंस*, मार्च 1994, दिल्ली।
7. बर्नार्ड एस कान : *एन एंथ्रोपोलोजिस्ट अमंग हिस्टोरियंस एंड अदर एसेज़*, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
8. एन.जी. रंगा : *हरिजन नायडू* (हरिजन नेता); आंध्र प्रदेश हिन्दी अकादेमी, 1989
9. इलिनॲर जिलिॲट : *फ़्रॉम अन-टचेबिल टु दलित*; दिल्ली : मनोहर, 1992
10-11. डांगले, पूर्वोक्त।
12. रणसुभे, पूर्वोक्त।
13. 'अधीनस्थ वर्ग' की चेतना में घटित होने वाली इस प्रक्रिया के विश्लेषण के लिए देखें, अंतोनियो ग्राम्शी : *प्रिजन नोटबुक्स*, इंटरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क, 1978 और पार्थ चटर्जी का लेख, 'कास्ट एंड सबॉल्टर्न कांशसनेस', *सबॉल्टर्न स्टडीज*, खंड पाँच; दिल्ली : ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
14. वसंत मून : *बाबा साहेब आंबेडकर*; नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली।
15. जिलिॲट : पूर्वोक्त।
16. इन दोनों भक्तिकालीन संतों के लिए देखें, जिलिॲट (पूर्वोक्त) और आर.एस. खरे : '*इवेलुएटिंग एन आइडियल एसेटिक*', *सोशल स्ट्रेटिफ़िकेशन*, संपादक दीपंकर गुप्ता, दिल्ली, ऑक्सफ़ोर्ड 1994
17. वीर भारत तलवार : 'अछूतोद्धार आंदोलन और सवर्ण हिन्दू : समन्वय के विचार की जाँच', *पहल* 48
18. जिलिॲट एवं मुल्कराज आनंद : *एन एंथॉलॉजी ऑफ़ दलित लिट्रेचर*, दिल्ली, ज्ञान, 1992
19-20. जिलिॲट, पूर्वोक्त।
21. इन सभी उद्धरणों का स्रोत, डांगले, पूर्वोक्त
22. माता प्रसाद : *हिन्दी साहित्य में दलित काव्य धारा*; विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1993
23. गेल ओम्बिड्ट, *समकालीन जनमत*, दिल्ली 1994
24. रंजीत गुहा : *एलीमेंटरी आस्पेक्ट्स ऑफ़ पीजेंट इंसर्जेंसी इन कॉलोनियल इंडिया*, दिल्ली : ऑक्सफ़र्ड, 1986

25. डी.आर. नागराज : *फ़्लेमिंग फ़ीट*; बेंगलूर : साउथ फ़ोरम प्रेस, 1993
26. डॉ. रणसुभे ने *दलित कहानियाँ* की भूमिका में यही तर्क दिया है।
27-28. जिलिअॅट : पूर्वोक्त।
29. इन बुद्धिजीवियों में डी.आर. नागराज प्रमुख हैं। उन्होंने अपनी चिन्ताएँ *फ़्लेमिंग फ़ीट* में व्यक्त की हैं।
30. गेल ओम्बिड्ट द्वारा नई अर्थनीति को ब्राह्मणवाद-विरोधी बताने वाले *समकालीन जनमत* में प्रकाशित पूर्वोद्धृत लेख के उत्तर में लिखे गए मेरे लेख 'गेल ओम्बिड्ट का ब्राह्मणवाद' में मैं ने आंबेडकर की यही तस्वीर पेश करने की कोशिश की है।
31. फेमी ओजो-एडे : *ऑन ब्लैक कल्चर*, नाइजीरिया, ओबाफ़ेमी एवोलावी यूनिवर्सिटी प्रेस लिमिटेड, 1989
32-33. रणसुभे, पूर्वोक्त।
34. *इंडिया टुडे*, 'ब्रेकिंग द बैरियर', 30 अप्रैल, 1994

जयंत परमार

गुजराती दलित कविता

दलित साहित्य का आंदोलन 1960 के बाद मराठी में ही शुरू हुआ। इस के साथ-साथ कन्नड, तमिष् और गुजराती में भी दलित साहित्य लिखा जा रहा है। इस की बुनियाद डॉ. बाबा साहब आंबेडकर के आंदोलन ने डाली है। डॉ. आंबेडकर का जन्म एक महार घराने में हुआ था और अपने बचपन में छूतछात की अपमानित ज़िन्दगी बरदाश्त करते रहे थे। अंग्रेज़ी शिक्षा और क़ानून की डिग्री प्राप्त करने के बाद इस लानत के ख़िलाफ़ जिहाद करने पर कटिबद्ध हो गए। पीढ़ियों से जो वर्ग दलित और शोषित रहा, उस के पुनरुत्थान के लिए सनातनियों की सामंती समाज संरचना के विरुद्ध विद्रोह किया। डॉ. आंबेडकर के आंदोलन ने दलितों में जागृति की एक ज़बरदस्त लहर पैदा की और उन्हें नई चेतना दी। 1965 के बाद बुद्ध की करुणा, मार्क्स की क्रांति-दृष्टि तथा नीग्रो साहित्य ने भी समय-समय पर इस वैचारिकता को प्रभावित किया है।

एक अर्से तक नई पीढ़ी अजीब से असमंजस में रही। पढ़े-लिखे दलितों की सरकारी पदों पर नियुक्तियाँ होने लगी थीं। अपने अतीत की अपमानित ज़िन्दगी को भूल कर वह ऊँची जाति के लोगों में घुलमिल जाना चाहते थे। लेकिन बड़े शहरों में भी जाति-पाँति की दीवारों को तोड़ना इतना आसान नहीं था। एक ही तरह के पदों पर काम करने के बावजूद ऊँची जाति के अधिकारी उन से बराबरी का बरताव करना पसंद नहीं करते थे। परिणाम यह हुआ कि अछूत लघुता या हीनता की ग्रंथि के शिकार होते रहे। इसी जात-पाँत की चक्की में पिसी हुई नई नस्ल में एक नई पहचान का अहसास हुआ।

14 अप्रैल 1978 को दलित पैंथर ने *आक्रोश* पत्रिका शुरू की। *काला सूरज, मुक्तिनायक, नया मार्ग, मंथन, पैंथर* जैसी पत्रिकाओं के द्वारा आठ-दस सालों से नई पीढ़ी द्वारा तोड़-फोड़ का साहित्यिक आंदोलन चलाया गया। इन पत्रिकाओं का दलित साहित्य के आंदोलन में विशेष महत्त्व है। दलतप चौहाण, नीरव पटेल, बालकृष्ण आनंद, चंदु महेरिया, साहित्य परमार, राजु सोलंकी, भी.न. वणकर, प्रवीण गढवी जैसे कई नौजवान कवि इन लघु पत्रिकाओं के ज़रिए साहित्यिक क्षितिज पर आए (जो इसी समाज में संघर्ष करते विकसित हुए हैं)। इस नई पीढ़ी ने साहित्यिक संस्कृति के मठों और गढ़ों के साथ वाद-विवाद किया।

दलित अपने आप से ही पूछता है कि वह असल में कौन है? और इसी में दलित साहित्य का जन्म हो रहा है। दलित साहित्य प्रयोगशील नहीं है। लोग जैसे जी रहे हैं, वैसे ही शब्दों में वह व्यक्त होता है। 'हम दलित हैं और

हमारे दुःख अलग हैं।' अनुभूति की इस विशिष्टता की अभिव्यक्ति अब तब गुजराती साहित्य में नहीं हुई है। जिस समाज ने दलितों को मानवीय अस्तित्व से भी वंचित रखा, उस समाज के साहित्य में उन की वेदनाओं को वाणी कहाँ से मिल पाती? दलित साहित्यकारों ने अनुभव किया कि उन के अनुभव भी साहित्य में अब तक बहिष्कृत होते रहे हैं, फिर भी हमारे यहाँ तीसरे दशक के बाद *सांथालनी नारी* (मेघाणी), *मड़ेला जीव, मानवीनी भवाई* (पन्नालाल पटेल), *भंगड़ी* (सुंदरम), *गुजरीनी गोदडी* (उमाशंकर जोशी), *जन्मोत्सव* (सुरेश जोशी), *हिन्दुओनुं खास सायन्स* (स्वैर विहारी), *खेमी* (द्विरैफ), *माझा वेलानु मृत्यु* (सुंदरम), *फुटपाथ, चमार गली, मजूर चाल* (जयंत खत्री) आदि रचनाओं में दलित समाज की अनुभूतियों को कविता, कहानी, निबंध इत्यादि में अभिव्यक्त करने की कोशिश की गई है। लेकिन उस साहित्य में दया की ही भावना दिखाई देती है। दलित समाज की संपूर्ण वेदना को वे भोग नहीं सकते थे। यह साहित्य दलित साहित्यकारों को एकांगी, कृत्रिम तथा जीवनानुभवों से रिक्त लगा।

दलित शब्द का अर्थ ही है पीड़ित, शोषित, वंचित, उपेक्षित मनुष्य। लेकिन गुजराती दलित साहित्यकारों का एक समुदाय 'दलित' शब्द का अर्थ सीमित करता है और वह मानता है कि चातुर्वर्ण्य के कारण जो जातियाँ अब तक अस्पृश्य कहलाईं, वे लोग जो लिख रहे हैं, वही दलित साहित्य है। दूसरा समुदाय इस से एक क़दम आगे जा कर 'मनुष्य' मात्र को केन्द्र में रख कर सोचता है। इस मनुष्य को वह क्रांति मार्ग पर ले जाना चाहता है। इन में कई प्रश्नों पर खींचतान भी पाई जाती है।

दलित साहित्य साम्यवाद का प्रचारक नहीं है। मनुष्य मात्र के अत्याचार, अन्याय तथा विषम व्यवहार के प्रति आक्रोश व्यक्त करना ही उस का उद्देश्य है। वर्ण भेद निर्माण करने वाली संस्कृति के प्रति उन के मन में ज़बर्दस्त चिढ़ है। इस आंदोलन के समर्थकों ने बार-बार यह दोहराया है कि उन के लेखन की प्रेरणा जाति-द्वेष नहीं है। इस की भाषा स्वभावतः ही नकार की भाषा बन जाती है। परंपरागत समीक्षा-पद्धतियाँ दलित साहित्य के मूल्यांकन के लिए अनुपयुक्त हैं। इस साहित्य की भाषा को ले कर भी काफ़ी तूफ़ान मचा था। यह भाषा उन की अनुभूतियों के साथ, सुख-दुखों के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। शोक संवेदना की यह कविता शीघ्र ही दर्द को दबा कर विद्रोह, प्रतिशोध और संघर्ष की भाषा बोलने लगती है।

गुजराती दलित कविता में दलपत चौहाण का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। वह *काला सूरज* के संपादक रहे हैं। छंदमुक्त कविता के साथ गीत-ग़ज़ल में भी उन्होंने काम किया है। पहला कविता-संग्रह *तो पछी* 1983 में प्रकाशित हुआ था। 'मुठ्ठी-मुक्की', 'बेयोनेट', 'चाडियो', 'अस्पृश्य', 'भूक' वग़ैरह रचनाओं में दलित प्रश्न और दलित संवेदना को अच्छी अभिव्यक्ति मिली है। दलित चेतना को उन्होंने बख़ूबी सहजता से अपनी कविता में आत्मसात किया है। 'मारा कया अंगउपांग ऊपर लखाई छे अस्पृश्यतानी ऋचाओ' (मेरे कौन-से अंग-उपांग पर लिखी हैं अस्पृश्यता की ऋचाएँ) उन की प्रसिद्ध पंक्ति है। भारतीय जीवन में सर्वथा उपेक्षित, अवमानित और अस्पृश्य वर्ग की हज़ारों वर्षों की भोगी हुई तेज़ाबी वास्तविकता को चित्रांकित करते हुए कहते हैं : *प्रिये, तेरी पीठ के ये ज़ख्म मैं सहलाता हूँ/जनम जनम के साथी होने की/सिर्फ़ एक ही निशानी याद है मुझे/तुझे मेरी पीठ के/ये निशान याद हैं!* ('मागशर की रातें वार्तालाप')

नीरव पटेल गुजराती के साथ-साथ अंग्रेज़ी में भी कविता लिखते हैं जिस का संग्रह *बर्निंग फ़्रॉम बोथ दी एंड्स* 1980 में प्रकाशित हो चुका है। *सर्वनाम* पत्रिका के संपादक हैं। 'जेतलपुर हत्याकांड' कविता में अत्याचार के ख़िलाफ़ उन की रगों में दौड़ता गर्म लहू चीख़ उठता है : *'अगर कोई दग़ा किया तो/बिजली की तरह दौड़ने लगा है रक्त मेरी नसों में/मेरा अंग-अंग क्रोधाग्नि से काँपता है/मुझे अपना तांडव शुरू करने दे नटराज/मुझे अपनी तीसरी आँख खोलने दे महादेव/मुझे अपना चक्र छोड़ने दे भगवान/मुझे, बहरे भगवान को/पीड़ा की अनुभूति कराने दे, भगवान।'*

गाँव में आज भी अछूत की बस्ती को 'ढेड़वाडा' कहा जाता है। इस शब्द की जगह 'फूलवाडा' शब्द प्रयोग करके 'बहिष्कृत फूलों' में वे लिखते हैं : *'गाँव होगा वहाँ फूलवाडा होगा यह तो समझे/लेकिन यह फूल? यह फूल नाथद्वारा में तो नहीं ही है/गाँधीजी ने भले ही उन्हें सिर चढ़ा रखा हो/अब नहीं सही जाती यह फूलफ़जीहत/कुचल डालो, मसल डालो।*

दलित साहित्य के उदय के साथ कुछ कवि साहित्यकारों में अलग से नज़र आने लगे। उन में प्रवीण गढवी का नाम भी शामिल है। *बेयोनेट* उन का पहला कविता-संग्रह है। प्रवीण गढवी की कविता अर्वाचीन गुजराती साहित्य या सांप्रत गुजराती साहित्य में अब तक लिखी गई कविताओं में बिलकुल भिन्न, इतिहास के नए बोध से भरी हैं। बिना किसी हिचकिचाहट के वे कटु सामाजिक सत्यों का सामना करती हैं। ईश्वर का नकार, पुराण-मिथक का नवं-संस्कार उन की कविता की पहचान है : *जब-जब नीग्रो की आँख में उतर आता है/नीहारिकाओं का श्वेत सत्य/तब-तब यह बेयोनेट चुपचाप/कोहरे से ढँके एशिया अफ़्रीका के शहरों की ओर तन जाती हैं।* ('बेयोनेट')

परिषद संदेश पत्रिका के संपादक बालकृष्ण आनंद की कविता दुःखार्त मन का आक्रोश प्रकट करती है। अंधकार-युक्त जीवन में क़ैद होने का दुख, व्यथा एक ऐसी 'अस्मिता' को आकार देने के लिए जूझती है जिस में हताशा के लिए कहीं जगह नहीं : (*'यदि कल सुबह मैं मर जाऊँ तो/नई पीढ़ी से कहना कि/'चातुर्वर्ण्य मया सृष्टम' वाली/प्राचीन-अर्वाचीन गीता की होली करना शेष है।'*) बग़ैर पफ़-पावडर की इस दलित कविता को वह यू.एन.ओ. भेजना चाहते हैं : *'हज़ारों साल से गुड़ीमुड़ी पड़े हुए/मेरे शब्दों को जगा कर/शांति को बदलना है क्रांति में/संस्कृति-सभ्यता की अरथी को/बेचने चला हूँ दुनिया की मंडी में/न्याय की देवी जनम से अंधी नहीं/उस की आँखों पर अत्याचारियों ने बाँधी हैं पट्टियाँ।* (कविता)

दलित-कविता क्षेत्र में साहिल परमार का योगदान सराहनीय है। उन का कविता-संग्रह *व्यथा पच्चीसी* 1984 में प्रकाशित हुआ तो उन की नंगी भाषा के प्रयोग से उन की कविता 'ताणवा माटअ नै आववाना' पर अश्लीलता का आरोप लगाया गया। साहिल ने दलित कविता को समृद्ध बनाया है। यह कवि मूलतः सौन्दर्यवादी है, लेकिन उन की सौन्दर्यवादी प्रवृत्ति को आरक्षण आंदोलन ने दलित अनुभूति की तरफ़ मोड़ दिया : *हमारी धड़कनें/हमारे विचार/हमारे संचार/हाथी और घोड़ों के पाँव तले कुचल मरे/फिर/सूरज न डूबा/और चीख उठी मिल की चिमनी।* (कविता)। उन्होंने आर्थिक प्रश्न को भी अपनी कविता का विषय बनाया है : *तू जन्माष्टमी के दिन/सपरिवार कार में घूमने को निकला था तब/मैं अपनी बच्ची के फटे हुए फ़्रॉक में/थिगड़े लगाता था/बच्ची समझदार हुई तब से/पाँच पाँच मेले गए/मैं उसे खेलने के लिए चाबी वाली मोटर भी न दे सका/इतना ही, ज़्यादा कुछ नहीं।* ('अेटलुं ज विशेष कशुं नहीं')

चंदु महेरिया अभिजात आलोचना के मानदंडों की धज्जियाँ उड़ाते हैं : *एक आलोचक मित्रवर तो कहते थे कि/'शैली और भाषा के अनेक काले कलंक हैं तुम्हरी कविता में'/अरे, काले कलंक ही नहीं, हमारा सूरज भी*

काला है/काला सूरज लेके निकले हैं हम/उस की आभा को तुम्हारी अंधी आँखें नहीं पहचान सकेंगी/भले ही समझ में न आए मेरी कविता का मूल्य तुम्हें! 'काव्यनुं मूल्य' के रचयिता चंदू महेरिया फ़िक्र ही नहीं करते कि उन की कविता ऊँची जाति के साहित्यकारों की समझ में आएगी या नहीं। *मुझे कवि नहीं होना/मुझे तो विद्रोही होना है। ('विद्रोही')*

राजू सोलंकी की कविता में क्रांति का सुर साफ़ सुनाई देता है। संघर्ष उन की कविता की आत्मा है। समाज, धर्म, सामाजिक संबंध, जाति प्रथा, शोषण, ग़रीबी आदि उन की कविता के जीवंत प्रतीक हैं। *मशाल* (1987) आने वाली क्रांति की ख़बर देता है। वह मार्क्सवादी विचारधारा के हामी हैं। उन का दूसरा कविता-संग्रह *दस्तावेज़* (अप्रकाशित) यक़ीनन गुजराती दलित कविता में अपनी अलग पहचान के लिए काफ़ी होगा। उन की कविता 'ढेड़वाडे' में दलित समाज का प्रतिबिम्ब साफ़ दिखाई देता है : *तेरे फ़ासीवादी आकाश-तले/धीरे-से हाँफता है आतंकित ढेड़वाडा/सड़ी हुई रोटी की फफूँद कहो/कि मरुभूमि के नंदनवन/निगल जाता है सारी उपमाएँ/एक ही साँस में लट्टे की तरह/फुटपाथ के किनारे धूल में रगड़ खाता ढेड़वाडा।* एक 'हाइकू' में वह कहते हैं : *'हाथ माँ झाड़ु/ने तोय मेलोवाट/आ ढ़ेड़वाडो।' (हाथ में झाडू/फिर भी मैला/ये ढेड़वाडा)*

'माफ़ करजे, दोस्त रघला' में उपनिषदों का आध्यात्मिक अंधकार उन्हें घेर लेता है : *माफ़ करना, दोस्त रघला/तेरी तरह शाकुंतल को सिर पे रख कर/मैं नाच नहीं सकूँगा/मैं तो रहा गाँव पाटन का एक मालो ढेड़/कच्चे कँवारे मेरे कान में धधकता सीसा डाला गया/तब से आँखों को घेरने लगा है/उपनिषदों का आध्यात्मिक अंधकार।*

हरीश मंगलम् की कविता में उत्तर गुजरात की कोनियाकी भाषा का प्रयोग नज़र आता है। दलित कवियों में साहित्य परमार, हरीश मंगलम् और शंकर पेन्टर की कविता में लोक-बोली के सुंदर प्रयोग मिलते हैं। दलितों पर दंगे-फ़साद के संदर्भ में गोविन्द परमार की ये पंक्तियाँ अर्थ के अनेक अर्थ बनाती हैं : *सुबह के अख़बार में शहर के कई घरों की/टूटे हुए कंगनों की किर्चियाँ चिपकी हुई थीं।* ('ख़ामोश बेडीओ')

शंकर पेन्टर के *बुंगियो वागे* (1984) कविता संग्रह में तड़पती ग्राम्य शैली में गीत-छंद-मुक्त रचनाएँ हैं जिन में दुख और आक्रोश तो है, लेकिन प्रतीक एक-रूप, एक-रस नहीं।

गुजराती दलित कविता में श्याम साधु, मनीष परमार, वारिज लुहार, भरत विंझुडा का नाम ग़ज़लों के साथ जुड़ा हुआ है। दान वाघेला, प्रो. नरसिंह परमार, प्रो. यशवंत वाघेला, भी.न. वणकर, नीलेश काथड, बिपीन मेशिया, प्रो. मंगड़ राठोड, किसन सोसा, मधुकांत कल्पित जैसे कवियों से भी अच्छी उम्मीद की जा सकती है।

गुजराती दलित कविता जीवन की नई लय ले कर आई है, प्रामाणिक यथार्थ ले कर आई है, क्रांतिमूलक अभिव्यक्ति ले कर आई है। इस कविता में वेदना, यातना, व्यथा है, विद्रोह है, स्वानुभव है, समस्या है, वास्तववाद है; अछूती संवेदना है और अस्मिता की खोज है। पुराने रूपकों और प्रतीकों की परंपरा को छोड़ा गया है। गिद्ध, नाग, कुत्ता, कौवा, चिमगादड़, गरुड़, ऊँट, साँड़, छुरी, झाड़ू, कुलडी, तीसरी बाँह, काला सूरज, काला लहू जैसे नए प्रतीक दलित कविता ने अपनाए हैं। दलित कवियों ने मिथक के सवाल को भी उठाया है। अब तक हिन्दू धर्म ने राम, सीता, कृष्ण, राधा वग़ैरह को ही अवतार और देवता का रूप दिया था। रावण, शंबूक, एकलव्य, कर्ण, गांधारी, तुंगभद्रा जैसे पात्रों के लिए सहानुभूति इस विद्रोह की विशेषता है।

गुजराती दलित कविता की कुछ सीमाएँ भी स्पष्ट हो चुकी हैं। दलित नारी पर होने वाले अत्याचार को सशक्त अभिव्यक्ति नहीं मिली है। प्रायः आपबीती के सीधे 'स्टेटमेंट' (वक्तव्य) ही नज़र आते हैं। कथ्य का एक ही गतिहीन रूप, बिम्बों की पुनरावृत्ति, विस्तार-हीनता आदि उस की मर्यादाएँ (सीमाएँ) हैं। नाटक, उपन्यास,

कहानियाँ बहुत कम लिखे गए हैं। दलित लेखकों को उस साहित्य-प्रकार की ओर भी ध्यान देना चाहिए। खुद दलितों के जीवन में ऐसे कितने ही दहकते हुए अनुभव हैं जो विषय बन सकते हैं। मैं अपना यह लेख एक नीग्रो कवि की कविता से पूरा करता हूँ :

जब जब
एक काले आदमी का
अपमान किया जाता है
अपमान किया जाता है
उसके
साथ
सारी जाति का. . .

गुजराती से **स्वयं लेखक** द्वारा अनूदित

माता प्रसाद

लोकगीतों/आंचलिक गीतों एवं अन्य गीतों में दलित

हिन्दी साहित्य में लोकगीतों, आंचलिक गीतों और अन्य गीतों का उच्च स्थान है। लोकगीत परंपरा से, प्राचीन काल से ही चले आ रहे हैं। लोकगीतों में रचयिता का नाम नहीं होता। आंचलिक गीत स्थानीय लोकभाषा में गाए जाते हैं। इन में रचयिताओं का नाम होता है।

गीत अनेक प्रकार के छन्दों में लिखे और गाए जाते हैं। आधुनिक कविता में गीत ही नहीं, नवगीत, अगीत और अतुकांत गीत भी लिखे जा रहे हैं।

इस खंड को दो अलग भागों में बाँटा गया है। पहले भाग में आंचलिक गीत हैं और दूसरे भाग में ग़ज़ल तथा अन्य प्रकार के गीत हैं।

आंचलिक गीत का अपना अलग महत्त्व है। इस में दलितों के संबंध में सब से पहले वाराणसी के हीरा डोम की 'अछूत की शिकायत' है, जो भोजपुरी भाषा में लिखा गया है। यह कविता 1914 ई. के 'सरस्वती' के सितंबर अंक में प्रकाशित हुई है। श्री गोकरनलाल 'करुणाकर' ने अवधी भाषा में कई व्यंग्यात्मक गीत *बिखरे मोती* में लिखे हैं। कवि 'घिसुआ' ने अवधी की छोटी कविता में, जिस में मूर्ति के छू जाने पर शुद्ध कराने के लिए एक मुसलिम शिल्पकार से उसे छिलवाया गया है, व्यंग लिखा है। श्री संतराम 'न्यायी' का गीत 'सूदै राज चलावेगा' अच्छा गीत है। भोजपुरी और पूर्वी अवधी में श्री माताप्रसाद ने दलित संबंधी सामाजिक, आंचलिक गीत लिखे हैं। श्री जैसराम 'गौतम' ने 'लोकगीत' लिखा है। श्री धर्म सिंह 'गौतम', श्री धनीराम 'दतिया', श्री मनोहरलाल 'प्रेमी', श्रीमती शोभा 'बौद्ध' ने भी आंचलिक गीतों की रचना की है। 'दलितों के मसीहा बाबासाहब' पर श्री गोकरनलाल 'करुणाकर' और श्री राजवैद्य माताप्रसाद ने 'आल्ह छंद' में *भीम चरित मानस* लिखा है। इस के अतिरिक्त वैद्यजी ने *अछूत वीरांगना* को 'नौटंकी' की तर्ज़ में लिखा है। श्री बुद्धसंघ 'प्रेमी' ने *प्रेमी की दृष्टि* में कई गीत लिखे हैं। श्री भरत 'बेचैन' ने बुंदेलखंडी में आंचलिक गीत लिखा है। श्री 'पथिक' जी ने भी आंचलिक गीतों में रचनाएँ की हैं। दूसरे भाग में 'गीत' हैं। शिक्षित व्यक्ति विभिन्न प्रकार के गीत, ग़ज़ल, भजन तथा गेय छंदों की रचना करते हैं। दलितों की स्थिति पर स्वामी अछूतानंद 'हरिहर' ने *आदिवंश का इंका*, कुँवर सुखलाल 'मुसाफ़िर' ने *मुसाफ़िर की तड़प* लिखी है। बहुजन कल्याण प्रकाशन, लखनऊ द्वारा *बहुजन-हुंकार, शोषित-पुकार, हरिजन-गोहार, छूत-छत्तीसी* पुस्तकें भी प्रकाशित की गई हैं। दलित साहित्यकार श्री चंद्रिकाप्रसाद 'जिज्ञासु' ने

'प्रकाश लखनवी' के नाम से तथा श्री बदलूराम 'रसिक' विद्यावाचस्पति ने अपने गीतों में शोषकों को ललकारा है। लखनऊ के प्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्ता डॉ. गयाप्रसाद 'प्रशांत' ने आंचलिक गीतों में *अछूत क्यों, भीम-गीतावली, क्यों भले इंसान?, अछूत कौन और क्यों?* आदि कई पुस्तकें लिखी हैं। श्री बुद्धसंघ 'प्रेमी' ने *सामाजिक क्रांति* और *प्रेमी की दृष्टि* तथा *बैरिस्टर अंबेडकर* नामक पुस्तकों में गीतों की रचना की है। श्री रामप्रसाद 'सरस' ने *भीम-कीर्तन* लिखा है, जिस में डॉ. अंबेडकर का गुणगान है। श्री रणजीत सिंह ने *ललकार*, श्री जालिम सिंह ने *अंबेडकर बारहमासी*, श्री जे.आर. गौतम ने *आखिर है इंसान*, श्री मनोहरलाल 'प्रेमी' ने *बहुजन-गोहार*, श्री नत्थूसिंह 'पथिक' ने *दलित-दर्पण* नामक गीत-काव्य पुस्तकें लिखी हैं।

इन आंचलिक गीतों और लोकगीतों में, जहाँ दलितों की सामाजिक और धार्मिक स्थिति का उल्लेख है, दलितों को कठिनाइयों से संघर्ष करके आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया गया है। समाज के अन्य लोगों को सावधान किया गया है। आगे इन के उद्धरण दिए जाते हैं।

अछूत की शिकायत

हमनी के राति दिन दुखवा भोगत बानी,
हमनी के सहेबे से मिनती सुनाइबि।
हमनी के दुख भगवनओं न देखता जे,
हमनी के कबले कलेसवा उठाइबि।
पदरी साहब के कचहरी में जाइबिजा,
बेधरम होके रंगरेज बनि जाइबि।
हाय राम! धरम न छोड़त बनत बा जे,
बेधरम होके कैसे मुँहवा देखाइबि।।
खंभवा के फारि पहलाद के बंचवले जा,
ग्राह के मुँहे से गजराज के बचवले।
धोती जुजोधना के भइआ छोरत रहे,
परगट होके तहाँ कपड़ा बढ़वले।
मरले रवनवाँ के पलले भभिखना के,
कानी अंगुरी पै धै के पत्थरा उठ वले।
कहवां सतुल बाटे सुनत न बाटे अब,
डोम जानि हमनी के छुए से डेरइले।।
हमनी के राति दिन मेहनत करीले जा,
दुइगो रूपयवा दरमहा में पाइबि।
ठकुरे के सुखसे, त घर में सुतल बानी,
हमनी के जोति जोति खेतिया कमाइबि।
हाकिमे के लसकरि उतरल बानी,

ई कुलि खबरि सरकार के सुनाइबि।।
बभने के लेखे हम भिखिया न मांगब जा,
ठकुरे के लेखे नाहिं लउरि चलाइबि।
सहुआ के लेखे नहिं डाँड़ी हम मारब जा,
अहिरा के लेखे नहिं गइया चराइबि।
भँटऊ के लेखे न कबित्त हम जोरब जा,
पगड़ी न बांधि के कचहरी में जाइबि।
अपने पसिनवा कै पइसा कमाइब जा,
घर भर मिलि जुलि बांट-चोटि खाइबि।।
हड़वा मसुइया कै देहिया है हमनी के,
ओकरे के देहियां बभनओं के बानी।
ओकरा के घरे घरे पुजवा होखत बा जे,
सगरे इलकवा भइले जजमानी।
हमनी के इनरा के निगिचे न जाइले जा,
पांके में से भरि भरि, पियतानी पानी।
पनही से पिटि पिटि हाथ गोड़ तुरि दैलें,
हमनी के एतनी काही के हलकानी।।

—श्री **हीरा डोम**, *सरस्वती*, 1914

(यह अंश श्री माता प्रसाद की पुस्तक *हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा* के पृष्ठ 312-314 से साभार उद्धृत है, जो हिन्दी में दलित लेखन तथा लेखकों के संबंध में पहली शोध-सामग्री प्रतीत होती है। —सं.)

आलेख (4)

कृष्णदत्त पालीवाल

विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य

आज से लगभग 70-72 वर्ष पहले हिन्दी को विश्वविद्यालयों में लाने की लड़ाई लड़ी गई थी। उस लड़ाई का एक शानदार प्रेरणादायी अर्थ है। सन् 1905 में बनारस में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। पं. मदन मोहन मालवीय ने अपने व्याख्यान में अपने देश में एक ऐसे विश्वविद्यालय की स्थापना का संकल्प प्रकट किया जो भारतीय संस्कृति की रक्षा करता हुआ सभी शास्त्रों के अध्ययन का विशिष्ट केन्द्र हो। इसी संकल्प से 1916 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का स्वप्न साकार हुआ। एम.ए. और बी.ए. की परीक्षा में प्रत्येक विद्यार्थी के लिए देशी भाषा में एक लेख लिख कर पास करना अनिवार्य किया गया। हिन्दी के अध्यापकों की खोज शुरू हुई और मालवीयजी ने बाबू श्यामसुंदर दास, पं. रामचंद्र शुक्ल और लाला भगवानदीन को चुना। विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य के अध्ययन का प्रस्ताव आया। पाठ्यक्रम के निर्धारण का श्रीगणेश हुआ। हिन्दी के पाठ्यक्रमों की जन्म कुंडली बाबू श्यामसुंदर दास, पं. रामचंद्र शुक्ल, लाला भगवानदीन और आचार्य केशव प्रसाद मिश्र ने मिल कर बनाई। इन सभी कार्यों में सहयोग बाबू गोविन्द दास का रहा। बाबू श्यामसुंदर दास ने *मेरी आत्म कहानी* में लिखा है : 'उन्होंने विश्वविद्यालय में यह प्रस्ताव किया कि हिन्दी साहित्य का अध्ययन यूनिवर्सिटी की उच्चतम परीक्षा के लिए एक स्वतंत्र विषय माना जाए। यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ और हिन्दी विभाग खोलने का आयोजन होने लगा। बाबू गोविन्द दास ने मुझे मालवीयजी के पास भेजा और उपदेश दिया कि वेतन के लिए न अड़ना।' (पृ. 208, प्र.सं. 1941) बाबूजी ने पूरी निष्ठा से 1922 में बी.ए., एम.ए. कक्षाओं में हिन्दी की स्वतंत्र पढ़ाई आरंभ कराई। किन्तु सब से बड़ी कठिनाई यह सामने आई कि अध्ययन और परीक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी थी!

हिन्दी को अंग्रेज़ी माध्यम से पढ़ाने का सवाल। बाबू श्यामसुंदर दास ने इस संबंध में लिखा है : 'यूनिवर्सिटी का नियम था कि सब विषयों की पढ़ाई और परीक्षा अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम द्वारा हो। मुझे यह नियम सर्वथा अनुचित जान पड़ता था कि संस्कृत और हिन्दी की पढ़ाई और परीक्षा भी अंग्रेज़ी के द्वारा हो। पर यह मेरी शक्ति के बाहर की बात थी कि मैं उसे तोड़ या बदल सकता।' किन्तु बाबूजी ने मन में संकल्प तो लिया ही था कि इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति को बदलना है। वे लिखते हैं : 'हम ने धैर्यपूर्वक इस बात के सुधार का उद्योग आरंभ किया और किसी को इस का आभास न मिलने दिया। पंडित रामचंद्र शुक्ल तो अंग्रेज़ी में पढ़ा सकते थे, पर लाला भगवानदीन

ऐसा करने में असमर्थ थे। अतएव हम लोगों ने पढ़ाना हिन्दी में आरंभ कर दिया। बीच-बीच में अंग्रेज़ी का प्रयोग करते जाते थे, प्रश्न पत्र अभी अंग्रेज़ी में ही छपते थे। आगे चल कर कोई-कोई प्रश्न हिन्दी में भी छपने लगा। यह कार्य क्रमशः हुआ।'

'मैं ने कहा कि यह बड़ी अस्वाभाविक बात है कि हिन्दी और संस्कृत की पढ़ाई और परीक्षा अंग्रेज़ी में हो। इस से हमारे संस्कृत और हिन्दी साहित्य को जो हानि पहुँचती है वह अत्यधिक है, साथ ही विद्यार्थियों को भी भाव समझने और उसे लिख कर स्पष्ट करने में कठिनता होती है। मालवीयजी कह बैठे कि यह अनुचित है। मालवीयजी के विचार बड़े दृढ़ होते थे—बात को गहराई से समझने के बाद वे ढीले न पड़ते थे। नागरी अक्षरों के लिए वे आंदोलन चला ही रहे थे। उन की पूरी मानसिकता में संस्कृत-हिन्दी घुमड़ रही थी। मैं ने एक प्रश्न पत्र जो पंडित केशव प्रसाद मिश्र का बनाया हुआ था, दिखा कर कहा कि देखिए यह हिन्दी में किया कितना सुंदर हुआ और अंग्रेज़ी में यह कितना भद्दा हो जाता है। मालवीयजी ने प्रश्नपत्र ले कर देखा और प्रशंसा करते हुए कहा कि नहीं हिन्दी और संस्कृत के प्रश्न पत्र जहाँ तक संभव हों उन्हीं भाषाओं में हों।' (पृ. 210)

काशी विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग पाठ्यक्रम के लिए जिस बड़ी कठिनाई का सामना कर रहा था वह थी उपयुक्त पुस्तकों का अभाव। 'पद्य साहित्य की पुस्तकें तो अच्छी मात्रा में उपलब्ध थीं पर उन के संस्करण दुर्लभ थे। भाषा-विज्ञान, आलोचना-शास्त्र, हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य के इतिहास की पुस्तकों का सर्वथा अभाव था। साहित्य के दो-एक छोटे-मोटे इतिहास, जैसे ग्रियर्सन के और ग्रीव्स के उपलब्ध थे, पर उन से पूरा-पूरा काम नहीं निकल सकता था। उपयुक्त गद्य ग्रंथों का एक प्रकार से अभाव ही था।' इस अभाव को दूर करने के लिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भगीरथ प्रयत्न किया। आचार्य शुक्ल ने जायसी, सूर और तुलसी के ग्रंथों के संस्करण तैयार किए और विद्वत्तापूर्ण भूमिकाएँ लिखीं। बाबू श्यामसुंदर दास ने कबीर ग्रंथावली तैयार की; भाषा-विज्ञान, आलोचना शास्त्र, नाट्य शास्त्र तथा बहुत से गद्य-ग्रंथों पर उत्साह से कार्य किया। प्राचीन, मध्ययुगीन एवं आधुनिक हिन्दी पद्यों के संग्रह तैयार किए। इसी बीच 'ओरियंटल विभाग' खुला जिस में हिन्दी निबंध पढ़ाने के लिए युनिवर्सिटी में कविवर अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की नियुक्ति हुई। हरिऔधजी ने हिन्दी के सर्जनात्मक साहित्य को दिशा-दृष्टि देने का कार्य किया तथा भाषा, इतिहास और काव्य-शास्त्र पर भी उन की लेखनी ने कमाल दिखाया। लेकिन सब से बड़ी चुनौती का सामना आचार्य शुक्ल को करना पड़ा। उन्हें पाठ्यक्रम में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पढ़ाना था।

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पहले से ही बना बनाया मिलता न था। हिन्दी कवियों का एक वृत्त-संग्रह ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने सन् 1883 में प्रस्तुत किया था। कुछ दिनों बाद 1889 में डॉ. ग्रियर्सन ने *मॉडर्न वर्नाक्युलर लिट्रेचर ऑव् नॉर्दर्न हिन्दुस्तान* के नाम से भी एक कविवृत्त-संग्रह निकाला था। 'काशी की नागरी प्रचारिणी सभा का ध्यान आरंभ में ही इस बात की ओर गया कि सहस्त्रों हस्तलिखित पुस्तकें देश के अनेक भागों में राज्य-पुस्तकालयों तथा लोगों के घरों में अज्ञात पड़ी हैं। अतः सरकार की आर्थिक सहायता से उस ने सन् 1900 से पुस्तकों की खोज का काम हाथ में ले लिया और सन् 1911 तक अपनी खोज की आठ रिपोर्टों में सैकड़ों अज्ञात कवियों तथा ज्ञात कवियों के अज्ञात ग्रंथों का पता लगाया। 1913 में इस सारी सामग्री का उपयोग करके मिश्र बंधुओं (श्रीयुत् पं. श्याम बिहारी मिश्र आदि) ने अपना बड़ा भारी कविवृत्त-संग्रह *मिश्रबंधु विनोद* जिस में वर्तमान काल के कवियों और लेखकों का भी समावेश किया गया, तीन भागों में प्रकाशित किया।'

पाठ्यक्रम में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' को ले कर आ. शुक्ल ने लिखा : 'इधर जब से विश्वविद्यालय में हिन्दी की उच्च शिक्षा का विधान हुआ तब से उस के विचार श्रृंखलाबद्ध इतिहास की आवश्यकता का अनुभव

विद्यार्थी और अध्यापक दोनों कर रहे थे। शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो-जो परिवर्तन होते आए हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, इन सब के सम्यक् निरूपण तथा उन की दृष्टि से किए हुए सुसंगत काल-विभाजन के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था। सात-आठ सौ वर्षों की संचित ग्रंथराशि सामने लगी हुई थी पर ऐसी सुगम सारणियों की उद्‌भावना नहीं हुई थी, जिस के अनुसार सुगमता से इस प्रभूत सामग्री का वर्गीकरण होता।' (हि.सा. का इति., प्रथम संस्करण का वक्तव्य) । कवि-वृत्त संग्रह करना इतिहास नहीं है. . . । वर्गीकरण का तार्किक आधार चाहिए, वह दृष्टि चाहिए जो साहित्येतिहास-दर्शन की चेतना को स्पष्ट रूप से सामने ला सके। 'पाँच या छह वर्ष हुए, छात्रों के उपयोग के लिए मैं ने कुछ संक्षिप्त नोट्स तैयार किए थे जिन में परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जनसमूह की बदली हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिन्दी साहित्य के काल-विभाग और रचना की भिन्न-भिन्न शाखाओं के निरूपण का एक कच्चा ढाँचा खड़ा किया था। "हिन्दी शब्द सागर" समाप्त हो जाने पर उस की भूमिका के रूप में भाषा और साहित्य का विकास देना भी स्थिर किया गया; अतः एक नियत समय के भीतर ही यह इतिहास लिखने के लिए जितनी अधिक सामग्री मैं ज़रूरी समझता था उतनी तो उस अवधि के भीतर न इकट्ठी हो सकी, पर जहाँ तक हो सका आवश्यक उपादान सामने रख कर यह कार्य पूरा किया गया है।' (वही) इस संकल्प के साथ ही हिन्दी साहित्य का यह इतिहास *हिन्दी शब्द सागर* की भूमिका के रूप में 'हिन्दी साहित्य का विकास' शीर्षक से सन् 1929 में निकला। अलग संस्करण आने पर बहुत-सी बातें बढ़ाई गईं। आ. शुक्ल के बाद हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामकुमार वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, कृष्ण शंकर शुक्ल, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि ने हिन्दी साहित्य के इतिहास लिखे, पर वे आचार्य शुक्ल के 'इतिहास' को न पा सके। आगे कई मोड़ों पर आवाज़ उठी कि आ. शुक्ल का इतिहास हिन्दी के विद्यार्थी को 'छायावादी संस्कार' की गिरफ़्त में कस कर गुमराह करता है, पर देश भर के हिन्दी विभागों में पाठ्यक्रम में आ. शुक्ल के 'इतिहास' का मान बरक़रार रहा। भाषा-विज्ञान, साहित्यालोचन, गद्य और प्राचीन गद्य पर बाबू श्यामसुंदर दास का कार्य पाठ्यक्रम में पढ़ाया गया। भारतीय और पाश्चात्य काव्य शास्त्र को ले कर *साहित्यालोचन* की धूम रही। इस प्रकार गद्य-पद्य और इतिहास के साथ भाषा-विज्ञान और काव्य शास्त्र को ले कर हिन्दी का प्रथम पाठ्यक्रम तैयार हुआ।

धीरे-धीरे इस पाठ्यक्रम की कमियाँ उभर कर सामने आने लगीं, स्वयं काशी के हिन्दी विभाग में भी कई वर्षों के अनुभव के अनंतर हम लोगों ने हिन्दी के पाठ्यक्रम में परिवर्तन करने की आवश्यकता समझी। यथासमय प्रस्ताव किए गए और वे स्वीकृत हुए। इस में मुख्य परिवर्तन यह था कि एम.ए. के विद्यार्थी को किसी आकर भाषा (संस्कृत, पालि, प्राकृत या अपभ्रंश) या किसी दूसरी देशी भाषा (बाङ्ला, मराठी, गुजराती, उर्दू) में भी एक प्रश्नपत्र का उत्तर देना पड़ता था।' (*मेरी आत्म कहानी*, पृ. 213) किसी आकर भाषा को पाठ्यक्रम में स्थान बाद में लखनऊ, पटना, इलाहाबाद और दिल्ली में मिला। पर आज ज़्यादातर विश्वविद्यालयों से आकर भाषा में अध्ययन-अध्यापन की परंपरा समाप्त हो गई है। दिल्ली विश्वविद्यालय ने प्रयोग के स्तर पर कुछ समय तक दक्षिण की भाषाओं को दृष्टि में रख कर 'कम्पोज़िट-कोर्स' में एम.ए. का प्रावधान किया। पर उस में भाषा के नाम पर अंकों की लूट मच गई। तृतीय श्रेणी हक़दार भाषा के प्रश्नपत्रों में अंधाधुंध अंक ले कर प्रथम श्रेणी पाने लगे। मजबूर हो कर यह पाठ्यक्रम बंद करना पड़ा। संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश भाषा और साहित्य को भी हिन्दी पाठ्यक्रमों से बाहर कर दिया गया। बहाना यह बनाया गया कि इन्हें पढ़ने-पढ़ाने वाले ठीक से नही मिलते। इन भाषाओं का बाज़ार भी कहाँ है कि विद्यार्थी उस में स्वयं आ सकें। नतीजा यह हुआ कि हिन्दी का

विद्यार्थी इन क्लासिक भाषाओं की भाव-संवेदना से कट कर बंजरपन में खड़ा कर दिया गया जहाँ उस की भाषा की विरास तक उसे नसीब नहीं हुई।

हिन्दी पाठ्यक्रम का एक आधुनिक साँचा इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग ने प्रस्तुत किया। इस साँचे के निर्माण में प्रोफ़ेसर धीरेन्द्र वर्मा का बहुत बड़ा हाथ रहा। काशी विश्वविद्यालय के मॉडल को धीरेन्द्रजी ने भाषा-समाज, संस्कृति-इतिहास से जोड़ कर व्यवस्थित रूप दिया। इस पाठ्यक्रम में हिन्दी के आदिकालीन और मध्ययुगीन साहित्य के साथ आधुनिक साहित्य को एक विशेष परिप्रेक्ष्य में अध्ययन-अध्यापन की जगह मिली। साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों का उत्तरी भारत में सर्वोच्च केन्द्र होने के कारण भी इलाहाबाद की, विशेष कर विश्वविद्यालय की, ख्याति एवं धाक रही। अपने-अपने क्षेत्रों के अधिकारी विद्वान हिन्दी विभाग में नियुक्त हुए। भाषा-विज्ञान और लोक-साहित्य के क्षेत्र में धीरेन्द्र वर्मा, उदय नारायण तिवारी, मध्ययुगीन काव्य के लिए, विशेषकर रीतिकाल के लिए, रमाशंकर शुक्ल रसाल, किशोरीलाल गुप्त; भक्तिकाल एवं पाठालोचन के क्षेत्र में माताप्रसाद गुप्त; इतिहास-कविता-काव्यशास्त्र में डॉ. रामकुमार वर्मा आदि ने एक नया परिवेश निर्मित किया। धीरेन्द्र वर्मा ने ऐसा पाठ्यक्रम निर्धारित किया जो छात्र की प्रतिभा को फूलने-फलने का अवसर प्रदान करे। भाषा-विज्ञान, हिन्दी-भाषा, लोक-साहित्य, हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्यापन की दिशा पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया। रटने-रटाने की रूढ़ि से मुक्त कर चिन्तन प्रक्रिया की मौलिकता, अंतर्दृष्टि का विकास, साहित्य का शऊर तथा आलोचना के साहित्यिक-सामाजिक-मूल्य चेतना की ओर सक्रिय रूप से प्रवृत्त करने में यह सफल रहा। प्रश्न उठता है कि कैसे सफल कहा जा सकता है? संक्षिप्त उत्तर यही है कि इस विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से निकले विद्यार्थियों ने नवीन साहित्य के सृजन और साहित्य के मूल्यान्वेषी चिन्तन में कीर्तिमान स्थापित किए। रघुवंश हों या रामस्वरूप चतुर्वेदी, जगदीश गुप्त हों या रामकुमार वर्मा, सभी ने नए साहित्य-क्षेत्रों में पहल की। अध्यापकों की प्रबुद्ध चेतना ने विद्यार्थियों में नई चिन्तन-आग पैदा की। अध्ययन और पाठ्यक्रम में आधुनिकता और आधुनिक साहित्य के चिन्तन की मनोभूमिका को इस विभाग ने निर्मित कर गौरव पाया। धीरेन्द्र वर्मा ने मध्य-देश की परंपराओं-चिन्तन धाराओं से जोड़ कर हिन्दी साहित्य के पाठ्यक्रम को दिशा-दृष्टि दी। विद्यार्थियों के लिए प्रामाणिक सामग्री का प्रकाशन कराया और साहित्य कोश की योजना बना कर पूरा दृश्य ही बदल दिया। सब से बड़ी बात है कि साहित्य के पाठ्यक्रम के लिए वह सामग्री मुहैया कराई जो अध्ययन-आस्वाद-अनुसंधान एवं मूल्यांकन में उपयोगी और अर्थवान साबित हो।

हिन्दी के पाठ्यक्रम का एक तीसरा मॉडल पटना विश्वविद्यालय ने प्रस्तुत किया। यहाँ के पाठ्यक्रम में हिन्दी साहित्य के इतिहास, इतिहास-दर्शन, भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यालोचन और नवीन आलोचना की प्रवृत्तियों पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया। यह सच है इस पाठ्यक्रम की योजना को नई दृष्टि देने में देवेन्द्रनाथ शर्मा, नलिन विलोचन शर्मा जैसे विद्वानों की विशेष भूमिका रही। भाषा-विज्ञान और भाषा-अध्ययन की नवीन प्रविधियों को पटना विश्वविद्यालय तथा बिहार के अन्य विश्वविद्यालयों ने अपनाया। विशेष रचनाकार, रचना और युग-प्रवृत्तियों को सामाजिक-आर्थिक संदर्भों से जोड़ कर पढ़ाने की एक परंपरा यहाँ निर्मित हुई। हिन्दी के आदिकालीन और भक्तिकालीन साहित्य को बिहार के विश्वविद्यालयों में विशेष स्थान मिला। पूरा पाठ्यक्रम इस ढंग से तैयार किया गया कि विद्यार्थी देश-समाज की समस्याओं, चुनौतियों, प्रश्नाकुलताओं से परिचित हो। इतिहास-राजनीतिशास्त्र के परिप्रेक्ष्य को पाठ्यक्रम में रचा गया। यह पाठ्यक्रम विद्यार्थी की सृजनात्मकता को पनपाने में सहायक हुआ।

आ. शिवपूजन सहाय की दूरगामी दृष्टि से भी एक विशेष लाभ यहाँ के हिन्दी के विद्यार्थी को हुआ। बिहार राष्ट्र भाषा परिषद ने हिन्दी के अधिकारी विद्वानों की पुस्तकों का प्रकाशन किया एवं अध्यापकों को अवसर दिया। इतना ही नहीं, यहाँ के हिन्दी विभाग ने पाठ्यक्रम में नए प्रयोग भी किए। पूरे साहित्य के साथ नलिनजी ने फणीश्वर नाथ रेणु के उपन्यास *मैला आँचल* को पाठ्यक्रम में स्थान दिया। कई वर्षों से उपेक्षा भोगते इस उपन्यास को ऐसा होते ही नया जीवन मिला। कला साहित्य के साथ नवीन गद्य विधाओं को भी बिहार के विश्वविद्यालयों ने पाठ्यक्रम में स्थान दिया। महादेवी वर्मा और रामवृक्ष बेनीपुरी के रेखाचित्र, रामकुमार वर्मा और जगदीशचंद्र माथुर के एकांकी नाटकों का भाग्योदय बिहार में ही खुल कर हुआ। हिन्दी साहित्य के पाठ्यक्रम को आधुनिकता और आधुनिकीकरण की ओर प्रवृत्त करने में बिहार के विश्वविद्यालयों की ऐतिहासिक भूमिका रही है। पर आजकल बिहार अपने पाठ्यक्रम की सर्जनात्मकता खो कर एक भयंकर उजाड़वाद, घटिया परंपरावाद का शिकार हो गया है। अध्ययन-अध्यापन के प्रति अध्यापकों के मन का उपेक्षा भाव, निराशा, राजनीति का विकृतीकरण आदि भी इस के कारण रहे हैं।

आगरा विश्वविद्यालय किसी समय हिन्दी-भाषी क्षेत्र में विस्तार में सब से बड़ा विश्वविद्यालय था। अब उस के भीतर से ही कई विश्वविद्यालय पैदा हो गए हैं। आगरा विश्वविद्यालय ने हिन्दी का पाठ्यक्रम काशी और इलाहाबाद की जोड़ पर हिन्दी साहित्य, साहित्येतिहास, भाषा-विज्ञान और काव्यशास्त्र को गूँथ कर बनाया था। हिन्दी के प्रतिष्ठित रचनाकार, युगविशेष, लोक साहित्य और भाषा-विज्ञान का एक प्रश्नपत्र विशेष अध्ययन के लिए रखा गया था। एक समय था जब इलाहाबाद विश्वविद्यालय में एम.ए. के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध, दोनों वर्षों में मौखिकी प्रश्नपत्र रहता था। इस में व्यापक अध्ययन के प्रति विद्यार्थी को चौकन्ना और चौकस बनाने की तैयारी रहती थी। आगरा विश्वविद्यालय में एम.ए. उत्तरार्ध में मौखिकी परीक्षा रहती थी। आगरा-इलाहाबाद के पाठ्यक्रम का ढाँचा ही मध्य प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, हिमाचल, राजस्थान आदि के हिन्दी विभागों ने थोड़े-से हेरफेर के साथ स्वीकार किया था।

अहिन्दीभाषी प्रदेशों के हिन्दी विभागों ने अपने-अपने प्रदेश के भाषा-संस्कृति-साहित्य के एक या दो प्रश्नपत्रों के साथ पाठ्यक्रम का 'आगरा-इलाहाबाद' मॉडल ही मान लिया। मध्य प्रदेश के हिन्दी विभागों में सामाजिक-सांस्कृतिक नवजागरण की चेतना से संपन्न आधुनिक साहित्य का बोलबाला रहा। आ. नंद दुलारे वाजपेयी ने आ. रामचंद्र शुक्ल की आलोचना धारा को ही आगे बढ़ाया। पंजाब में इंद्रनाथ मदान ने आधुनिक साहित्य की सामाजिक-राजनीतिक चेतना को पाठ्यक्रम में केन्द्रित किया। नाटक, उपन्यास, कविता और काव्यशास्त्र का बोध विद्यार्थी में पैदा हो, यह प्रयत्न किया। राजस्थान में आ. सत्येन्द्र ने पाठ्यक्रम में लोक-साहित्य एवं लोक-भाषा परंपरा को विशेष रूप से पाठ्यक्रम में केन्द्रित किया।

दरअसल, विश्वविद्यालयों के प्रचलित हिन्दी पाठ्यक्रमों का अध्ययन करने पर कुछ तथ्य साफ़ उभरते हैं। हिन्दी विभागों में आम तौर पर प्रस्तावित पाठ्यक्रम का मूल ढाँचा बीसवीं शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक में निर्मित हुआ। हिन्दी पाठ्यक्रम के इसी ढाँचे के भीतर समसामयिक साहित्य तथा जनपदीय बोलियों के साहित्य को भी थोड़ा-सा स्थान मिला, पर स्थिति बहुत उत्साहजनक नहीं रही। आज यदि हम इस पाठ्यक्रम की प्रासंगिकता, अर्थ, उपयोगिता आदि पर निगाह डालते हैं तो इस पाठ्यक्रम की बहुत-सी ख़ामियाँ या सीमाएँ साफ़ दिखाई देती हैं।

विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों के पाठ्यक्रमों में गुण एवं मात्रा की दृष्टि से अंतर्वस्तु एवं रूप की भारी ख़ामियाँ उभरने लगीं। मूल कमी यह कि इन पाठ्यक्रमों में बीज पाठ्यक्रम और विकल्प पाठ्यक्रम की धारणा

में कहीं कोई संतुलन-सामंजस्य नहीं है। हिन्दी भाषा और साहित्य के पाठ्यक्रमों में साहित्य के नाम पर अन्य ज्ञान-विज्ञान के साहित्य को दरकिनार कर दिया गया। समाज-विज्ञानों की नई दृष्टि से बच कर निकलने के कारण यह पाठ्यक्रम अधूरे-एकांगी हैं। वैज्ञानिक ढंग की योजना के अभाव में अच्छे इरादों-संकल्पों के होने पर भी इस क्षेत्र में मध्ययुगीन बोध हावी रहा। कभी-कभार राज्य, क्षेत्र, संस्था विशेष की घिसी-पिटी अभिव्यक्तियाँ भी रूढ़ि बन कर सामने आईं। नवीन सामाजिक संरचनाओं, राजनीतिक सामाजिक विचारधाराओं, प्रगतिशील सांस्कृतिक-दार्शनिक अभिप्रायों से वंचित रहने के कारण इन पाठ्यक्रमों की अति साहित्यिकता या अतिरिक्त साहित्यिकता भी मूल्य चेतना, मूल्य दृष्टि को सही कोणों में संपादित करने में अक्षम रही। साहित्यिक मूल्यों और नवीन ज्ञान-विज्ञान, विचार-धाराओं, अंतर्विधाश्रयी अनुशासनों से दामन बचा कर निकलने के कारण भी यह पाठ्यक्रम अनुपयोगी, जीवन निरपेक्ष-निरर्थक बन कर रह गए। समसामयिक जीवन की माँगों को पूरा न कर पाने और आधुनिक दृष्टि के अभाव में ये पाठ्यक्रम बासी, उबाऊ एवं जड़ होते गए।

स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद पुराने एवं नए विश्वविद्यालयों में ऐसे हिन्दी पाठ्यक्रम की आवश्यकता अनुभव की गई जो वैज्ञानिक एवं आधुनिक ढंग से हिन्दी के विद्यार्थी की चेतना का संस्कार निर्माण करें। साथ ही अन्तर्विद्याश्रयी संबंध, तुलनात्मक साहित्य की दृष्टि और नवीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक संरचनाओं के संदर्भ को ध्यान में रख कर पाठ्यक्रम की समायोजना करे। इस दिशा में दो प्रयोग-धर्मी पाठ्यक्रम हैं—दिल्ली विश्वविद्यालय और जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (न. दिल्ली) के।

हिन्दी प्रदेशों के बाहर के हिन्दी पाठ्यक्रमों पर नज़र डालने पर हम पाते हैं कि हिन्दी का प्राचीन एवं मध्ययुगीन काव्य-साहित्य ज़्यादातर ब्रज-अवधी में होने के कारण अध्यापक-विद्यार्थी के लिए लोहे का चना बनता जा रहा है। ब्रज और अवधी के संस्कारों से कट कर केवल खड़ी बोली के साहित्य को पाठ्यक्रम में लगाने की आवाज़ जहाँ-तहाँ से उठ रही है। यह आग्रह भी बढ़ रहा है कि दक्खिनी हिन्दी के रचनाकारों को पाठ्यक्रम में प्रमुखता क्यों न दें। आज़ादी के बाद हिन्दी की जो स्थिति बनी है वह भी कम चिन्तनीय नहीं है। दिनोंदिन हिन्दी का किनारे पड़ते जाना और हिन्दी तथा भारतीय भाषाओं के साहित्य का भारतीय समाज में प्रतिष्ठित न हो पाना भी इस स्थिति के लिए ज़िम्मेदार है। ज्ञान के पश्चिमीकरण, यंत्रयुग की टेक्नालॉजी, कंप्यूटरीकरण बनाम आधुनिकीकरण ने भी 'साहित्य' को 'मार्जिनलाइज़्ड' कर दिया है। प्रश्न उठ रहा है कि आज के जीवन में साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की सार्थकता क्या है? सार्थकता नहीं है तो हमें व्यवसायीकरण वाले पाठ्यक्रमों की ओर जाना चाहिए। भोगवाद-आधुनिकतावाद-उपभोक्तावाद के नाम पर 'रोटी की संस्कृति' का बोलबाला बढ़ गया है। 'मॉडर्न' ज्ञान-विज्ञान के नक्शे से ही भारतीय भाषाओं का साहित्य निकाला जा रहा है। कहना न होगा कि हिन्दी पाठ्यक्रमों की स्थिति के मूल में हिन्दी प्रदेश है जिन में अपनी भाषा-साहित्य-संस्कृति के प्रति आत्मरक्षा, आत्मसम्मान का भाव न रह कर आत्मधिक्कार, परायी संस्कृति-साहित्य को श्रेष्ठ समझने का भाव विकसित हुआ है। अंग्रेज़ी साहित्य और पश्चिम से हम आदान-प्रदान की स्थिति में न रह कर केवल आदान की स्थिति में आ गए हैं।

इधर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने नई शिक्षा नीति के तहत डिप्लोमा, स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं के लिए राष्ट्रीय पाठ्यक्रम प्रस्तावित किए हैं। इस में हिन्दी के संयोजक डॉ. शिवप्रसाद सिंह की 'पाठ्यक्रम समिति' ने भारत में पढ़ाए जा रहे हिन्दी पाठ्यक्रमों की ओर ध्यान दिया तथा 'शल्य चिकित्सा' का पक्का इरादा बनाया। यह भी पाया कि प्रत्येक राज्य और विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम अलग है। अधिकांश पाठ्यक्रमों में बीज पाठ्यक्रम और विकल्प पाठ्यक्रम की धारणा साफ़ नहीं है। राष्ट्रीय पाठ्यक्रम के निर्देशक विचार-बिन्दु के आरंभ में यह स्थापना रखी है कि 'शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है, दूसरे माध्यम से नई पीढ़ी को उस ज्ञान-विज्ञान क्षमताओं,

अभिव्यक्तियों और मूल्यों से अवगत कराया जाता है जिन्हें समाज, समाज और व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक समझता है। समाज की आकांक्षा ही शैक्षिक उद्देश्यों का निर्धारण करती है। उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपनाए जाने वाले समस्त साधन ही पाठ्यक्रम की संज्ञा पाते हैं।' सामाजिक-परिवर्तन के साथ शैक्षिक उद्देश्य भी बदलते रहते हैं। ऐसी स्थिति के कारण सामाजिक परिवर्तनों को ध्यान में रख कर पाठ्यक्रम गठित होने चाहिए। दक्षिण भारत के अनुभवी अध्यापकों की बात भी ध्यान से सुननी चाहिए कि बीज़-पाठ्यक्रम में महत्त्व किसे दें : भाषा को या साहित्य को?

इस पाठ्यक्रम समिति ने दक्षिण भारत की हिन्दी शिक्षण समस्याओं पर ध्यान देने पर पाया कि दक्षिण के हिन्दी छात्रों के लिए हिन्दी का द्वितीय भाषा होना एक विशिष्ट स्थिति है। इस दृष्टि से तुलनात्मक भारतीय साहित्य का महत्त्व रेखांकित किया गया। हिन्दी और हिन्दीतर भाषाओं का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन, अनुवाद, दक्खिनी हिन्दी आदि अनेक वैकल्पिक प्रश्नपत्रों का निर्धारण हुआ। विचार-विनिमय से आम राय बनी कि हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि के ज्ञान के लिए आदिकालीन साहित्य का समावेश बीज के रूप में हर हालत में रहना चाहिए।

हिन्दी भाषा और साहित्य की प्रधान समस्या पाठ्यक्रम निर्धारित करते समय आती है हिन्दी क्षेत्र की विशालता जिस में कश्मीर से ले कर दक्षिण में तमिलनाडु, पूर्व में असम से ले कर पश्चिम गुजरात तक समस्त भारत भूमि में फैलाव। सांस्कृतिक-धार्मिक अनेकरूपता विविधता की रक्षा करते हुए एकरूपता की समस्या। विभिन्न स्तरों की ज़रूरत को समझते हुए स्तरीयता बनाए रखने की समस्या। हिन्दी और अहिन्दी भाषी छात्रों के लिए भारत की विशाल बहुभाषी संस्कृति से परिचय अंतरंग साक्षात्कार के साथ साहित्य-सौन्दर्य चेतना का विकास। हिन्दी की विभिन्न शाखाओं, शैलियों और बोलियों के संबंध की समस्या भी कम नाज़ुक नहीं है। प्रश्न उठता है और उठा भी है कि हिन्दी पाठ्यक्रम के भीतर उर्दू, दक्खिनी हिन्दी, राजस्थानी, बुंदेली आदि के साहित्य का समावेश कैसे किया जाए? हिन्दी और अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में उर्दू के व्यवहार और शिक्षण का भी सामाजिक आधार है।[1] उर्दू हिन्दी की ही एक शैली है ऐसी स्थिति में उर्दू के भाषा और साहित्य का हिन्दी पाठ्यक्रमों में समावेश अवश्य होना चाहिए। ब्रज, अवधी, मैथिली, बुंदेली बोलियों के पास साहित्य का अपार भंडार है। इस भंडार का मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में किस सीमा तक उपयोग किया जाना चाहिए। प्रश्न यह उठ रहा है कि हिन्दी साहित्य का किस सीमा तक उपयोग किया जाना चाहिए। प्रश्न उठ रहा है कि हिन्दी की तमाम बोलियों के साहित्य को क्या हिन्दी साहित्य के पाठ्यक्रम में लेना उचित है? ज़्यादातर हिन्दी की बोलियों के साहित्य को छोड़ देने के हक़ में हैं और केवल खड़ी बोली को ही हिन्दी साहित्य मानने का प्रस्ताव करते हैं। यह समस्या बड़ी जटिल है एवं इस का समाधान हिन्दी पाठ्यक्रम के भीतर बोलियों के साहित्य के समावेश की ज़रूरत को प्रकट करता है। एक समस्या और है—संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के साथ हिन्दी के संबंध की। ये आकर भाषा हिन्दी साहित्य एवं संस्कृति की प्रेरणास्रोत हैं। इन स्रोतों को सुरक्षित रखना भी ज़रूरी है पर किस अनुपात में इन के साहित्य को हिन्दी पा्ठ्यक्रम में स्थान मिले। यह पाठ्यक्रम बोझ भी न बने और छात्र हमारी सांस्कृतिक-साहित्यिक परंपराओं से परिचित भी हो सकें। आज एक समस्या हिन्दी तथा अन्य ज्ञानानुशासनों से जुड़ने की समस्या भी है। आज विज्ञान कला की सीमाएँ एक दूसरे में समा रही हैं। ऐसी स्थिति में भाषा-विज्ञान, दर्शन-इतिहास, समाजशास्त्र आदि में हिन्दी साहित्य के पाठ्यक्रम को जोड़ना होगा। इसी के साथ पाठ्यक्रम के रोजगारपरक होने की समस्या भी जुड़ी है। इन अनेक समस्याओं को ध्यान में रख कर शिवप्रसाद सिंह समिति ने हिन्दी का राष्ट्रीय कार्यक्रम तैयार किया है। कुछ विश्वविद्यालयों में यह नया पाठ्यक्रम शुरू भी हुआ है किन्तु यह अपनी प्रासांगिकता सिद्ध नहीं कर सका है। गंभीर अध्ययन-अध्यापन के अभाव में तुलनात्मक साहित्य का पाठ्यक्रम तक एक नारा बन कर रह गया है।

[1] उर्दू का भाषिक ढाँचा और बोलचाल की हिन्दी का व्यावहारिक रूप एक-सा है।

आलेख (5)

एम. शेषन्

तमिष़ कहानी के विभिन्न सोपान—एक परिचय

तमिष़ में आधुनिक कहानी की परंपरा लगभग एक सौ वर्ष की मानी जाती है। यों संघ काल की कविताओं में ईसा पूर्व 500 से ई.पू. 200 तक तथा प्राचीन युग की अन्य कविताओं में कथा-काव्य लिखने की परिपाटी यहाँ बहुत पहले से ही रही है। फिर भी छोटी-छोटी कहानियाँ लिखने की परिपाटी यहाँ पाश्चात्य प्रभाव से ही ग्रहण की गई है। अठारहवीं सदी में फ़ादर बेस्की नामक इटली के पादरी ने तमिल प्रदेश में रह कर तमिष़ भाषा एवं साहित्य का ज्ञान अर्जित किया। *परमार्थ गुरुविन् कदैकळ्* पाश्चात्य शैली में लिखी उन की कहानियों का संग्रह है। यहीं से तमिष़ कहानी का सूत्रपात मानना होगा। इस में तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक दुरवस्था का चित्रण है। उस के बाद ही तमिष़ में कहानियाँ और उपन्यास रचे जाने लगे। उन्नीसवीं शती में वीरासामी चेट्टियार ने *विनोद रस मंजरी* तथा तांडवाराय मुदलियार ने *पंचतंत्र* की कहानियाँ तमिष़ में लिखीं। जैसा कि नाम से विदित है, ये कहानियाँ अधिकतर परवर्ती काल की संस्कृत की कहानियों का रूपांतर या छायानुवाद मात्र है।

तमिष़ में पहला उपन्यास *प्रताप मुदलियार चरित्रम* ईस्वी सन् 1876 में निकला, जिस के लेखक मायवरम् वेदनायकम् पिळ्ळै एक ज़िलाधीश थे। सुब्रह्मण्य भारती ने (1882-1921) अपने जीवन-काल में काव्य-रचना के व्यस्त क्षणों के बीच रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ग्यारह प्रसिद्ध कहानियों का तमिष़ रूपांतर किया। इन कहानियों ने तमिष़ पाठकों को इस नवीन विधा से परिचित कराया। भारती ने स्वयं भी कुछ मौलिक कहानियाँ लिखीं। वस्तु एवं रूप-विधान की दृष्टि से वे कहानियाँ महत्त्वपूर्ण नहीं कही जा सकतीं। लगभग इसी समय में व.वे.सु. अय्यर ने पहली बार साहित्यिक स्तर की कहानियाँ लिखीं। *मंगयर्क्क-रसियन् कादल* उन की कहानियों का संग्रह है। उन की प्रसिद्ध कहानी 'कुळत्तंगरै अरसमरम्' तमिल प्रदेश के जन-जीवन का यथार्थ चित्रण करती है। ये काव्यमय कहानियाँ कहानी-कला की दृष्टि से खरी हैं। रवीन्द्रनाथ की कहानी 'काबुलीवाला' का भी तमिष़ रूपांतर इन्होंने किया था। अय्यर ने मानव-मन की उच्चता को दिखाया है, उस की लघुता और तुच्छता को नहीं। एक तरह से आप तमिष़ कहानी के जनक हैं।

अय्यर के पश्चात् इस क्षेत्र में उल्लेखनीय नाम है रामानुजुलु नायुडु तथा माधवय्या। आज रामानुजुलु नायुडु की कहानियाँ अप्राप्य हैं। माधवय्या (1872-1925) की कहानियाँ *कुशिकर कुट्टिक्कथैकळ्* के शीर्षक से उन्हीं के काल में दो भागों में प्रकाशित हुईं। माधवय्या ने अंग्रेज़ी कथा-साहित्य से प्रेरणा एवं प्रभाव ग्रहण कर तमिष़

कहानी क्षेत्र में पदार्पण किया। माधवय्या ने पहले इन्हें प्रसिद्ध दैनिक समाचार-पत्र *हिन्दू* में अंग्रेज़ी में प्रकाशित किया जो बाद में तमिष् में अनूदित हुई। इन की कहानियों में सुधारवादी प्रवृत्ति ही प्रमुख रही। तमिष् कहानी के इस युग को हम आविर्भाव-युग मान सकते हैं। इस में अनुवाद की प्रवृत्ति पाई जाती है। मौलिक सर्जनात्मक तत्त्व व.वे.सु. अय्यर, माधवय्या आदि कहानीकारों में बीज रूप में हैं।

महात्मा गाँधी से प्रेरित राष्ट्रीय आंदोलन एवं उस समय उभरे तमाम महत्त्वपूर्ण प्रश्नों से तमिष् कहानी अपने अगले चरण में रू-ब-रू हुई। इस दौर के सुप्रसिद्ध कहानीकार 'पुदुमैप्पित्तन्' अविस्मरणीय हैं। कु.प. राजगोपालन, ना. पिच्चमूर्ति, बी.एस. रामय्या, सि.सु. चेल्लप्पा, मौनी, कल्कि आदि अन्य प्रमुख कहानीकारों के दल ने इसी काल में कहानी-साहित्य की महत्त्वपूर्ण सेवा की। *मणिक्कोडि* पत्रिका का इस दौर में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। 1930 के आसपास से इस पत्रिका ने वरिष्ठ पत्रकार व.रा., कहानीकार पुदुमैप्पित्तन, कु.प. राजगोपालन, ना. पिच्चमूर्ति, मौनी, बी.एस. रामय्या, चिदंबर सुब्रह्मण्यम्, सि.सु. चेल्लप्पा, रघुनाथन आदि का तमिष् पाठकों से परिचय कराया। यहाँ मणिक्कोडि-युग के दो-चार प्रमुख कथाकारों का परिचय देना संगत लगता है।

पुदुमैप्पित्तन : आप यथार्थवादी कथाकार माने जाते हैं। शुरू में समाज-सुधारवादी प्रवृत्ति ले कर आप आए। 'आण्मै' कहानी मानव-मन में छिपी दानवी प्रवृत्तियों का चित्रण करने में अपूर्व थी। रोग-शय्या पर पड़े अपने रोगी पति की रक्षा के लिए अपने सतीत्व को बेचने वाली पति-परायणा नारी की कहानी 'पोन्नगरम्' उन की कहानियों में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रेमचंद की तरह उन की दृष्टि समाज की विषमताओं एवं असमानताओं पर रहती है और वे व्यक्ति के चारित्रिक पतन के लिए सामाजिक व्यवस्था को दोषी ठहराते हैं। केवल गलदश्रु भावुकता प्रकट करना आप को अप्रिय है। सामाजिक अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध न लड़ सकने की हमारी बलहीनता पर ध्यान आकृष्ट करते हैं। जीवन का यथार्थ चित्रण उन की कला की विशिष्टता है। चंचल मन के आत्म-संघर्ष का चित्रण भी उन्होंने अत्यंत सूक्ष्म ढंग से किया है। उन की कहानियों के कुछ पात्रों में इस मानसिक चंचलता एवं चपलता का सुंदर चित्रण पाया जाता है।

उन की 'कडवुळु कंदसामियुम्' कहानी सर्वोत्कृष्ट कहानियों में गिनी जाती है। इस कहानी में एक जीवन-दृष्टि है, साथ ही तीखा व्यंग और हास भी। भगवान मानव के कार्यकलाप का निरीक्षण-परीक्षण कर उसे समझने हेतु मर्त्यलोक में आते हैं और सब प्रकार से अपने को थका-हारा महसूस करने लगते हैं। अंत में हार कर यह मंतव्य प्रकट करते हैं कि 'अपने जाने-माने पुराने पेशे (अर्थात् सर्जन का कार्य) से यहाँ अपनी आजीविका नहीं चलाई जा सकती!' अपनी हार मानते हुए वे कंदसामि के सामने यह स्वीकारोक्ति करते हैं, 'आप मानवों को हम दूर खड़े हो कर वरदान दे सकते हैं, मगर आप लोगों के बीच रह कर जीवन-यापन करना दुष्कर लगता है।'

कु.प. राजगोपालन : आप पारिवारिक जीवन की समस्याओं, उस में होने वाली उलझनों, तनाव, संघर्षों आदि का चित्रण करने में विशेष कुशल हैं। पारिवारिक कथाओं में, ख़ास कर पति-पत्नी के बीच संबंधों का चित्रण आप की विशेषता है। कहानी 'नूरुन्निसा' में दैवी प्रेम का वर्णन है। कवि-हृदय इस लेखक में वास्तविक जीवन की घोर यथार्थता और कठोरता से भागने की प्रवृत्ति दृष्टव्य है। अक्सर कल्पना लोक में ही उन का मन रमता है। यांत्रिक सभ्यता से दूर पुरानी परंपरा का पालन करने वाले ग्रामीण जीवन के प्रति राजगोपालन का विशेष आकर्षण है। मगर गाँव के सौन्दर्य के पार कु.प.रा. उस की समस्याओं के प्रति आकृष्ट नहीं लगते। एक-दो कहानियों में ग़रीबों की आह-कराह, व्यथा-वेदना का चित्रण है, मगर लेखक की वह प्रमुख प्रवृत्ति नहीं है। 'लघुकथा' नामक अपनी

कहानी में उन का कथन है, 'कहानी में कोई मक़सद या मतलब होना चाहिए। हम तो स्वयमेव जीवन की मुसीबतों में उलझे हुए हैं, कहानी के पात्र भी क्यों मुसीबत उठाते फिरें? कम से कम, कहानी में तो मन को तसल्ली मिले।' कु.प.रा. की दृष्टि सामान्य मध्यवर्ग के परिवार, ख़ास कर ब्राह्मण परिवार में घटने वाली सामान्य घटनाओं तक ही सीमित रहती है। पुदुमैप्पित्तन जहाँ यथार्थवादी दृष्टि से जीवन और जगत को देखते हैं, वहाँ कु.प.रा. कल्पना पर ज़ोर देने वाले आदर्शवादी कथाकार हैं।

बी.एस. रामय्या : स्वतंत्रता-पूर्व युग के उल्लेखनीय कहानीकारों में बी.एस. रामय्या भी हैं। आप की दृष्टि में 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' है। स्वतंत्रता संग्राम में आप ने सक्रिय भाग लिया था। सामाजिक सुधारवादी दृष्टिकोण के कारण उन की कहानियों में जीवन का बाह्य पक्ष सुंदर ढंग से उभरा है। फिर भी उन की कला बहुमुखी नहीं और न ही विस्तृत। घटना-प्रधान कहानी लिखने में आप सिद्धहस्त हैं। 1936 में लिखी उन की कहानी 'कानिविल' का यहाँ उल्लेख करना संगत होगा। इस में एक वेश्या की व्यथा-कथा चित्रित है।

न. पिच्चमूर्ति : 1933 में *कलैमकळ्* साहित्यिक मासिक की कहानी स्पर्धा में 'मुळ्ळुम रोजावुम्' (गुलाब और काँटा) नामक कहानी से वे तमिष् पाठकों के सामने आए। इन की कहानियाँ *मणिक्कोडि* में अकसर प्रकाशित होती थीं। प्रारंभिक कहानियों में सेक्स का चित्रण प्रमुख रहा। सन् 1955 के बाद की कहानियों में जीवनानुभव की गहराई प्रकट है। **मौनि :** *मणिक्कोडि* युग के लेखकों में नए प्रयोग करने का साहस मौनि ने किया। पुदुमैप्पित्तन के समान उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। उन की कहानियों में अस्पष्टता, शैली में दुरूहता, कथानक में शिथिलता आदि के आरोप लगते हैं। उदाहरण के लिए, 'एंगिरुंदो वंदान्' (कहीं से आया) कहानी। **ला.स. रामामृतम् :** मौनि की कहानियों वाले आरोप ला.स. रामामृतम् पर भी लागू हो सकते हैं, जैसे अस्पष्टता एवं शैली की दुरूहता। इन की कहानियों में दार्शनिकता का गाढ़ा रंग है। मुख्य रूप से आप 'पारिवारिक कथाकार' हैं और आप की अधिकांश कहानियाँ दुखांत हैं। **कल्कि :** तमिष् कथा-साहित्य में कल्कि का स्थान महत्त्वपूर्ण माना जाता है। मूलतः वे उपन्यासकार हैं। उन की प्रमुख प्रवृत्ति हास्य की है। हास्य रस के आप बेजोड़ कलाकार हैं मगर हास्य उत्पन्न करने की अतिशय वृत्ति ने एक महान् कलाकार बनने में बाधा भी उपस्थित कर दी है। मगर कई स्थलों पर उन का हास्य अपने स्वाभाविक रूप में प्रकट हुआ है और पाठकीय दृष्टि से वह प्रयोग सफल भी माना जा सकता है।

कहानी की विकास-यात्रा में व.वे.सु. अय्यर के काल को प्रथम सोपान मानें तो *मणिक्कोडि* तथा उस से संबंधित लेखकों के काल को दूसरा सोपान मान सकते हैं। आगे भारत की आज़ादी की प्राप्ति के काल तक जन-जीवन में बहुत कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। इस संघर्ष-काल में तमिष् कहानी के क्षेत्र में कुछ प्रमुख कहानीकारों की सेवाओं का उल्लेख करना आवश्यक होगा। उन में उल्लेखनीय कथाकारों के नाम हैं—विन्दन, ति. जानकीरामन, अखिलन, कु. अळगिरिसामि आदि। **विन्दन :** सामाजिक और आर्थिक असमानता, विभेद आदि से उत्पन्न घोर ग़रीबी देख कर विन्दन के ह्रदय में आक्रोश और घृणा की तीव्र भावना उठ जाती है। साम्यवादी विचारधारा का उन पर प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। **ति. जानकीरामन् :** तमिलनाडु का तंजाऊर ज़िला न केवल धान की खेती के लिए ही मशहूर है, वरन् संगीत, नृत्य, नाट्य आदि कई प्रकार की ललित कलाओं के लिए भी मशहूर है। ति. जानकीरामन् इसी तंजाऊर ज़िले के निवासी हैं। अपनी कहानियों में वे आंचलिक परिवेश, भाषा-शैली का सुंदर प्रयोग कर पाठकों को मुग्ध कर देते हैं। शहरी जीवन के चित्रण की अपेक्षा ग्रामांचल के चित्रण में जानकीरामन् का मन विशेष रूप से रमता है। **अखिलन :** तमिष् कहानी-साहित्य के एक विशिष्ट

हस्ताक्षर हैं। अपने उपन्यासों की वज़ह से अधिक मशहूर हैं। **कु. अळगिरिसामि** ने पुदुमैप्पित्तन की राह पर चल कर बाद में अपना मार्ग बना लिया। जीवन के यथार्थ की पकड़ उन की कहानियों में मज़बूत है।

अखिल भारतीय स्तर पर जब भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम तीव्र गति से चल रहा था, उन दिनों तमिल प्रदेश में एक नया 'स्वाभिमान आंदोलन' चला। प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता ई.वे. रामास्वामी नायक्कर अपने मतभेद के कारण कांग्रेस संस्था से अलग हुए। 'जस्टिस पार्टी' का उदय हुआ और बाद में उन्होंने स्वयं ही उच्च वर्ग के ब्राह्मणों के एकाधिकार के विरुद्ध अभियान शुरू करते हुए 'स्वाभिमान आंदोलन' शुरू किया। इस का प्रमुख उद्देश्य ब्राह्मण जाति के लोगों के एकाधिकार का डट कर विरोध करना, समाज में फैले अंधविश्वास, निरर्थक रूढ़ियों का डट कर सामना करना आदि रहा है। अपने विचारों एवं उद्देश्यों को फैलाने के संदर्भ में उन्होंने अन्य साधनों के साथ-साथ कहानियों का भी सहारा लिया। 'द्राविड़ मुन्नेट्र कळाम' पार्टी के उस समय के नेता अण्णादुरै, करुणानिधि, टी.के. श्रीनिवासन, तिल्लै विल्लाळन् आदि प्रमुख कहानीकारों ने प्रचारात्मक कहानियाँ लिखीं जिन में कलात्मक सौन्दर्य का अभाव रहा।

सातवें दशक की तमिष़ कहानी का अपना मुख्य आधार सामाजिक जीवन से उस की संपृक्ति और उस के प्रति प्रतिबद्धता है। पिछले दशक अर्थात् साठोत्तरी कहानियों की अपेक्षा कथ्य में वैविध्य और गहराई है। सामाजिक जीवन के जितने भी सरोकार हो सकते हैं, कहानी सब के प्रति पूर्ण सचेत रही है। सातवें दशक के मुख्य कहानीकारों में ति. जानकीरामन्, अशोकमित्रन्, इंद्रिरा पार्थसारथी, जयकांतन्, सुंदर रामस्वामी, कि. राजनारायण, ला.सा. रामामृतम्, मौनि, वेणुगोपालन्, सुजाता, नील, पद्मनाभन, वण्णदासन, वण्णनिलवन्, पूमणि पा. जयप्रकाशम्, आदवन् सुंदरम्, मालन्, नकुलन्, सिन्धुजा, सुब्रह्मण्य राजू, बालकुमारन्, राजेन्द्र चोलन्, मलरमन्नन्, मुत्तुस्वामी, राजाराम, वल्लिक्कण्णन्, सा. कंदस्वामी, इंदुमति, वासंती, कोमक्ळ, तामरै, अनुत्तमा, राजम कृष्णन्, लक्ष्मी, अम्बै, शिवशंकरी, विमला रमणी आदि प्रमुख हस्ताक्षर माने जाते हैं।

तमिष़ में प्रति वर्ष लगभग डेढ़ हज़ार से अधिक कहानियाँ प्रकाशित होती हैं। सिनेमा के कुप्रभाव ने कहानियों के स्वाभाविक विकास में बाधा उपस्थित की है। अंग्रेज़ी भाषा के प्रभाव ने भी तमिष़ भाषा के स्वाभाविक विकास को कुंठित कर दिया है। पाठकों एवं रसिकों के बीच सही आलोचना की दृष्टि का न होना भी एवं साहित्यिक दृष्टि को छोड़ कर वणिक वृत्ति अपनाने वाली पत्रिकाओं के प्रचार-प्रसार आदि ने सातवें दशक के तमिष़ साहित्य की प्रगति में रुकावट डाली। फिर भी इस दशक की कहानियाँ समाज के निम्नवर्ग के पीड़ित, शोषित ग़रीब मानवों की दयनीय दशा के प्रति समवेदना और सहानुभूति प्रदर्शित करती हैं।

इन में अधिकतर महिला कहानीकार रहीं जिन में उल्लेखनीय नाम हैं—अम्बै, राजम कृष्णन् चूड़ामणि, शिवशंकरी, वासंती, इंदुमति जोतिर्लतागिरिजा आदि। पारिवारिक जीवन-संघर्ष के परिवेश में भावना का ताना-बाना बुन कर यथार्थ पर आधारित कहानियाँ लिखने में भी ये महिला कहानीकार सिद्धहस्त हैं।

सातवें दशक के लेखकों की मानसिकता के अनुसार कहानियों में सब कुछ लिखा जा सकता है। इस प्रवृत्ति के कारण कहानियों में विकृति भी देखने को मिली। सेक्स की खुली चर्चा, यथार्थ चित्रण और उसे चाव से पढ़ने वाले पाठकों की संख्या में वृद्धि के कारण इस दशक की कहानियाँ एक हद तक बदनाम भी हो चुकी हैं।

इतना होते हुए भी पाठकों के मन में अमिट प्रभाव डालने वाली स्तरीय कहानियों की भी कमी नहीं रही। कि. राजनारायण की कहानियाँ भुवनम् वंदतु, नील पद्मनाभन की तूंडुदल, अळैप्पु, पोरुत्तम्, उयिर, रद्रिवासि, मौनम्, नैवेद्यम्, भयम्, बौधे-अबार्शन् आदि कहानियाँ, वण्णदासन् की तकुमै, नोण्डिच्चिकळुम्, वेरिनाय्क्ळुम्,

परप्पदर्कु मुन् कोंजम् पुळुकळाक, जन्नल्, ज्ञापकम्, ऊपैप्पडंगळ्, —आर. चूड़ामणि की ओरु बदिलुक्काक, लेसान पयणम्, रविक्कै, चेडि ओन्रु मरम् इरंडु, अशैवम्, परोपकार्तम्, तोळुंपै, आदि— सुजाता की वीट्टुक्केट्र वतंति-जन्नल्, रूम नं. 17, एदिर वीडु, तम्बि—गोदा पार्थसारथी की तळुंबु, ओरु तोळिललि यिन् इनक्कम्, एंगळ् वीट्टिलुम् ओरु टेलिप्रिन्टर—इंदिरा पार्थसारथी की प्रबंध रामायण, ओरु पुदियासपूहम् उरुवाकिरदु, स्टाक टेकिंग—दुर्मु शिवराम की सदुर चिरकु—आदवन् की ओर अरैयिल् इरंडु नारकालिकळ्, पड़ाळ् इल्लाद पत्तिरिक्कै, इंद मरम् साक्षियाक, पुदुमैप्तिनीन् दुरोकम्—वा. कंदस्वामी की वाळ्, मेय् पोरुळ्, पिरियुम इळैकळ्—विमला रमणि की पूप्पावाडै—मलरमन्नन् की अणिवुगप्पु, ग्रामण् पुरत्तु बस स्टाप्पिल् ओरु नकर पुरत्तु इळैज्ञन्, अर्प जीविकळ्—कृष्णन् नम्बि की मरुमगळ् वाक्कु, नैवेद्यम्—बालकुमारन् की नेट्टि बोम्मैकल्, वळि् मयक्कम्, ओट्टै कागम्—इंदुमति की संगमित्रा केशव एम.ए., वीटियिल् ओडुम् इळैज्ञन्, सुमै तांगिकळ्—राजम् कृष्णन् की पौड़र, कल्याण वीट्टिल् विडुतलै, कुटुंबम—वण्णन निलवन् की कलैज्ञनिन् कुळप्पंगळ्, दया-अंडै वीट्टार, पुट्रिल उरैयूम् पांबुकळ्, कोण्ल् वडिवंगळ्—ऊषा सुब्रह्मण्यम् की दर्मगळुम् नियायंगळुम्, चलनम्, नीयुमा ब्रूटस—वासंती की काणामल् पोन आडु, अंतरंगह्—नां मुत्तुस्वामी की सूळूनिलै, नोरू वरवेरपिन् मुडिवुरै, नेरमै—ला.सा. रामामृतम् की इवळो, —युगसंधि, अस्डु—वळ्ळिक्कण्णन् की सूयदरिसनम्, दिडीर कुबेरन्, अशोकमित्रन् की अप्पावम् पिळ्ळेयुम्, इंद ओरु ज्ञायिरु मट्टुम, इरु नण्बरगळ्, कुतूहलम्, प्रत्यक्षम्, अम्मावुम् पिळ्ळेयुम्—सुब्रहमण्यराजू की इन्नोरु पक्कम्, नाल पेर, इरु ट्टिटल् नित्र, नालै मुदल्—सुंदर रामस्वामी की वासनै, पल्लक्कु तूविकळ्, अळैप्पु—मौनि की तवरु—शिवशंकरी की पोळुटु, तायुमै, अटुक्कु एन्न, अम्मावक्काक ओरु ओयू, ट्रंक कॉल आदि सातवें दशक की उल्लेखनीय कहानियाँ मानी जा सकती हैं।

सातवें दशक के प्रसिद्ध कहानीकार अशोकमित्रन् हैं। शहरी जीवन के मध्यवर्ग के लोगों की समस्याओं को इन्होंने अपनी कहानियों में चित्रित किया है। मंजळ् कार्येरु, मणल् आदि प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। न. मुत्तुस्वामी संस्कृति एवं आध्यात्मिक चित्रों को कहानी का रूप देने में दक्ष हैं। जीवन की घटनाओं को नाटकीय रूप दे कर चित्रित करने में उन की विशेष अभिरुचि है। उन की वास्तविक प्रवृत्ति भी नाटक की ओर रही है।

सामाजिक यथार्थ की चेतना से युक्त कहानीकार जयकांतन् में अपार कल्पना देखी जा सकती है। सातवें दशक में उन की क़लम सक्रिय रही है, यद्यपि संख्या की दृष्टि से रचनाएँ कम ही हैं। चा. कंदस्वामी इस दशक के अन्यतम हस्ताक्षर हैं। ग्रामीण जीवन के चित्रण के प्रति इन की रुचि रही है। युवा-पीढ़ी पर आस्था रखने वाले कंदस्वामी ने जिस विश्वास के साथ समकालीन युवा पीढ़ी की शक्ति, क्रियाशीलता एवं भविष्योन्मुख प्रवृत्ति का गहरा चित्रण अपनी कहानियों में प्रस्तुत किया है, वैसा विश्वास अन्य कहानीकारों में कम मिलता है। वण्णनिलवन् की कहानियाँ समकालीन कहानी-साहित्य के लिए आशा जगाने वाली हैं। शुद्ध प्रेम और विश्वास से युक्त मानवों की सृष्टि इन्होंने अपनी रचनाओं में की है। जी. नागराजन् ने अपनी अल्प आयु में जो कहानियाँ तमिष़ को दी हैं वे बड़ी धरोहर हैं। दुर्भाग्यवश पुदुमैप्पित्तन्, मु. इळयसिंगम् जैसे कथाकारों के समान अपनी छोटी उमर में ही चल बसे। कम और नपे-तुले शब्द-प्रयोगों द्वारा मानव मन की प्रवृत्ति को जिस कोण से वे देख कर चित्रित करते थे, वह इन की रचनाओं की विशिष्टता मानी जाएगी। मानवीय बलहीनताओं और ग़लतियों को तीसरे कोणों से भी देखना उचित होगा, इस विचार पर ज़ोर देने वाले नागराजन् ने यह स्पष्ट किया कि जीवन-प्रवाह में मानव के जीवन में घटित घटनाओं के लिए वही एकमात्र कारण नहीं हो सकता। पापी आत्माओं की ओर से आवाज़ देने वाले वे अकेले कथाकार थे जिन्होंने मानव को पूरी संवेदना एवं सहानुभूति के साथ समझने का प्रयास किया है। जी. नागराजन वास्तव में तमिष़ कथा-साहित्य के ग्राम-कथाकार माने जाते हैं।

आठवें दशक की कहानियाँ :

आठवें दशक में जिस परिमाण में अधिक गुणात्मकता की दृष्टि से जितनी अच्छी कहानियाँ लिखी जा रही हैं वह इस विधा की लोकप्रियता का प्रमाण है। सामाजिक जीवन में गहरी संपृक्ति, कथ्य में वैविध्य तथा गहराई आदि इस के लक्षण हैं। विविधता वस्तु में अधिक दीखती है, शिल्प में कम। आज की कहानी पारंपरिक कला का अनुकरण नहीं करती। घटनाओं के विस्तार की अपेक्षा मनःस्थिति एवं मनोदशा का सूक्ष्म वर्णन अधिक मिलता है। तमिष़ के समकालीन कहानी साहित्य के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर अशोकमित्रन् की *उत्तर रामायण* में संकलित कहानियों में नई चेतना है, शैली-शिल्पगत नूतनता भी। अनुराधा रमणन् ने कहानी-संकलन *भुवना एन्नुम् पुयल्*, *तुणैयाक ओरु पार्वै* और *एत्तनै कालम् एनक्काक* में, उषा सुब्रह्मण्यम् ने *वानत्तु वेलिकळ्* संग्रह में आज की पंकिल सामाजिक विधि व्यवस्था, विखंडित पारिवारिक जीवन का मार्मिक चित्रण किया है। विमलादित्य मामल्लन् के कहानी संग्रह में मानसिक यंत्रणा, वेदना तथा तज्जनित चेतना बोध का विशद चित्रण है। विक्रमन् की कहानियों के पात्र साधारण मनुष्य की स्थिति तथा मानवीय गुणों को उद्घाटित कर पाठकों के सम्मुख उस का एक स्वस्थ निर्धारण प्रस्तुत करना चूड़ामणि की कहानियों का लक्ष्य प्रतीत होता है। भाषा, भाव एवं शिल्पगत नवीनता न होने पर भी विषयवस्तु की मार्मिक संयोजना उन के संकलन *अम्मा* की विशेषता है। *इन्नुम एत्तनै पेण्कलो* राजलक्ष्मी सुब्रह्मण्यम् का कहानी संकलन है, जिस में प्रेम ही मुख्य उपजीव्य लगता है। कई कहानियों में प्रेम जनित व्यथा का मार्मिक चित्रण परिलक्षित है। जीवन के हर क्षेत्र में दीख पड़ने वाली उच्छृंखलता का चित्रण भी है। आठवें दशक की तमिष़ कहानी अत्यंत उर्वरा है। अनेक नाम उभर रहे हैं और अपनी पहचान बना रहे हैं। मनुष्य की कोमल भावनाओं को महत्त्व प्रदान किया जा रहा है। सहजता का अधिक महत्त्व है। चमत्कारिक शिल्पगत प्रयोगों में लेखक अधिक नहीं फँसता।

किताबें-1

अमर गोस्वामी

तमिष़ असमिया उर्दू : चार उपन्यास

मानव अस्तित्व के विभिन्न पहलुओं की पड़ताल हमेशा ही रचनाकारों का प्रिय विषय रहा है। विश्व के सभी समर्थ रचनाकारों के सामने मानव अस्तित्व अपनी जीवंतता या अपनी पहचान या अपने रहस्य को ले कर चुनौती बना रहा है। सार्त्र का अस्तित्ववाद हो या विवेकानंद का व्यावहारिक वेदांत, सभी ने इस अस्तित्वबोध को ही अपने-अपने तरीक़े से व्याख्यायित किया है। इस का असर साहित्य पर भी पड़ा। भारतीय जीवन-दर्शन में अस्तित्व का संघर्ष जीवन के सुख-दुख के बीच समरसता की भावना के साथ, आनंद की मंगल कामना के साथ अभिव्यक्त होता रहा है। अस्तित्व के बहाने जीवन सूत्रों की छान-बीन भारतीय रचनाकारों का प्रिय विषय रहा है। भारतीय रचनाकारों के जीवन मूल्यों को भी अस्तित्व का ही अंग माना है और इस की निजी गहरी व्याख्याओं ने ही उन की कृतियों को मौलिकता प्रदान की है।

यहाँ जिन उपन्यासों की चर्चा की जा रही है उन में अस्तित्व का संघर्ष और जीवन-मूल्यों को बहुत गहराई से देखने की कोशिश है। चाहे तमिष़ के राजमकृष्णन के *खारे मोती* और *माटी के लाल* उपन्यास हों, होमेन बरगोहाईं का *अस्तराग* हो, या जोगेन्द्र पाल का *ख़्वाबरौ* हो, इन सभी में अलग-अलग तरीक़े से मानवीय जीवनानुभूतियों को उन के अस्तित्व के संदर्भ में विवेचित करने की कोशिश साफ़ नज़र आती है।

खारे मोती और *माटी के लाल* की लेखिका राजमकृष्णन छठे दशक की एक महत्त्वपूर्ण तमिष़ लेखिका हैं। समाज के उपेक्षित वर्गों के प्रति उन के मन में अपार करुणा है जो उन के उपन्यास *खारे मोती* में परिलक्षित होती है। *खारे मोती* उन की पुस्तक *करिप्पु मणिगल* का हिन्दी अनुवाद है। यह तमिलनाडु के तुतुकुडी क्षेत्र में बसे नमक के कामगारों के दैनिक जीवन के दुख-दारिद्र्य और उन पर होने वाले निरंतर शोषण की कथा-व्यथा पर आधारित है। तमिलनाडु में मद्रास से ले कर पूरे तटीय भाग में लवण पटल है। ये नमक ही खारे मोती हैं। जिस तुतुकुडी क्षेत्र की कथा इस उपन्यास में है, वहाँ पर कम लागत में स्तरीय नमक बनाया जाता है। नमक के लिए सूरज की गर्मी और सूखी हवा वहाँ वर्ष के दस महीनों में उपलब्ध रहती है। नमक पटल के मालिकों की ओर से उन के मुंशी और ठेकेदारों का दबदबा रहता है और सही अर्थों में वे इन मज़दूरों के लिए जोंक साबित होते हैं।

नमक देखने में जितना उजला होता है, उस के उत्पादन के पीछे का तंत्र उतना ही काला और भयावह है। हाल ही में प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार, अभी भी नमक पटल पर काम करते समय मज़दूरों को जीवन की कई

बुनियादी सुविधाओं से वंचित रहना पड़ता है। पीने का स्वच्छ पानी, चिकित्सा सुविधाएँ, अवकाश, बरसात के कामबंदी के दिनों में वैकल्पिक रोज़गार, लंबे समय तक काम करने के बाद भी नौकरी की अनिश्चितता, पुरुषों का आर्थिक और स्त्रियों का आर्थिक एवं यौन शोषण जैसे प्रश्न और समस्याएँ उन के साथ हैं। नंगे पैरों और ख़ाली हाथों से काम करने के कारण कामगारों के हाथ-पैरों में छाले पड़ जाते हैं, जो फूट कर घाव बन जाते हैं। इस के अलावा, नमक की चुँधियाने वाली रोशनी उन की आँखों को नुकसान पहुँचाती है। आँखों से लगातार पानी रिसने और नज़र कम होते-होते अंधे हो जाने और फिर असमय ही बेकार हो जाने के ख़तरों से इन कामगारों को लगातार जूझना पड़ता है।

राजमकृष्णन ने खुद तुत्तुकुडी में जा कर वहाँ के कामगारों—बूढ़ों, युवकों, स्त्रियों, बच्चों की दुर्दशा को देखा। *खारे मोती* उपन्यास में कण्णुसामी और उस की पत्नी मरुंदाबाल मुख्य चरित्र हैं। कसरती शरीर का कण्णुसामी जब एक दिन लवण पटल पर अंधा और दुर्बल हो कर काम करने के अयोग्य हो जाता है, तब पूरी गृहस्थी की ज़िम्मेदारी अकेली उस की दूसरी पत्नी मरुंदाबाल पर आ जाती है। मरुंदाबाल अपने पहले शराबी और आलसी पति को छोड़ कर कण्णुसामी के जीवन में चली आई थी। कण्णुसामी की पहली पत्नी सेवंती अपने बच्चों को ले कर अपने भाई के पास चली गई थी। वहीं उस की मौत भी हो गई। मरुंदाबाल के बेकार हो जाने के बाद आर्थिक ख़र्चों से निपटने के लिए मरुंदाबाल खुद जा कर कण्णुसामी की बेटी और उस के लड़के को लिवा लाती है। मरुंदाबाल बहुत मेहनती थी और ज़िन्दगी के यथार्थ को भी बेहतर समझती थी। इसलिए उस ने कण्णुसामी की अठारह वर्षीया बेटी पोन्नाच्ची को ला कर लवण पटल पर काम में लगा दिया। ठेकेदार नाच्चप्पन की भूखी नज़रें पोन्नाच्ची के पीछे लगी रहीं। पोन्नाच्ची ने भरसक प्रतिकार भी किया पर एक दिन उसे नाच्चप्पन के बलात्कार का शिकार भी होना पड़ा। उस लवण पटल में यह मामूली बात थी। पोन्नाच्ची के जीवन में रामसामी का प्यार बहुत बड़ा सहारा बन कर आया। रामसामी मज़दूरों के दिल में आवाज़ उठाने वाला एक युवा कामगार था। मालिक का विरोध करने के कारण उस की नौकरी भी चली गई थी मगर उस ने हिम्मत नहीं हारी। उसी ने पोन्नाची से शादी करके उसे सहारा भी दिया और तुत्तुकुडी के नमक पटल के मज़दूरों को संगठित करके उन के अधिकारों के लिए आवाज़ भी उठाई।

इस उपन्यास का एक सशक्त चरित्र है—ताई। ताई के पटल के बड़े मालिक से कभी अंतरंग संबंध थे। मालिक अभी भी इस संबंध को निभाते चले आ रहे थे। ताई ने इस सूत्र के चलते हमेशा पटल के लोगों की बेहतरी के लिए कोशिश की। वह उन्हीं के बीच रहती थी और ज़रूरतमंदों को रोज़गार दिलाने में तथा वक़्त-बेवक़्त उन्हें उधार पैसे दे कर उन की मदद करती थी। पोन्नाच्ची और रामसामी जब मज़दूरों के हितों की लड़ाई लड़ रहे थे उस वक़्त उन की सब से बड़ी मददगार यही ताई बनी। स्वयंभू नेताओं और व्यवसायियों के दिन कैसे मज़दूरों के जीवन को कठिन और नरक तुल्य बना देते हैं इस पर हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में ढेरों उपन्यास और कहानियाँ लिखी गई हैं। पर लवण पटल पर होने वाला शोषण और वहाँ के मज़दूरों की कथा-व्यथा शायद पहली बार इतनी सशक्त रूप से किसी भारतीय भाषा में लिखी जा कर हिन्दी में पहली बार अनुवाद के रूप में सामने आई है। पुस्तक के अंत में राजमकृष्णन के व्यक्तित्व और कृतित्व पर एक लेख भी है और उन से लिया गया एक साक्षात्कार भी। राजमकृष्णन और उन की रचना प्रक्रिया को समझने के लिए हिन्दी के पाठकों को इस से बहुत मदद मिलेगी।

खारे मोती में जिस तरह तुत्तुकुडि के मज़दूरों के अस्तित्व संघर्ष का चित्रण है, उसी तरह *माटी के लाल* में तंजौर ज़िले के गाँवों में रहने वाले दलित वर्ग के लोगों के जीवन-संघर्ष का चित्रण है। यह उन के तमिष़ उपन्यास *सैट्रिल मनिदरगल्*

का हिन्दी अनुवाद है। इस उपन्यास में राजमकृष्णन ने भारतीय किसानों के उन हालातों का चित्रण किया है जो आज भी उन की सामाजिक-आर्थिक उन्नति में बाधक हैं। भारत एक कृषि प्रधान देश है। जब तक इस देश के किसानों की सामाजिक-आर्थिक बेहतरी नहीं होती तब तक देश की आर्थिक धुरी कमज़ोर ही रहेगी। लेखिका के अनुसार भारत में तब तक समाजवाद सही रूप में नहीं आ सकता, जब तक कि वहाँ के कृषि व्यवसाय को अन्य व्यवसायों से श्रेष्ठ नहीं समझा जाएगा।

किलियंदुरै के हरिजन किसानों को अपने दैनिक जीवन में गाँव के सवर्णों की ओर से तरह-तरह की बाधाओं का सामना करना पड़ता है। इन की ओर से षण्मुखम् हरिजनों की समस्याओं को ले कर लगातार लड़ते रहते हैं और उन्हें न्याय दिलाने की चेष्टा करते हैं। षण्मुखम् किसान संघ के अध्यक्ष हैं। पूरे गाँव के हरिजनों को उन पर भरोसा है। वे स्वतंत्रता सेनानी रह चुके हैं। पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध उन का संघर्ष लंबे समय से जारी है। उन की पूरी जवानी आंदोलनों, पुलिस की लाठियों और मुक़दमेबाज़ी के दाँव-पेंचों में कटी। पुलिस और सवर्ण ज़मीन्दार के रिश्तों को वे बख़ूबी समझते हैं। उन्हें बाद में इसी बात का अफ़सोस होता है कि इतने संघर्ष के बाद भी गाँव में सवर्णों का अभी भी प्रभुत्व क़ायम है और छोटे-छोटे अधिकारों को पाने के लिए भी उन्हीं पर आश्रित रहना पड़ता है।

आज़ादी के बाद भारतीय किसानों में, ख़ास कर दलितों में, बदलाव नज़र आता है। दलित इस बात को समझ गए हैं कि हक़ को हासिल करने के लिए क्रांति ज़रूरी है। इसी क्रांति की मानसिकता के कारण दक्षिण में नक्सलवादी आंदोलनों ने भी ज़ोर पकड़ा। उपन्यास में षण्मुखम् की पीढ़ी से ले कर देबू और कांति की युवा पीढ़ी भी आंदोलनों के ज़रिए ही अधिकार मिलने की बात समझ कर एक ही मंच पर इकट्ठे होने लगे हैं।

राजमकृष्णन के उपर्युक्त दोनों ही उपन्यासों में आज़ादी के बाद की ग़रीबी और शोषण का चित्रण है और इस के माध्यम से इन दोनों ही कृतियों में यह सवाल उठाया गया है कि क्या आज़ादी की लड़ाई इसलिए लड़ी गई थी कि मज़दूरों-किसानों-दलितों पर शोषण का परंपरागत चक्र बना रहे और उन्हें आर्थिक तौर पर ग़ुलाम बनाए रखा जाए? लेखिका ने यह सवाल उठाया है कि धरती माँ जब अपने सभी बेटों के लिए अपनी निधियाँ मुक्त हस्त से लुटा रही है तब उन में इस तरह का ज़ाहिलाना भेदभाव क्यों किया जाता है? दोनों ही उपन्यास कई सवाल खड़े करते हैं और हमारी व्यवस्था के विद्रूप चरित्र को पेश करते हैं। अपने उद्देश्य और प्रभाव में दोनों ही उपन्यास पाठकों के मन में गहरी छाप छोड़ जाते हैं।

सुमति अय्यर ने, जो हाल में दिवंगत हुईं, इन दोनों ही उपन्यासों का अनुवाद किया है। अनुवाद अच्छा हुआ है पर *माटी के लाल* में तमिषभाषी हरिजनों तथा सर्वहारा वर्ग के मुँह से उन्होंने जिस तरह अवधी कहलवाई है, वह कथा के रस-प्रवाह में बाधक है। अवधी भी उन की शुद्ध नहीं है। बिटिया के लिए बार-बार लौंडिया शब्द का प्रयोग भी खटकता रहा है। भूमिका में तमिष़ उपन्यास परंपरा में राजमकृष्णन के योगदान पर उन का लिखा लेख उपयोगी है।

असमी लेखक होमेन बरगोहाईं के *अस्तराग* में जीवन का एक दूसरा ही पक्ष उपस्थित हुआ है। अस्तित्व का संघर्ष यहाँ एक भिन्न रूप में है। जीवन का यह पक्ष व्यावहारिक भी है और दार्शनिक भी। *अस्तराग* में मानवीय संवेदना का एक अलग पक्ष प्रस्तुत है। यह विषय है वृद्धावस्था और व्यक्ति का संसार। *अस्तराग* एक पीढ़ी की अस्तगामी यात्रा की करुण कहानी है, जिस में लेखक ने अपनी अस्तित्ववादी आस्थाओं और धारणाओं का सूक्ष्म विवेचन किया है। होमेन बरगोहाईं की रचनाओं में विश्लेषण का तत्त्व प्रचुर मात्रा में मिलता है। पत्रकार

होने के कारण उन्होंने मानव जीवन को उस की विविधता में और वैचित्र्य में देखा है और उस के क्रियाकलाप के आंतरिक विश्लेषण में भी उन की रुचि रही है। फ्रॉयड के मनोविश्लेषणवादी दर्शन और सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन से वे प्रभावित रहे हैं।

अस्तराग में उन का अस्तित्ववादी विश्लेषण बहुत मुखरता से अभिव्यक्त हुआ है। वृद्धावस्था प्राणीमात्र के लिए अनिवार्य है, उसे टाला नहीं जा सकता। मगर वृद्धावस्था आधुनिक समाज में बहुत बड़ा अभिशाप बनती जा रही है। आधुनिक लोगों को मृत्यु से भी भयानक यह बुढ़ापा लगता है, इतना भयानक कि अपने निकट आत्मीय के बुढ़ापे को वे बोझ समझने लगते हैं। आज के व्यक्ति को अगर सब से ज़्यादा तकलीफ़ किसी बात से होती है तो वह बूढ़ों के बीच वक़्त गुज़ारने से होती है।

अपने प्रिय का बुढ़ापा और उस से गुज़रते हुए मौत की दहलीज़ तक पहुँचने की स्थिति से पश्चिम के आम लोग भी आतंकित रहते हैं। सिर्फ़ आम लोग ही क्यों, इस आतंक से वे भी गुज़रे हैं जिन्होंने अपनी सोच से दर्शन और साहित्य को नई दृष्टि दी। जर्मनी के प्रसिद्ध साहित्यकार गेटे ने लिखा है कि वे अपनी माँ की मृत्युशैया के पास उस के बार-बार बुलाने पर भी नहीं जा पाए थे। माँ को वे बहुत चाहते थे इसलिए अपनी माँ की लाचार दशा देखने के लिए वे अपने को तैयार नहीं कर पाए। वृद्धावस्था की लाचारी ने सार्त्र, इब्सन, इमरसन—किसी को भी नहीं छोड़ा। सार्त्र मानव को एक तरह से दुनिया का सब से शक्तिमान प्राणी मानते थे। उस के बारे में वे कहते थे कि वह अपना स्रष्टा स्वयं है, क्योंकि 'स्वतंत्र' है। यह 'स्वतंत्रता' अभिशाप के रूप में मिली, पर थी स्वतंत्रता ही, मगर वही सार्त्र बुढ़ापे में अपने कपड़ों में शौच कर बैठते थे। इमरसन अस्सी वर्ष की आयु में 'सेनाइल डिमेन्सिया' (स्मृतिभ्रंश) के शिकार हो गए थे, हालाँकि वे उस समय भी गंभीर दार्शनिक रचनाओं की सृष्टि कर रहे थे। अपने ज़माने के प्रसिद्ध नाटककार इब्सन की सत्तरवें वर्ष में यह हालत हुई कि पक्षाघात के बाद उन की स्मरण शक्ति भी विलुप्त हो गई। ख़ाली वक़्त में वे वर्णमाला सीखने की कोशिश करते थे।

यह सब तो इस शरीर के साथ होता ही रहता है, मगर लेखक ने इस बात को गहराई से महसूस किया है, जिसे उस ने दिलीप के पिता से कहलवाया है। आधुनिकता की सब से भयावह परिणति यह है कि वह अपने प्रिय स्वजनों के बुढ़ापे से डरने लगा है। इतना ही नहीं, यह डर धीरे-धीरे नफ़रत में भी बदलने लगा है। कथानायक दिलीप और उस के पिताजी के ज़रिए आधुनिक समाज की इस परिणति और पढ़े-लिखे व्यक्ति के स्वभाव का उपन्यासकार ने लगातार विश्लेषण किया है और इस के ज़रिए परिवार के बदलते मूल्यों और नैतिकता का पर्दाफ़ाश किया है। दिलीप के पिताजी जब दिलीप के शहर के मकान में आ कर उन के पड़ोसी के माता-पिता से मिलते हैं तो उन्हें पड़ोसी दंपति की बातों से यह जान कर बड़ा आश्चर्य होता है कि शहरों में अब पढ़ी-लिखी लड़कियाँ ऐसी जगह विवाह करना पसंद करती हैं जहाँ पर वर के वृद्ध माता-पिता न हों। वे सास-ससुर की बुढ़ापे की तकलीफ़ों के साथ अपने को जोड़ा जाना पसंद नहीं करतीं।

दिलीप के पिता को लगता है कि इस मामले में पुरानी पीढ़ी ज़्यादा खुशनसीब थी। संयुक्त परिवार में जब परिवार के सभी लोग एक साथ और एक ही जगह रहते थे तब घर के बड़े-बुज़ुर्गों की दुनिया इतनी अकेली नहीं होती थी। उन्हें अपनी सेवा-सुश्रुषा में भी कोई कमी नहीं महसूस होती थी। मगर आधुनिक समाज की नज़रों में बुढ़ापा एक अपराध हो गया है। ऐसा क्यों होता जा रहा है? क्या इस का कारण आज की शिक्षा व्यवस्था भी है?

इस उपन्यास का प्रारंभ दिलीप के तिरासी वर्षीय पिता की अस्वस्थता के तार से होता है। पिता की जीर्ण अवस्था दिलीप से देखी नहीं जाती। वह उस से बचना चाहता है। उसे याद आता है कि उस के दोस्त कार्तिक बसु और चंद्रमा की भी अपने अशक्त पिता को ले कर यही हालत थी। उपन्यास की कहानी दिलीप के गाँव जाने, वहाँ से

पिता को अपने साथ लाने, फिर उन की मृत्यु तक चलती है। दिलीप बार-बार उपन्यास में आए विभिन्न पात्रों के साथ वृद्धों के साथ उन के अनुभवों का विश्लेषण करता है और इस क्रूर सत्य तक पहुँचता है कि एक दिन उस के बच्चे भी उसे इसी तरह तिरस्कृत करेंगे। उसे भी इसी तरह तिल-तिल कर मरते हुए मृत्यु का वरण करना होगा। आज के मानव की यही नियति है। *अस्तराग* का एक उज्ज्वल चरित्र है—कालीराम पंडित। गाँव के साधारण स्कूल का एक सामान्य पढ़ा-लिखा अध्यापक। वे दिलीप के पिता के मित्र समान हैं। हर व्यक्ति की सेवा करने के लिए हमेशा तत्पर।

यह उपन्यास जीवन के एक बड़े निर्मम सत्य से साक्षात्कार कराता है। व्यक्ति और उस के परिवेश दोनों को ही होमेन बरगोहाईं ने बहुत संवेदनात्मक ढंग से चित्रित किया है। प्रकृति चित्रण में उन का कवि रूप भी बहुत मुखर हो उठा है। जिस परिवेश से व्यक्ति जुड़ा रहता है, उस से मुक्त हो पाना कितना कठिन होता है, इसे भी उपन्यास में बख़ूबी व्यक्त किया गया है।

डॉ. महेन्द्रनाथ दुबे की अनुवाद की भाषा भी मूल उपन्यास की तरह ही प्रांजल और प्रवाहपूर्ण है। भूमिका में असमिया उपन्यास और लेखक होमेन बरगोहाईं के बारे में जो जानकारी दी गई है, उस से पाठक लाभान्वित होंगे।

उर्दू के चर्चित उपन्यासकार जोगेन्द्र पॉल के नए उपन्यास *ख़्वाबरौ* में अपनी ज़मीन से उजड़ कर नई ज़मीन में बसने और वहाँ की परिस्थितियों में अपने को पूरी तरह से एकसार न कर पाने की पीड़ा व्यक्त हुई है। यह दुख है उन मुस्लिम शरणार्थियों का जो भारत की धरती को छोड़ कर पाकिस्तान चले गए हैं। वर्षों रहने के बाद भी वे वहाँ मुहाज़िर (शरणार्थी) ही हैं और वहाँ के रहने वालों की नज़रों में वे दूसरे दर्जे के नागरिक बने हुए हैं। जो मुसलमान यहाँ की गंगा-जमुनी तहज़ीब में पल कर बड़े हुए हैं उन्हें तो वहाँ रहने में और भी मुश्किलें आती हैं। न वे वहाँ के पंजाबियों से मिल पाते हैं (वहाँ के पंजाबी अभी भी वहाँ के ग़ैर-पंजाबियों को हिन्दुस्तानी ही समझते हैं) और न वहाँ के सिन्धियों से। सिन्धी भारत से जा कर वहाँ बसे लोगों से नफ़रत करते हैं और आए दिन कहीं न कहीं बम फूट जाता है, ख़ूनी वारदातें हो जाती हैं।

यह पूरा उपन्यास नवाब मिर्ज़ा कमालुद्दीन, जिन्हें लोग दीवाने मौलवी साहब कहते हैं, और उन के परिवार की जद्दोजहद की दास्तान है। मिर्ज़ा कमालुद्दीन सनकी हैं और अपनी सनक में वे समझते हैं कि कराची में होते हुए भी अपने शहर लखनऊ में ही आबाद हैं। उन्होंने वहाँ अपना अलग लखनऊ बसा रखा है। सिर्फ़ वहीं क्यों और भी लोगों ने वहाँ पर अपना मेरठ, मुरादाबाद, मलीहाबाद, आज़मगढ़ या इलाहाबाद तक बसा रखा है। मिर्ज़ा कमालुद्दीन के साले हकीम जमालुद्दीन ने तो वर्षों की लगातार कोशिशों से अपनी हवेली के पिछवाड़े कराची की धरती पर मलीहाबादी आमों का बाग़ तक तैयार कर रखा है। ये सभी लोग अपने परिवारों के साथ कराची पहुँच ज़रूर गए हैं पर बड़े-बुज़ुर्गों का वहाँ पर जीने का रवैया वही है जैसा वे अपने हिन्दुस्तान में ही रह रहे हों। कराची के सिन्धी माहौल में उन्हें अपनी प्यारी उर्दू ज़बान के लिए तरसते हुए, इस नवाबी ज़माने की तहज़ीब के लिए तरसते हुए देखा जा सकता है। मौलवी साहब का बड़ा बेटा नवाब मिर्ज़ा भी एक सफल व्यवसायी होते हुए वहाँ के माहौल में अपने को बेगाना समझता है। पाकिस्तान में बसे मुहाज़िर भले ही वहाँ के मूल बाशिन्दों से कितने ही बेहतर हों उन्हें हर पल यही अहसास कराया जाता है कि वहाँ बेगाने हैं। वे अपने ही घर में ग़ैरों की तरह रह रहे हैं। नवाब मिर्ज़ा कमालुद्दीन के छोटे बेटे इसहाक मिर्ज़ा की पैदाइश पाकिस्तान में ही हुई है इसलिए उस में हिन्दुस्तान की ज़मीन के प्रति कोई भी भावुकता नहीं है। वह यही महसूस करता है कि मुसलमान का फ़र्ज़ है कि उसे जहाँ रहना नसीब हो वह वहीं का हो कर रहे। मगर उसे भी हिन्दुस्तान-पाकिस्तान, दोनों मुल्कों के बीच की

दीवार नहीं भाती। सत्ता का यह हाल है कि अगर इन दोनों देशों के नागरिक उन मुल्कों में जा कर जिस-जिस से भी मिल आएँ उन के पीछे ख़ुफ़िया पड़ जाते हैं। हिन्दुस्तान का आदमी पाकिस्तान में और पाकिस्तान का आदमी हिन्दुस्तान में हमेशा संदिग्ध दृष्टि से देखा जाता है। मगर वहाँ की नई पीढ़ी सोचती है कि योरोप के पड़ोसी मुल्कों की तरह ये दोनों मुल्क भी क्यों नहीं प्यार से रह पाते, वीसा वग़ैरह की बाधाओं से क्यों नहीं उबर पाते?

मगर हिन्दुस्तान पाकिस्तान का मसला छोड़ भी दें, तब भी वहाँ के मुसलमानों के बीच ही बनी दूरियाँ मिट नहीं पा रही हैं। *ख़्वाबरौ* पढ़ते हुए मुझे यही लगता रहा कि वाक़ई धर्म से भी बड़ी चीज़ अपनी धरती से मुहब्बत होती है, अपनी संस्कृति से प्रेम होता है। कराची में बसे मुहाज़िरों और वहाँ के सिन्धियों में जो झगड़ा है वह इसी तहज़ीब का है, वहाँ की धरती पर अपने हक़ का है। एक बात यह भी ध्यान देने लायक़ है कि अपने स्वार्थों के लिए ये झगड़े आम जनता पर ऊपर से लादे जाते हैं। इस बात को कराची का एक साधारण चाय वाला और चौकीदार तक समझता है। कराची में मुहाज़िरों और सिन्धियों में शादी-ब्याह के रिश्ते भी होने लगे हैं, पर दिलों की दूरियाँ कम नहीं हुई हैं।

मिर्ज़ा इसहाक की एक चिट्ठी में यह दर्द उजागर हुआ है। यहीं उस ने एक हिन्दू जज चंदानी का उदाहरण दिया है जो मुल्क की आज़ादी के बाद अपने बाक़ी रिश्तेदारों के साथ भारत नहीं गया और सिन्धु देश का निवासी होने के कारण सिन्ध में रहने का अपना हक़ समझा। अब हाल यह था कि वहाँ उसे लग रहा था कि वह अजनबियों के साथ रह रहा हो।

वहाँ सुखी हैं दीवाने मौलवी साहब जैसे लोग जो वहाँ अपने ख़्वाबों की हदबंदी में अपने को महफ़ूज रखे हुए हैं। अपनी फंतासी में ही वे जीते रहे। मगर एक दिन उन का मासूम ख़्वाब टूट गया। उन की हवेली में बम का विस्फोट हुआ और उस हादसे में उन की बेगम, बेटे-बहू, पोतियाँ सभी मारी गईं। दीवाने मौलवी साहब उस वक़्त हवेली में नहीं थे। जब वे लौटे तो वह हादसा देख कर उन्हें इतना सदमा पहुँचा कि उन का पागलपन दूर हो गया। तब उन्हें इस वास्तविकता का एहसास हुआ कि वे लखनऊ में नहीं कराची में हैं। मगर उन के दिमाग़ से आज़ादी के बाद से इतने वर्षों की बातें धुल-पुँछ गईं। उन्हें लगा वे तो कुछ दिनों के लिए अपने बीवी-बच्चों को छोड़ कर लखनऊ से कराची चले आए थे। अब उन्हें जल्दी ही लखनऊ अपने बीवी-बच्चों के पास वापस जाना था। वे लखनऊ जाने की तैयारी करने लगे।

जोगेन्द्र पॉल ने बहुत ख़ूबसूरती से इस पूरे उपन्यास का ताना-बाना बुना है और 'लखनऊ' की फंतासी के ज़रिए उस मानसिकता को स्पष्ट किया है जो अपनी ज़मीन से जुड़े रहने में ही सुखी होती है। बँटवारे होते हैं तो जाने कितने दिल टूटते हैं और यह टूटन सदियों तक इतिहास का सिलसिला बनाए रखती हैं। बँटवारे की यह हक़ीकत है और नई पीढ़ी के लिए चुनौती भी है, ख़ास कर उस पीढ़ी के लिए जो धार्मिक कट्टरतावाद के विरुद्ध संघर्ष कर रही है।

कृष्णा पॉल ने अनुवाद करते वक़्त अगर हिन्दी के शब्दों का ज़्यादा प्रयोग किया होता तो यह अनुवाद और ज़्यादा उपयोगी हो सकता था।

चर्चित किताबें :

खारे मोती : राजमकृष्णन; भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली 110001; पृष्ठ 162; मूल्य 60 रुपए

माटी के लाल : राजमकृष्णन; भारतीय ज्ञानपीठ; पृष्ठ 158; मूल्य 60 रुपए

अस्तराग : होमेन बरगोहाईं; भारतीय ज्ञानपीठ; पृष्ठ 143; मूल्य 55 रुपए

ख़्वाबरौ : जोगेन्द्र पॉल; राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली 110002; पृष्ठ 90; मूल्य 45 रुपए

किताबें-2

मोहन थपलियाल

ओड़िया और हिन्दी के दो कथा-संग्रह

वयोवृद्ध लेखक हंसराज रहबर मूलतः राजनीतिक चेतना से लैस ऐसे कहानीकार हैं जो साहित्य की निर्णायक शक्ति राजनीति को ही मानते हैं [दुर्भाग्यवश रहबर जी का निधन जुलाई, 94 में हो गया—सं.]। पंद्रह कहानियों के अपने नए संग्रह *पथ-कुपथ* में अपनी बात के तहत रहबर का दृष्टिकोण प्रेमचंद के बारे में भी अपनी अलग राय बनाता है। रहबर की दृष्टि में प्रेमचंद की 'कफ़न' कहानी जनवादी परंपरा की नहीं बल्कि 'फ्रॉयडवादी' विचारधारा की कहानी है, क्योंकि इस कहानी के निठल्ले पात्र घीसू और माधो कफ़न के नाम पर भीख माँगते हैं और उन पैसों की शराब पी कर मस्त हो जाते हैं। इस के विपरीत रहबर प्रेमचंद की एक और कहानी 'मुबारक बीमारी' को जनवादी परंपरा की कहानी बताते हैं, जिस में एक बूढ़ा बाप अपनी विचारधारा का स्वागत करते हुए खुले मन से आटा चक्की की ज़िम्मेदारी उसे सौंपते हुए कहता है : 'बेटा तुम कारोबार सँभालो। हम बूढ़े नौजवानों की राह में ख़्वामख़्वाह रुकावट बनते हैं।'

इस प्रकार हिन्दी के मौजूदा कथा-साहित्य के संदर्भ में रहबर की मान्यता है कि हिन्दी की नौजवान पीढ़ी ने प्रेमचंद की 'मुबारक बीमारी' वाली जनवादी परंपरा को भुला दिया और 'कफ़न' कहानी की फ्रॉयडवादी परंपरा को प्रगतिशीलता के नाम पर आगे बढ़ा दिया। रहबर 'अपनी बात' का अंत यह कह कर करते हैं : 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार सही समझ ग़लत समझ के विरुद्ध संघर्ष में विकसित होती है। मैं ने यह संघर्ष किया है। इसलिए मैं साधिकार कहता हूँ कि मेरी ये कहानियाँ जनवादी परंपरा की रक्षा करती हैं।'

इस स्पष्ट घोषणा के बाद, ज़ाहिर है, इस संग्रह की ज्यादातर कहानियों में घटनाक्रम को बुनते हुए लेखक ने अपने तईं राजनैतिक चौकसी बरती है और साहित्य के ज़रिए 'एजिटप्रॉप' का अच्छा उदाहरण पेश किया है। प्रसिद्ध उपन्यासकार जैनेन्द्र कुमार की टिप्पणी इन कहानियों के बारे में इस प्रकार है : 'रचनाओं में उलझन नहीं है। बाँकफेर नहीं है। विचार स्पष्ट हैं। भाव स्पष्ट हैं। भाषा स्पष्ट है। तर्क की असंगति कहीं नहीं मिलती। कोरा सौन्दर्य उन्हें अभीष्ट नहीं है।'

सचमुच रहबर को कोरा सौन्दर्य पसंद नहीं है, इसीलिए *पथ-कुपथ* की ज़्यादातर कहानियों में कुछ प्रेमचंद-स्टाइल सीधी-सरल भाषा में हैं, जैसे 'हो भी और नहीं भी' या 'बुलबुल'। कुछ विशुद्ध राजनैतिक हैं जैसे 'आवाज़ के हाथ' या 'वह नाचीज़ नहीं था'। कुछ अति नाटकीय भी हैं जैसे 'बलजीत कौर' या 'घर और रोमान'। 'गुर्सल' कहानी आत्मसंस्मरणात्मक ढंग से लिखी गई है, जिस में जेल-जीवन के दौरान एक क़ैदी का पक्षी-प्रेम

दिखाया गया है। 'वह नाचीज़ नहीं था' कहानी में हंसराज रहबर ने एक ईमानदार कम्युनिस्ट जीवन शेख के हवाले से एक सच्चे कॉमरेड का दर्द व्यक्त किया है। प्रकारांतर से यह कहानी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास, उस के विघटन और 'संशोधनवाद' तथा 'नवसंशोधनवादी' प्रवृत्तियों का हवाला भी देती चलती है।

अति-नाटकीयता अथवा अत्यधिक दुस्साहसवाद का सबूत 'बलजीत कौर' कहानी है। इस में कहानी की नायिका बलजीत कौर अपने प्रेमी की मक्कारी ताड़ चुकी है। बलजीत कौर का विवाह पहले एक राजनेता के बेटे से हुआ था जो तस्करी का धंधा करता था और पुलिस एवं राजनेताओं को खुश रखने के लिए लड़कियाँ भी जुटाता था। बलजीत इस भ्रष्ट नेता के घर से शादी के चार ही रोज़ बाद रस्सा तुड़ा कर भाग जाती है। एक कॉलिज में प्राध्यापिका की नौकरी करते हुए अब वह अलग फ़्लैट में अकेली रहती है। इसी बीच एक नए प्रेमी जगदेव से उस की मुलाक़ात होती है। बलजीत कौर इस आदमी को पहले भला समझती है, लेकिन एक दिन जब वह दूसरी लड़की से शादी करने के बाद सीधे उसी दिन शारीरिक आनंद के लिए बलजीत कौर के पास आता है तो बलजीत कौर समझ जाती है कि यह आदमी भी भ्रष्ट और पतित है। अपने घर पर वह उस के लिए शानदार दावत का इंतज़ाम करती है, खूब शराब पिलाती है और फिर अंत में उसे क़त्ल कर देती है। क़त्ल करने के बाद बलजीत कौर प्रसन्न है और जब जगदेव का भाई सचदेव पूछने आता है तो वह फ़ौरन हाथ से उधर इशारा कर देती है जहाँ जगदेव की लाश के टुकड़े पड़े हैं।

असल में मर्द को सबक़ सिखाने के अंदाज़ में जिस बुलंद और बेबाक़ तरीक़े से इस कहानी में बलजीत कौर एक मर्द का काम तमाम कर प्रसन्न हो कर बिस्तर पर बैठ जाती है, वह स्थिति बेहद नाटकीय लगती है। औरत का बदला लेना जायज़ है, नायक रस्कोल्निकोव (*अपराध और दंड*—दोस्तोएव्स्की) की तरह क़त्ल को उचित भी बताया जा सकता है, लेकिन इस कहानी के अंत में क़त्ल के बाद बलजीत कौर जिस इत्मीनान में दिखाई गई है, वैसा हक़ीक़त में होता नहीं है।

'काली लड़की और अंधा भिखारी' इस संग्रह की विशिष्ट कहानी है। इस कहानी में रहबर ने राजनीति को उस तरह हावी नहीं होने दिया है, जैसा कि उन की अन्य कहानियों में है। इस कहानी में कोयला बीनने वाली एक काली लड़की और एक अंधे भिखारी के प्यार को जिस अंतरंगता के साथ रहबर ने चित्रित किया है, वह बेजोड़ है। प्यार के साथ दोनों की मेहनत का रंग भी है। जीवन का उत्साह और अंत में प्यार की तरंग में वह अहसास भी है, जिस में अंधा रहमान अपनी प्रेयसी रज्जो की कलाइयों में चूड़ियाँ पहनाते हुए रंग का आभास पा चुका है—रज्जो उस के लिए गोरी है और चूड़ियाँ लाल-पीली। इस कहानी का शिल्प रहबर को सौन्दर्यशास्त्र का पारखी सिद्ध करने के लिए काफ़ी है।

ओड़िया कथा-लेखिका प्रतिभा राय का कहानी संग्रह *कालांतर कथा* में ज़्यादातर ऐसी कहानियाँ हैं, जिन में मध्यवर्गीय परिवारों का मानसिक संघर्ष और पीढ़ी-अंतराल के चलते क़रीबी रिश्तों में बढ़ती दूरी का चित्रण अलग-अलग संदर्भों में किया गया है। कहीं 'पूजाघर' के बहाने एक माँ की पीड़ा व्यक्त हुई है, तो कहीं 'कंबल' के बहाने सास की व्यथा। चौदह कहानियों के इस संग्रह में प्रतिभा राय ने उड़ीसा के जन-जीवन, प्रकृति, पेड़-पौधों और वनस्पति के साथ-साथ भूख और चोरी की विवशता पर भी कहानियाँ लिखी हैं। 'पिछली तारीख़' शीर्षक कहानी में एक ग़रीब बाइंडर अपने बच्चे की दवा के लिए डॉक्टर के घर से चोरी करते हुए पकड़ा जाता है और इस दुष्कृत्य के लिए भीड़ उसे पीट-पीट कर जान से मार डालती है। अंत में डॉक्टर जब उस की पोटली खोल कर चोरी का माल देखता है तो उसे आश्चर्य होता है कि उस में डॉक्टर के हाथ का लिखा दवाई का पर्चा

और ऐसी दवाइयाँ हैं, जिन की तारीख़ निकल गई है। दवाइयाँ वह अपने बीमार बच्चे के लिए ले जा रहा था। यह कहानी चेखवीय अंत रखते हुए, पाठक के मन पर गहरा असर डालती है।

इसी तरह प्रतिभा राय की एक और कहानी 'विदाई' में सांप्रदायिक सद्भाव को उन्होंने एक अलग 'टच' दे कर प्रस्तुत किया है। रेल यात्रा के दौरान एक हिन्दू परिवार एक ऐसी महिला के संपर्क में आता है, जिस का पति कैंसर का मरीज़ है। बातचीत के दौरान मंदिर-मस्जिद और हिन्दू-मुसलमान पर काफ़ी बहस चलती है। हिन्दू परिवार इस महिला को हिन्दू ही समझता है और अपने संयत आचरण की वजह से वह महिला भी यह आभास नहीं होने देती कि वह मुसलमान है। अपनी मंज़िल आने पर जब वह महिला उतरती है तो काग़ज़ के टुकड़े पर अपना पता लिख कर हिन्दू भाईयों के हाथ में थमा देती है। उस पर लिखा है—वहीदा बेगम। ज़ाहिर है, हिन्दू महिला के दिल पर वहीदा के व्यवहार का जो असर पड़ा है, वह धार्मिक सहिष्णुता की अमिट छाप छोड़ने वाला है।

प्रतिभा राय की कहानियों का मानक इस संग्रह की 'आम का पेड़' कहानी मानी जा सकती है। पीढ़ियों के अंतराल का जितना सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस कहानी के पात्रों के ज़रिए प्रतिभा राय ने किया है, पाठक के ज़ेहन पर वह गहरा असर छोड़ता है। कहानी की माँ बसुमती मध्यवर्गीय संस्कारों में पली-बढ़ी हद दर्ज़े की भावुक स्त्री है, लेकिन वसुमती के पति महीकांत बदलते ज़माने की एक-एक चीज़ पहचानते हैं। विदेश से पढ़-लिख कर लौटा उन का बेटा आद्यप्राण और उस की पत्नी जब लॉन में खड़े आम के पेड़ को कटवा कर वहाँ कैक्ट्स लगवाना चाहते हैं, तो इस पर महीकांत सारी स्थिति समझ कर चुप है, लेकिन वसुमती आम के पेड़ के लिए अपना जीवन ही उत्सर्ग कर देती है। 'आम के पेड़' में कई छोटी-छोटी घटनाएँ हैं जिन की सहायता से प्रतिभा राय ने इस कहानी को मध्यवर्गीय मानसिकता के सघन अनुभव की जीवंत कहानी बना दिया है। 'वह एक मूरत', 'भूख' और 'कालांतर कथा' भी विशिष्ट कहानियाँ हैं। शंकरलाल पुरोहित ने अनुवाद भी परिश्रमपूर्वक किया है।

चर्चित किताबें :

पथ-कुपथ : हंसराज रहबर; साक्षी प्रकाशन, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032; मूल्य 60 रुपए

कालांतर कथा : प्रतिभा राय; ओड़िया से अनुवाद, शंकरलाल पुरोहित, किताबघर, दरियागंज, नई दिल्ली 110002; मूल्य 50 रुपए

मिथिलेश श्रीवास्तव

कहानी में अच्छे दिन

साहित्य की अन्य विधाओं के समान ही हिन्दी कहानी में भी एक ख़ास क़िस्म की स्थिरता देखी जा सकती है। न समकालीन समाज ने कोई उत्तेजनापूर्ण आंदोलन पैदा किया है, और न ही कोई आंदोलन पैदा कर देने की स्थिति पैदा कर देने वाली कहानियाँ लिखी गईं या लिखी जा रही हैं। समाज और साहित्य दोनों ही 'ग़ैर-क्रांतिकारिता' के दौर से गुज़र रहे हैं; परिचित क़िस्म की क्रांतिकारिता तो निश्चय ही अदृश्य है। इस स्थिति का सब से ज़्यादा असर नैतिकता और मानवीयता के प्रश्नों पर पड़ा है। सांप्रदायिक घृणा, जीवन-व्यवहार में जड़ीभूत संस्कार, अफ़सरशाही और सरकारी तंत्र का आदमी के जीवन में बढ़ता हुआ दख़ल, नैतिकता की समस्या, पुरुष-परुषता, ऊब और एकरसता, रोज़गार से जुड़ी त्रासद जीवन-स्थितियाँ, अनैतिकता और अमानवीयता और स्त्री की व्यथाएँ मनुष्यों के संघर्ष को बढ़ा देते हैं। हिंसा भी बढ़ रही है; कभी वह अपने स्थूल रूप में दिखाई देती है लेकिन ज़्यादातर सूक्ष्म रूप धारण करती है और बिना शारीरिक चोट पहुँचाए सीधे संवेदना को ही कुंठित या आहत करती है। ऐसी सामाजिक स्थिति में कहानी के स्वर का धीमा हो जाना स्वाभाविक भी कहा जा सकता है हालाँकि इस निष्कर्ष पर सर्वानुमति शायद ही जुटे। राजेन्द्र कुमार या मंजुल भगत की कहानियों का अंतःस्वर काफ़ी धीमा है, बल्कि कहना यह ठीक होगा कि औसतन ये कहानियाँ उस घड़े की तरह हैं जिस में गहराई नहीं है लेकिन पूरा भरा है, इसलिए छलकता नहीं है। स्वयं प्रकाश में अपनी कहानियों में गहराई देने की सफल कोशिश दिखाई देती है। यह कहना शायद ग़लत नहीं होगा कि धीमा स्वर ज़्यादा असरदार हो सकता है, ख़ास कर तब जब उन्माद कुछ लोगों का व्यसन बनता जा रहा है। वे किसी न किसी रूप में उन्माद फैलाए रखना चाहते हैं : कभी भाषाई उन्माद, कभी सांप्रदायिक उन्माद, कभी आतंकवादी उन्माद, कभी पतनोन्मुख बाज़ारोन्मुख भौतिकतावादी उन्माद आदि। ये सारे 'ग़ैर-रचनात्मक उन्माद' हैं। अगर उन्माद अपरिहार्य ही हो तो हमें शायद एक आध्यात्मिक-नैतिक उन्माद की ज़रूरत थी!

स्वयं प्रकाश की कहानी 'पार्टीशन' में इस ग़ैर-रचनात्मक उन्माद के दुष्परिणामों का दिग्दर्शन है। क़ुर्बान भाई जैसा शानदार शख़्स धार्मिक कर्मकांड की शरण में धकेल दिया जाता है। धार्मिक उन्माद की दुष्परिणति को रेखांकित करती हुई इस कहानी को छोड़ कर स्वयं प्रकाश के कहानी संग्रह *आएँगे अच्छे दिन भी* की कहानियों में नौकरी-पेशा लोगों की ज़िन्दगी की विडंबनात्मक परिस्थितियाँ झलकती हैं। ये कहानियाँ नायक-नायिका के

'फ्रेम' में नहीं हैं। उन के पात्र क़स्बाई और नौकरी-पेशा हैं इसलिए अव्यवस्थित हैं और स्वयं तकलीफ़ों में ज़िन्दगी काट देते हैं और अपनी संतान के लिए भी बड़ी सड़ाँध छोड़ जाते हैं; लेकिन इंसानियत और नैतिकता की पताका कभी झुकने नहीं देते।

स्वयं प्रकाश की कहानियाँ यह भी दिखाती हैं कि प्रजातांत्रिक 'मिश्रित' अर्थ-व्यवस्था में मज़दूर-वर्ग के जीवन-स्तर के उत्थान का सपना खंडित हुआ है। शोषण या सिर्फ़ किसी तरह ज़िन्दगी गुज़ार लेने भर के जुगाड़ के लिए मज़दूर वर्ग अभिशप्त है। बदलती हुई अर्थ-व्यवस्था और जड़ सामाजिक व्यवस्था में एक टकराव है, जिस में अंततः आदमी ही कुचला जाता है। स्थिति ऐसी है कि आदमी का अपनी-अपनी वास्तविकता से या तो परिचय ही नहीं होता या होता भी है तो काफ़ी देर बाद। स्वयं प्रकाश की अधिकांश कहानियों की स्थितियाँ विडंबनात्मक हैं और नौकरी-जनित हैं। उन का पात्र कहीं न कहीं नौकरी करता है और इसीलिए अमानवीयता का सामना करता है। वह अपनी ज़िन्दगी अपने अनुसार नहीं बिता पाता, बल्कि मौजूद परिवेश के अनुसार उसे ढलना पड़ता है। अपना मनोबल तोड़ कर परिवेश के अनुसार चलने की मनःस्थितियाँ नौकरीपेशा लोगों में काफ़ी मिलती हैं। स्वयं प्रकाश किसी ख़ास घटना या पात्र को सृजित करते नहीं दिखाई देते, बल्कि पात्र और परिवेश और घटना के कारण जो स्थिति पैदा होती है, वही उन के लिए महत्त्वपूर्ण है। उन की कहानी 'अशोक और रेणु की असली कहानी' में रेणु को ले कर अशोक के मन में तरह-तरह के द्वंद्व हैं, लेकिन इस द्वंद्व की जड़ें अशोक के नौकरीपेशा होने में निहित हैं। 'मरने वाले की जगह' में प्रूफ़रीडर मिश्राजी अपने दफ़्तर की चिकनी-रपटीली सीढ़ियों से गिर कर मर जाते हैं। सीढ़ियों से उन का गिरना और मर जाना उन के ही अख़बार के लिए कोई ख़बर नहीं है। गुमनामी की सुरंग में उन की जीवन-यात्रा होती है। व्यवस्था की संवेदनशून्यता इन पंक्तियों में देखी जा सकती है : प्रूफ़रीडर मिश्राजी के दुर्घटनाग्रस्त हो कर मरने के बाद प्रैस मालिकों ने प्रैस में छुट्टी कर दी थी, लेकिन बंद दरवाज़ों के भीतर ठेके पर कंपोज़िंग भी चल रही थी।' 'झक्की' कहानी के स्टेशन मास्टर उपाध्यायजी की ऊब नौकरियों में फँसे घिसते हुए लोगों की ऊब है।

नौकरियों में मोटे तौर पर दो वर्ग बन ही जाते हैं, अफ़सरों और मज़दूरों के। इन दोनों वर्गों में टकराव की स्थिति हमेशा बनी रहती है। अफ़सरों में दूसरे कर्मचारियों के प्रति कोई भाव नहीं रहता। 'गुमशुदा' में वाहन-चालक गजानंद के ग़ायब हो जाने पर उस का सहकर्मी वामनराव बड़े साहब के घर जाता है ख़बर देने और मदद माँगने। बड़े साहब कहते हैं, 'और देखो वामनराव, दफ़्तर की बातें मैं दफ़्तर में ही पसंद करता हूँ। आइंदा ध्यान रखना इस बात का।' गजानंद के गुम हो जाने की ख़बर पा कर बड़े साहब विचलित नहीं हुए। सरकारी तबादलों की नीतियों ने लोगों को परेशान किया है। सरकार कहीं भी किसी का तबादला कर देती है, बग़ैर यह सोचे कि नई जगह पर नागरिक सुविधाएँ होंगी या नहीं। 'बेमकान' के मोहन लाल इसी तरह की दयनीय स्थिति में हैं। 'चोर की माँ' का पप्पू मासूम है, माउथ ऑर्गन बजाता है, दिलचस्प लतीफ़े सुनाता है। भाई-बहनों और माँ के प्रति लगाव रखता है। विद्यार्थी जीवन में ज़ाहिर है सुनहले और लुभावने सपने भी उस ने देखे होंगे। टेलीफ़ोन ऑपरेटर की ज़िन्दगी अपने आदर्शों के सहारे नहीं जी सकता है, जबकि ऑपरेटरी की नौकरी कुछ लोगों के लिए कामधेनु है। पप्पू को भी कामधेनु के साथ जीने की कला सीखनी पड़ती है। यहीं से निम्न मध्यमवर्गीय परिवारों की विडंबना शुरू होती है। 'संहारकर्त्ता' नाम की कहानी में यह झलकता है कि आज़ाद और प्रजातांत्रिक भारत में मज़दूर-यूनियनों का मज़दूर-आंदोलन खड़ा करने में कोई श्रेय नहीं है। वैचारिक आधार होने के बावजूद यूनियनों के सरोकार संकीर्ण होते गए हैं।

स्वयं प्रकाश की कहानियों में नैतिकता-विरोधी जिन स्थितियों का उल्लेख आता है लगभग वैसी ही स्थितियाँ राजेन्द्र कुमार की कुछ कहानियों में मिलती हैं। हालाँकि राजेन्द्र कुमार की कहानियों में उतना कसाव, उतनी गहराई, उतनी सघन अनुभूति नहीं है। ज़लील होते हुए आदमी को देख कर एक आदमी अपना मनोरंजन करता है और अपने आप पर थोड़ा गर्व भी महसूस करता है, लेकिन एक दूसरी जगह पर उन्हीं परिस्थितियों में वह खुद ज़लील किया जाता है तब उसे पहले आदमी की व्यथा समझ में आती है। यह समझ एक ऐसी समाज-व्यवस्था की साक्षी है जिस में हर आदमी दूसरे आदमी को ज़लील कर रहा है या उस के ज़लील होने पर प्रसन्न हो रहा है। एक चक्र बनता है जिस में ज़लील होने और ज़लील करने का सिलसिला चलता रहता है। व्यवसाय और बाज़ार संस्कृति की यह भयानकता 'अनंतर' कहानी की अंतर-वस्तु है जो आदमी के अनुभव की सूक्ष्मता को पकड़ती है। दरअसल इस कहानी में इंसानी गरिमा को पुनः बहाल करने का आग्रह है जिस में यह बात शामिल है कि छोटे-बड़े सारे भेद-भाव भुला कर एक साथ रहें।

राजेन्द्र कुमार की एक कहानी है 'वंशीधर की उत्तरकथा' जो दरअसल कहानी के किसी भी प्रचलित ढाँचे में फ़िट नहीं होती है। यह कहानी एक तुलनात्मक अध्ययन है। बदले हुए समय में नैतिकता के बदले हुए मानकों में पात्रों के चरित्रों की गिरावट का तुलनात्मक अध्ययन। वंशीधर, अलोपीदीन, बदलू सिंह इत्यादि प्रेमचंद की कहानी 'नमक का दरोगा' के हैं जिस में वंशीधर नैतिकता और धर्मपरायणता की जीवन मूर्ति है। वे दिन स्वतंत्रता-संग्राम और गाँधीवादी आंदोलन के थे। सत्य, अहिंसा और सदाचार, न्याय और त्याग, सात्विकता और नैतिकता के आग्रहों के ज़माने में प्रेमचंद को वंशीधर जैसा चरित्र मिला होगा। आज़ादी के बाद वंशीधर का चरित्र गिरता चला गया है। स्वार्थ पर कर्त्तव्य की जीत कर्त्तव्य पर स्वार्थ की जीत में तब्दील हो गई है। वंशीधर जैसे ही चरित्र वाला तपन नाम का एक पात्र उन की 'पोस्टमार्टम' नाम की कहानी में है जो अपने वरिष्ठ सहकर्मी संतोष बाबू की मृत्यु के बाद इस मानसिक अंर्तद्वंद्व में फँस जाता है कि वह जिस पद पर है, उस का हक़दार उन का बेटा अनिल है। संतोष बाबू की मृत्यु असामयिक है, इसलिए उन का बेटा अनिल मुश्किल में है। तपन को उस से हमदर्दी है और उस के हक़ को हथिया कर पद पर बने रहने के लिए ग्लानि।

मंजुल भगत की कहानियों में एक स्त्री है जो केन्द्र में रहती है; कहानी उसी के इर्द-गिर्द घूमती-घामती उसी में विलीन होने लगती है। परंतु सारी स्त्रियाँ एक जैसी परिस्थितियों की नहीं हैं। मध्यवर्गीय चेतना से ले कर सब से 'नीचे के तबक़े' की स्त्रियों तक के जीवन को उन्होंने अपनी कहानियों में प्रवेश दिया है। कुछ स्त्रियाँ, जैसे 'कील पे अटकी काग़ज़ की चिन्दी' की फुलवा दलितों की प्रतिनिधि है। फुलवा जैसी स्त्री पात्र ज़्यादा जीवंत और दमदार है। मध्यवर्गीय चेतना की स्त्रियों में वही स्थायी भाव है : बिफरना, रोना और टूटना। कोई पति की शराबख़ोरी से परेशान, पति के जीवन में दूसरी-तीसरी औरतें के आ जाने से परेशान, लेकिन संघर्षपूर्ण लड़ाई के लिए कोई भी तैयार नहीं। पता नहीं, यह समाज की कमज़ोरी है या मंजुल भगत की कहानियों की!

भाषा, भाव, अनुभव, अभिव्यंजना, चरित्र, शिल्प आदि कहीं नया लगता है, कहीं आकर्षित करता है और कहीं कोई भी भाव नहीं जगा पाता है। लेकिन बिना असाधारण हुए भी चीज़ें महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं।

चर्चित किताबें :

आएँगे अच्छे दिन भी : स्वयं प्रकाश; राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली 110002; मूल्य 50 रुपए

अनंतर तथा अन्य कहानियाँ : राजेन्द्र कुमार; अनादि प्रकाशन, 607 कटरा, इलाहाबाद 211002; मूल्य 35 रुपए

दूत : मंजुल भगत; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नई दिल्ली 110002; मूल्य 50 रुपए

मूलचंद गौतम

व्यंग और विनोद का फ़र्क़

प्रायः औपनिवेशिक धारणा वाले विदेशियों एवं अंग्रेज़ीदां देशियों की दृष्टि में भारतीयों में 'सेंस ऑफ़ ह्यूमर' नहीं पाए जाने की शिकायत रहती है। यह एक प्रकार से भारतीय परंपरा के अज्ञान से उत्पन्न भ्रम है जो और बहुत-सी ग़लत धारणाओं की तरह चला आ रहा है। इन्हें भारतीय साहित्य एवं चिन्तन में या तो शास्त्रीय गंभीरता का रूढ़िवाद नज़र आता है, या फिर मात्र मूर्ख जंगलियों की जीवन-पद्धति। इसीलिए विदेशियों को या तो यहाँ का अध्यात्म-दर्शन ग्राह्य लगता है, या वे इस देश को सपेरों और जादूगरों का देश मानते हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र में केवल नाटक के रूपक-उपरूपकों के भेदों एवं लोक नाट्य रूपों तक ही सीमित रहा जाए, तो भी उन में निहित व्यंग, विनोद और हास्य के वैविध्य को देख कर दंग रह जाना पड़ता है। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह व्यंग-धारा स्थिर-शालीन बोध और तीखी सामाजिक चेतना से लगा कर फूहड़ अश्लीलता तक जाती है। विकृतियों का रेचन इस व्यंग्य-बोध का वर्ग आधार भी तय करता है। इस धारा में एक ओर राजन्य वर्ग में शालीन विदूषकीय उपस्थिति है, जो प्रायः अपनी सीमाओं में हास्य-व्यंग की परिस्थितियों को जगाती है। भोजन-भट्ट विदूषक का भावी विकास चारण, भाट और चाटुकार दरबारियों के रूप में हुआ। कई बार ये चाटुकार-चापलूस सामंत वर्ग की बुद्धिहीनता एवं क्रूर स्वार्थ के नमूने पेश करते हैं। अमृतलाल नागर और विजयदान देथा की रचनाओं में यह व्यंग अपनी पूरी ख़ूबियों के साथ उभरता है। इन से पहले भारतेन्दु, प्रताप नारायण मिश्र, शिव पूजन सहाय के साहित्य में व्यंग का राजनैतिक इस्तेमाल दिखता है। प्रगतिवाद के दौर में इस व्यंगात्मक चेतना में और अधिक प्रखरता आई। सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों की चीर-फाड़ करने वाले इस साहित्य पर नज़र डालने से यह साफ़ हो जाता है कि भारतीयों में व्यंग-बोध के अभाव की औपनिवेशिक धारणा कितनी खोखली है।

यदि ग़ौर से देखा जाए तो समस्त भारतीय भाषाओं में व्यंग का यह तेवर साहित्यिक-सांस्कृतिक चेतना के रूप में कमोबेश समान रूप से विकसित हुआ। यह अलग बात है कि कहीं सोद्देश्यता के कारण यह हरिशंकर परसाई, विश्वनाथ सत्यनारायण की वैचारिक प्रखरता में विकसित हुआ और दूसरी जगहों में श्रीलाल शुक्ल, शरद जोशी आदि में दूसरी तरह उभरा। इन के अलावा फूहड़ हास्य से भरी कवि-सम्मेलनी प्रतिभाओं में इस का अलग रूप सामने आया है। इस तर्क और फ़र्क़ से साहित्य में गंभीर व्यंग, उत्फुल्ल विनोद, हास्य और फूहड़ता को न केवल

अलग किया जा सकता, उसे समझने का एक दृढ़ आधार भी तैयार किया जा सकता है।

मराठी के गंगाधर गाडगीळ और हिन्दी के शंकर पुणतांबेकर की व्यंग रचनाएँ पढ़ते हुए उन्हें सही ऐतिहासिक-समकालीन परिप्रेक्ष्य में देखने-दिखाने के लिए, मुझे यह भूमिका ज़रूरी लगती है। मराठी कहानी में मध्यवर्गीय जीवन का प्रामाणिक साक्ष्य प्रस्तुत करने में गाडगीळजी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है तथा विनोद की एक अंतर्धारा उन की कहानियों में मौजूद है। लेकिन यही उन के व्यंगकार की सीमा भी है। उन की वैचारिक दृष्टि एवं विचार जो प्रायः सामाजिक बदलाव की मार्क्सवादी धारणाओं के विरोध में विकसित हुए हैं, उन के व्यंग को एक क़िस्म की तल्ख़ी और प्रखरता से वंचित करते रहे हैं। इस का तात्पर्य यह क़तई न लिया जाए कि यदि वे मार्क्सवाद के पक्षधर होते तो सफल व्यंगकार होते। हिन्दी में इस के उदाहरण के रूप में प्रायः परसाई और शरद जोशी को प्रस्तुत किया जाता है, जबकि इस समीकरण के अनुसार सोचना मज़बूरी हो तो गाडगीळ, रवीन्द्रनाथ त्यागी और के.पी. सक्सेना की श्रेणी के व्यंगकार ठहरेंगे। रसास्वाद कर केवल तात्कालिक रस ग्रहण उन्हें मात्र विनोद तक सीमित कर देता है। यही वज़ह है कि वे अपनी मध्यवर्गीय सुविधाओं के सीमित संसार में मक्खन में छुरी चलाने भर का मज़ा लेते हैं। कोई बड़ा उद्देश्य सामने न होने पर रचनाकार कितना औसत हो कर रह जाता है, इस का वे बेहतर उदाहरण हो सकते हैं।

मराठी की कोल्हटकर और गडकरी की गंभीर व्यंग-परंपरा से अलग गाडगीळ ने पाश्चात्य व्यंग-धारा के मिश्रण से अपनी जो शैली विकसित की है, उस में अभिजात मूल्ययुक्त स्वाभाविक शुद्ध हास्य को ही प्रमुखता प्राप्त हुई है। उन के इस प्रतिनिधि व्यंग-संकलन *बस का टिकट* में यद्यपि प्रहसनों और हास्य एकांकियों के बिना ही प्रातिनिधिकता देने की कोशिश हुई है, लेकिन जिस निश्छल-निरपेक्ष विनोद के गाडगीळजी पक्षधर हैं, वह उन्हीं में ज़्यादा दिखता है। मराठी लोक नाट्य की समृद्ध परंपरा के बरअक्स रख देने पर गाडगीळ के व्यंग की सीमाएँ एकदम उभर आती हैं। अकेले तेन्दुलकर के नाटक इस मायने में पर्याप्त हो सकते हैं। तार्किकता और प्रखरता के अभाव में उन का यह लेखन विनोद के लिए विनोद की ही श्रेणी में आ जाता है।

विवरणात्मक हास्य में गाडगीळ प्रायः विद्रूप, विडंबना एवं विसंगतिपूर्ण स्थितियों के प्रति एक पढ़े-लिखे आदमी के क्षीण हास्य की सृष्टि कर पाते हैं। इसीलिए उन की लोकप्रियता भी व्यापक जनमानस का हिस्सा नहीं बन पाई है। यह उन के व्यक्तिवादी विनोदी व्यक्तित्व की सीमा है जिसे पहचाना जाना चाहिए।

समूचे परिदृश्य में एक लेखक का हस्तक्षेप कई तरह का हो सकता है। गंगाधर गाडगीळ की सीमाओं की चर्चा के साथ मराठी कहानी एवं व्यंग में उन की मौलिकता एवं योगदान भी कम नहीं है। बंडू कथाओं और आर्थिक नवल कथाओं के जनक गाडगीळ को नकारना नामुमकिन है। बंडू तो उन के लेखकीय व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन चुका है। इस मायने में लेखक का यह मानस-पुत्र मध्यवर्गीय बंबइया बाबू की ढुलमुल मानवीय कमज़ोरियों का ऐसा पुतला बन चुका है जो एक साथ करुणा, खीझ और क्षोभ तक पैदा करता है। एक मिथ.का रूप ग्रहण कर चुका बंडू और उस का परिवार मिश्रित अर्थव्यवस्था का वह अनिवार्य तत्त्व है, जिस के बिना उस की कल्पना ही असंभव है। स्नेहलता इसे तारतम्य देने वाला स्थायी चरित्र है, जो कभी उसे हास्यास्पद बनाती है, कभी संतुलित और नियंत्रित करती है—चाबुक की तरह। हास्य कहानियों और लेखों के बीच वैचारिक टिप्पणियाँ, स्थितियों को ख़ास तौर पर तराश कर उन्हें विशेष अर्थ से विभूषित कर देती हैं, बिना लेखकीय प्रतिबद्धता को दिखाए। गाडगीळजी के यात्रा वर्णन भी प्रायः विनोद-पूर्ण तरीक़े से दो सभ्यता-संस्कृतियों के फ़र्क़ को निरंतर रेखांकित करते चलते हैं। उन की जीवंत शैली के स्पर्श से ये मात्र स्थूल विवरण से अलग व्यक्तिनिष्ठ प्रामाणिक अनुभव लगते हैं।

गंगाधर गाडगीळ बहुआयामी व्यक्तित्व से संपन्न लेखक हैं। आर्थिक नवल कथाओं में उन के अर्थशास्त्री एवं

चिन्तक की छवि अनुस्यूत है। मार्क्सवादी व्यवस्था का उन का विरोध जग ज़ाहिर है। इसलिए उस व्यवस्था की आलोचना सहज-स्वाभाविक है। गुटनिरपेक्षता की धारणा भी उन्हें विकासशील देशों के संदर्भ में निरर्थक लगती रही है। इन नवल कथाओं में जिस विकल्प की संभावना नज़र आती है, काश गाडगीळजी उन की सामने आ चुकी विकृतियों पर भी नज़रसानी करते! सार्वजनिक क्षेत्र पूरी तरह बुरा है और निज़ी क्षेत्र पूरी तरह अच्छा, यह काला-सफ़ेद समीकरण, या समाजवादी व्यवस्था की निरर्थकता और पूँजीवादी व्यवस्था की एकमात्र उत्तमता, चिन्तक को पक्षपाती और इकहरा बनाती है। इस व्यंग-विवेचन में विनोद की सामग्री तो निकलती है, विकल्प की गुंजाइश नहीं बनती। तार्किकता के अभाव में और हो भी क्या सकता है? मामला केवल लैम्ब और कोलरिज के बीच का नहीं, गंभीर विनोद का भी है। गाडगीळजी उस से सतत विपरीत जाना चाहें तो उन्हें कौन रोक सकता है? क्योंकि यही उन के व्यक्ति, व्यंग की प्रकृति है। क्रोध और कटुता के बिना निरा विनोद ही हो सकता है, व्यंग नहीं। और जो नहीं है उस का गिला क्या? कुछ चीज़ों को हमेशा बचा कर बाक़ी पर व्यंग करने से उस की धार भोंथरी होगी ही।

ब*स का टिकट* की तरह शंकर पुणतांबेकर का व्यंग संकलन *बदनामचा* प्रतिनिधि संकलन न होने के कारण, उस तरह लेखक के समग्र व्यक्तित्व के मूल्यांकन का आधार नहीं हो सकता। वैसे भी हिन्दी अख़बारों में व्यंग को भोजन के साथ अनिवार्य रूप से परोसे जाने वाले पापड़-अचार-सॉस बना दिया गया है, जिस का आकार-प्रकार तक निश्चित होता है। यही वज़ह है कि अख़बारी कॉलम की तरह लिखे गए *बदनामचा* की समस्त रचनाएँ एक ही आकार की हैं। उन में एक तरह की राजनीतिक घटनाओं की तरह की तात्कालिकता और सामयिकता भी है।

शंकर पुणतांबेकर प्रायः जीवन स्थितियों में मूल्यों की प्राचीन और वर्तमान भिन्नता को वैचित्र्य के माध्यम से व्यंग रूप में संप्रेषित करते हैं। यह संप्रेषण पाठक में कभी सहानुभूति, कभी करुणा और कभी क्रोध पैदा करता है। यहाँ केवल विनोद के लिए विनोद के बजाय एक वैचारिक सोद्देश्यता काम करती है। फिर भी यह विचारणीय होना चाहिए कि छिट-पुट व्यंग की यह छाया लेखक को महज़ व्यंगात्मक टिप्पणीकार ही क्यों बनाए रहती है? और कभी यह व्यंग भीतरी दबाव से उपजा होने के बजाय ऊपरी ख़ानापूरी क्यों लगता है, मात्र औपचारिक?

शंकर पुणतांबेकर हास्य और व्यंग के बीच के फ़र्क़ को ले कर सचेत हैं। उन्हें यह भी पता है कि रोज़ी-रोटी हास्य से ही मिल सकती है। व्यंग तो कई बार हँसने-हँसाने का हल्का-फुल्का काम छोड़ कर समाज में कीचड़ पैदा करने वाले को खोजने निकल पड़ेगा।

पुणतांबेकरजी प्रायः व्यंग की निर्मिति में दो विपरीत दिशाओं को अक्सर ऐसे क्रोध से तराश देते हैं कि शब्दों में एक नई अर्थवत्ता एवं चमक भर उठती है। इस प्रक्रिया में प्रायः कुछ सूत्रवाक्य, सूक्तियाँ और सत्य सिद्धांत के रूप में भी उभरते हैं। मसलन, 'जिसको बहुमत कहते हैं वह अंकाधिक्य ही तो है जिसके सामने अक्षराधिक्य की कुछ नहीं चलती' (पृ. 1)। अब लोकतांत्रिक पद्धति की शून्यता पर अलग से किसी टिप्पणी की ज़रूरत नही पड़ती। इसी तरह मारने के आधुनिक तरीक़े 'अनुल्लेख' की महिमा कौन नहीं जानता! आदर्श और सफलता, अख़बार और दूरदर्शन, अभिनंदन ग्रंथों की प्रायोजित निरर्थकता, देश रस, टेक्स्ट बुक और चरित्र का संबंध गेंदा और गुलाब, टूथब्रश और दातौन जैसी धारणाओं की तुलनात्मक 'नई परिभाषाएँ और समीकरण यहाँ मिलेंगे, जिन पर मामूली नागरिक यदा-कदा सोचता रहता है। यही स्थिति पुणतांबेकरजी के व्यंग में सूत्र और सूक्तियों की हैं—'लोग जितने अधकचरे होते हैं, इम्प्रेशन के लिए उतने ही कोटेशन चाहते हैं' (पृ. 66)। 'चतुरतापूर्ण झूठ

का ही नाम राजनीति है' (पृ. 80)। 'मंच ने कवि को सोना बनाया हो पर कविता को मिट्टी बना दिया है' (पृ. 103)। या, 'बंगला वह ऊँची जगह है जहाँ महल के आकाश से गिरा प्रजातंत्र अटका हुआ है' (पृ. 115)। 'सामंतवाद के बांद प्रजातंत्र में नौकरशाही का प्रभाव पुरानी व्यवस्था का रूपांतरण है।'

इसी तरह के अन्य समकालीन ज़रूरी मुद्दों पर पुणतांबेकरजी के व्यंग में परिवेश को ले कर तात्कालिक प्रतिक्रिया एवं विचारोत्तेजक सामाजिक चेतना के दर्शन होते हैं।

साहित्य में व्यंग बाक़ायदा विधा के रूप में प्रतिपादित तो हुआ है, लेकिन उस की आलोचना का समांतर शास्त्र विकसित नहीं हुआ है। इसीलिए व्यंगकारों की रचनात्मकता को सही परिप्रेक्ष्य नहीं मिल पाया है। यहाँ तक कि उन की गुणवत्ता और श्रेष्ठता का मानदंड भी तय नहीं हुआ है केवल अख़बारी माँग से काम नहीं चलने वाला। व्यंगकार केवल आलोचना और आलोचकों को कोसने के बजाय खुद भी पहल करें तो बुरा क्या है? व्यंग-विनोद और चुटकुलों में फ़र्क़ के लिए यह ज़रूरी है।

चर्चित किताबें :

बस का टिकट : गंगाधर गाडगीळ; भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली; 1991; 80 रुपए

बदनामचा : शंकर पुणतांबेकर; पंचशील प्रकाशन, फ़िल्म कॉलोनी, जयपुर 302003; 1988; 60 रुपए

'दैनंदिनी' और 'आत्मनंदिनी' : के.बी.एल. पाण्डेय

समकालीन भारतीय साहित्य अंक 55, जनवरी-मार्च 94 के पृष्ठ 81 पर 'एक हिन्दी सेवक की आत्मनंदिनी' शीर्षक पढ़ा। शिवपूजन सहाय के स्मरण-स्वरूप उन की डायरी के लिए 'आत्मनंदिनी' शब्द का प्रयोग किया गया है। डायरी में आत्मीयता के तत्त्व पर बल देने के लिए इस शब्द का निर्माण अजीब और अर्थहीन लगा।

'आत्मनंदिनी' 'दैनंदिनी' के सादृश्य पर गढ़ा हुआ शब्द है, लेकिन इस में यह ध्यान नहीं रखा गया कि 'आत्मनंदिनी' में डायरी का शब्दार्थ कहीं नहीं है। दिनं दिनं (प्रतिदिन) से 'दैनंदिन' शब्द बना जो प्रतिदिन या दिनानुदिन का बोधक है। इसी से संज्ञा शब्द बना 'दैनंदिनी' जिस का अर्थ हुआ प्रतिदिन की क्रिया अथवा प्रतिदिन के कार्य व्यापार का डायरी के अर्थ में रिकॉर्ड। 'आत्मनंदिनी' तो इस आशय का शब्द है ही नहीं। 'नंदिनी' पुत्री वाचक है और 'आत्मनंदिनी' का अर्थ हुआ 'आत्म पुत्री' या 'अपनी पुत्री'। अब अगर शिवपूजन सहाय की आत्मीय डायरी को उन की पुत्री माना गया हो तब ठीक है। लगता यही है कि 'दैनंदिनी' के सादृश्य में 'आत्मनंदिनी' शब्द 'दैनंदिनी' के ही अर्थ में लिखा गया है जो ग़लत है। 'दैनंदिनी' में 'नंदिनी' शब्द अलग नहीं है, जैसा 'आत्मनंदिनी' में है। इसलिए 'नंदिनी' का अर्थ 'दैनंदिनी' में पुत्री नहीं है, पर 'आत्मनंदिनी' में है। अनुकरण में कभी-कभी अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

70, हाथीखाना, दतिया, म.प्र.

काल, पुरुषार्थ और भारतीयता : शत्रुघ्न प्रसाद

प्रसिद्ध साहित्यकार एवं चिन्तक श्री अशोक वाजपेयी ने 'दूसरा समय' नामक लेख (अक्तू.-दिसं. 93) में समय (काल) एवं मानव के संबंध पर एक नए कोण से विचार किया है। यह सच है कि काल का संबंध मानव जीवन से है। निस्संदेह सारा समय या तो हमारा आज का समय है या कि अधिक से अधिक हमारे अतीत के समय और आने वाले भविष्य के समय को मिला कर बना समय है। हम यह कह सकते हैं कि काल अतीत, आगत और अनागत के रूप में प्रवहमान है। काल की धारा अनवरुद्ध है। दूसरी तरफ़ मनुष्य अपने अतीत को जानना चाहता है, आगत को जीना चाहता है और अनागत को अपने अनुकूल बनाने की आकांक्षा रखता है।

जब हमें लगता है कि वर्तमान हमारे अनुकूल है, परिस्थितियाँ हमारे नियंत्रण में हैं और हमारी हर इच्छा पूरी हो रही है, तब हम कहते हैं कि यह हमारा समय है। जब वर्तमान की परिस्थितियाँ हमारे नियंत्रण में नहीं आ पातीं, सभी इच्छाएँ पूरी नहीं हो पातीं और हमें विरोधी शक्तियों से निरंतर जूझना पड़ता है तो हम बोल उठते हैं कि समय (काल) बड़ा बलवान है। कोई विचार करने लगता है कि मानव परिस्थितियों का दास है। जब हम सफल होते हैं तो हमें अपने पुरुषार्थ पर विश्वास हो जाता है। कभी-कभी यह विश्वास अहंकार में बदल जाता है।

ऐसा लगता है कि भारतीय चिन्तन या भारतीयता ने काल और पुरुषार्थ, दोनों को महत्त्व दिया है। कभी काल प्रबल प्रतीत होता है और कभी मानव का पुरुषार्थ। यह द्वंद्व मानव जीवन में ही स्पष्ट हो पाता है। प्रकृति-वनस्पतियों के जीवन में नहीं होता। संभव है कि वनस्पतियों को अनुभूति होती हो जिस की स्पष्ट अभिव्यक्ति न होती हो। वनस्पति विज्ञान ने थोड़ा अध्ययन किया है।

चिन्तक-लेखक श्री वाजपेयी के अनुसार समय एक मानवीय संरचना है। यह एक विचारगत आयाम है। सचमुच मानव ने समय को अपनी विचार शक्ति से इसे समझने और अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। पशु-पक्षी विचार नहीं कर पाते। यह उन की सीमा है। हम ने आज के समय को मुख्य रूप से राजनैतिक-आर्थिक समय के रूप में ढाला है। अब हम उच्चतर उदात्त मूल्यों के लिए बेचैन हो उठे हैं क्योंकि राजनीति ने संस्कृति का नियमन ईमानदारी से नहीं किया है और राजनैतिक-आर्थिक चिन्तन का प्रभाव साहित्य और कलाओं पर भी पड़ चुका है।

आधुनिक विचारकों ने साहित्य और कला पर विचार करते समय समकालीनता पर सूक्ष्म दृष्टि से नहीं सोचा है। अतः इस लेख में चिन्तक वाजपेयी ने ठीक ही लिखा है कि साहित्य में विचार को प्रधान मान कर समकालीनता की चर्चा अधिक हुई है। कलाओं को शाश्वत मान लिया गया है। कला में परंपरा और साहित्य में संघर्ष की प्रधानता रेखांकित की गई है। तथापि लेखक ने अपने सूक्ष्म विवेचन के द्वारा ललित कलाओं के अंदर आए सूक्ष्म परिवर्तन को स्पष्ट किया है। सचमुच यह आवश्यक है कि सौन्दर्य-बोध, संवेदना और विचार-पद्धति पर आए इस परिवर्तन को समझने का प्रयत्न हो।

यह माना जाता है कि पश्चिम ने हमारी बौद्धिकता-विचार सरणि को आक्रांत किया है। साहित्य पर इस पश्चिमी बौद्धिकता का विशेष प्रभाव पड़ा है। परंतु पश्चिम भारतीय संगीत तथा नृत्य को अपने प्रभाव से आक्रांत करने में सफल नहीं हुआ है। भारत की पहचान नृत्य और संगीत से ही बनी है। पर केवल नृत्य और संगीत से ही नहीं, अद्वैत दर्शन, योग, संस्कृत साहित्य, भक्तितारक वैष्णव साहित्य और पुरुषार्थपूर्ण भारतीय जीवन-दृष्टि की उदात्तता ने भारत की पहचान विश्व के सांस्कृतिक मंच पर बनाई है। यही पूर्ण सत्य है।

विद्वान लेखक ने एक बड़े सत्य को रखा है—'शाश्वत की आराधना की एक बहुत लंबी परंपरा रही है। अतः समय और समाज के दबाव के बाद भी साहित्य एवं कला की एक धारा शाश्वत की परंपरा को अग्रसर करे।' यह निर्विवाद सत्य है कि तुलसी में शाश्वत की अभिव्यक्ति के साथ समय का भी प्रभाव स्पष्ट है। आधुनिक साहित्य में प्रसाद और निराला में समय के अपेक्षित प्रभाव के साथ शाश्वत की चेतना समन्वित है। दिनकर, अज्ञेय और शमशेर की कृतियाँ शाश्वत तथा समय के द्वंद्व तथा समन्विति की रचनाएँ हैं। समय (समकालीनता) एवं शाश्वत में द्वंद्व के साथ समन्विति अपेक्षित है। इसी से मानव मूल्य की प्रगतिशील निरंतरता बनी रहेगी। यह भारतीयता की प्रतिष्ठित भूमि है।

लेख के उत्तरार्ध में विद्वान लेखक ने भारतीयता के प्रश्न पर विचार किया है। काल और पुरुषार्थ तथा समय और शाश्वत की समन्विति की भूमि पर भारतीयता का विवेचन समुचित है। मुझे ऐसा लगता है कि जब सप्त सिन्धु के वैदिक जनों ने इस भूखंड के पूर्व और दक्षिण की ओर बढ़ते हुए विभिन्न जन-जातियों से संपर्क किया तो भारतीयता की रचना आरंभ हुई। याज्ञवल्क्य का कीकट (मगध) के व्रात्यों से समन्वय और अगस्त्य द्वारा दक्षिण में सम्मिलन भारतीयता की रचना के प्रमाण हैं। चिन्तन और उपासना की स्वाधीनता भारतीयता की विशेषता है। इसीलिए कहा जाता है कि भारतीयता वैदिक, श्रमण तथा जनजातीय चिन्तन, विश्वास एवं अनुभवों की समन्विति है; त्रिवेणी संगम है। गुप्त काल में एक तरफ़ विदेशी शकों और हूणों की पराजय के बाद भारतीय जीवन में सस्नेह सम्मिलन तथा दूसरी तरफ़ बौद्धों, जैनों एवं वैष्णवों का समन्वयन इसी भारतीयता की संरचना का ऐतिहासिक अभिलेख है। वर्ण-व्यवस्था-जन्य विषमता के बावजूद समन्वय एवं समरसता की स्थिति बनी रही है।

यह पूर्णतः सत्य है कि पश्चिम के सेमेटिक चिन्तन में समन्वय, समरसता तथा सामासिकता को स्थान नहीं मिल सका है। मिस्र से ले कर भारत तक की मुख्य सांस्कृतिक धारा और साहित्य के विनाश का प्रयत्न नकारा नहीं जा

सकता। जनजीवन का बलात् मतांतरण विश्वजीवन का सच है। यह प्रामाणिक सत्य है कि कबीर, रसखान, दाराशिकोह, सूफ़ी फ़क़ीर सरमद, महात्मा गाँधी और मुहम्मद क़रीम छागला के समन्वय-चिन्तन तथा सामाजिक दृष्टि को अरबी-ईरानी तहजीब में दीक्षित जनसमुदाय ने पूर्णतः अस्वीकार कर दिया है। इसी अस्वीकृति का प्रमाण है—भारत का भयावह विभाजन। इसी अस्वीकृति का संघोष है—कश्मीर का अलगाववादी आतंक। भामह, आनंदवर्धन, सोमदेव, कल्हण, विल्हण आदि के निरीह निर्बल वंशजों का घातक निष्कासन। इसी अस्वीकृति की घोषणा है—भारत-भूमि की अखंडता, सांस्कृतिक मूल्य, भारतीय भाषा और भारतीय जन को ठुकरा देना। डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने 'कुहरे में युद्ध' में इस स्थिति का संकेत किया है।

इस भारत भू और भारतीयता के जीवन में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 5-6वीं सदी में सांस्कृतिक द्वंद्व का समय आया था। तभी भारतीयता भक्ति आंदोलन के रूप में उभर आई थी। रामानंद, वल्लभ, चैतन्य, प्राणनाथ, गोविन्द सिंह तथा रामदास ने इस भारतीयता को चैतन्य बनाया था। तुलसी द्वारा परिकल्पित रामराज्य, गुरु गोविन्द सिंह का जफ़रनामा, संत प्राणनाथ की रचनाएँ और शिवा का पत्र तत्कालीन भारतीयता के चैतन्य रूप एवं संघर्षशील स्वरूप की अभिव्यक्तियाँ हैं।

19वीं सदी में पश्चिम के आक्रमण के कारण सांस्कृतिक द्वंद्व की स्थिति आई थी। स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ और अरविन्द ने भारतीयता को दयनीयता से उबारने का प्रयास किया था। निराला की कविता 'जागो फिर एक बार' भारतीयता के उद्‌बोधन एवं उत्थान की जाग्रत चेतना की अभिव्यंजना है। द्विवेदी युग तथा छायावाद युग इसी चेतना की कलात्मक अभिव्यक्ति है। पंत के अनुसार छायावाद नवजागरण की चेतना का काव्य है।

जब द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, उपभोक्तावादी साम्राज्यवाद और मजहबी आतंकवाद अट्टहास कर रहे हों और निरंतर आक्रमण कर रहे हों तो भारतीयता जागृत होगी। काल और पुरुषार्थ की भूमि पर खड़ी होगी। वह कभी बाँझ नहीं रही है। सर्वश्री विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय, विष्णुकांत शास्त्री, डॉ. जगदीश गुप्त, शैलेश मटियानी, नरेन्द्र कोहली, डॉ. शिवप्रसाद सिंह, आरसी प्रसाद सिंह, देवेन्द्र दीपक, सत्यपाल चुघ, सुंदरलाल कथुरिया आदि इसी जाग्रत भारतीयता को वाणी प्रदान कर रहे हैं। सजग और सतर्क भारतीयता को आक्रामक नहीं कहा जा सकता। डोगरी और कश्मीरी के कवि-लेखक रतनलाल शांत और मोतीलाल साक़ी *समकालीन भारतीय साहित्य* में अपने देश में ही शरणार्थी जीवन के दर्द को व्यक्त कर आक्रामक तत्त्व की ओर इशारा नहीं कर रहे हैं? बाङ्ला की लेखिका तस्लीमा का उपन्यास किस सत्य को प्रकट कर रहा है? हमीद दलवई के विचार किस सच्चाई को रख रहे हैं? लेखक इस सारे संदर्भ को भूलने का प्रयत्न कर रहे हैं।

यदि साहित्य, संगीत, कला और राजनीति में भारतीयता को मान्यता देने वाले किसी भी समूह के साधक हों, उन्हें जनजीवन ने सम्मान दिया है। संगीत के क्षेत्र में मुस्लिम बंधुओं का योगदान अभिनंदनीय रहा है। अतः सारे देश ने पूरा सम्मान दिया है। पर इसी क्षेत्र में योगदान क्यों सीमित रहा? संपूर्ण जीवन व राजनीति पर इस भारतीय संगीत और गाँधीजी के उत्सर्गमय जीवन का असर क्या रहा? मो.अ. जिन्ना, शहाबुद्दीन और ओवैसी का ही असर क्यों रहा? विवेकानंद और गाँधी से चैतन्य भारतीयता सतर्क हो कर आगे बढ़ रही है। अणुव्रत और वीरव्रत के युगपत् महत्त्व को समझ कर अग्रसर हो रही है। आत्म-सजग और समय-सजग दोनों होना अस्तित्व एवं अस्मिता के लिए अपेक्षित है।

—त्रिपाठी भवन, राजेन्द्र नगर, पथ 13-ए, पटना-16

इस अंक के रचनाकार

गोपीचंद नारंग : जन्म 11 फ़रवरी 1931, दुक्की, बलूचिस्तान (पाकिस्तान)। उर्दू के लब्ध-प्रतिष्ठ आलोचक और भाषाविद्। अब तक *उस्लूबियाते मीर, सफ़र आश्ना, उर्दू अफ़साना : रवायत और मसाइल, उर्दू मसनवियाँ, साख़्तियात पस साख़्तियात और मशरिक़ी शेरियात, करख़नदारी* और *अमीर ख़ुसरो का श्रिंगर नुस्ख़ः* के अलावा 40 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। उत्तर प्रदेश शासन से ग़ालिब पुरस्कार और 1979 में राष्ट्रीय शिक्षण अनुसंधान एवं प्रशिक्षण केन्द्र के राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित। भारत के राष्ट्रपति द्वारा 1985 में हिन्दी-उर्दू साहित्य कमेटी का सर्वोच्च पुरस्कार। इस से पूर्व पाकिस्तान के राष्ट्रपति की ओर से विशिष्ट तम्ग़ः-ए-इम्तियाज़। संपर्क : डी-258, सर्वोदय एंक्लेव, नई दिल्ली 110017

देवेश : जन्म 4 अप्रैल 1963। सज्जाद ज़हीर के लघु उपन्यास *लंदन की एक रात* और *रौशनाई* का हिन्दी अनुवाद। स्वतंत्र पत्रकारिता एवं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अनुवाद एवं लेख। शोध-छात्र। संपर्क : 007, पेरियार हॉस्टल, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली 110067

कैलाश वाजपेयी : वरिष्ठ हिन्दी कवि। *संक्रांत, देहांत से हटकर, तीसरा अँधेरा, महास्वप्न का मध्यांतर, प्रतिनिधि कविताएँ* (काव्य-संग्रह); *युवा संन्यासी* (नाटक) आदि प्रकाशित। संपर्क : डी-203, साकेत एवेन्यू-2, नई दिल्ली 110017

हेमचंद्र पांडे : जन्म 24 सितंबर 1943। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली के रूसी अध्ययन केन्द्र में प्रोफ़ेसर। *भाषा, मस्तिष्क और चेतना* (तंत्रिका भाषाविज्ञान पर लेख), *अंतिम घड़ी* (वलेन्तीन रस्पूतिन के रूसी उपन्यास का अनुवाद), *अपनी ज़बान में कुछ कहो* (वित्तोरिया तोकारेवा की रूसी कहानियों का अनुवाद), *समकालीन रूसी कहानियाँ* तथा रूसी और हिन्दी व्याकरण पर रूसी और हिन्दी में लेख प्रकाशित। संपर्क : वाई-81, हौज़ख़ास, नई दिल्ली 110016

शा. बालुराव : जन्म 12 जून 1929। कन्नड और अंग्रेज़ी के वरिष्ठ कवि एवं अनुवादक। साहित्य अकादेमी की अंग्रेज़ी पत्रिका *इंडियन लिटरेचर* के भूतपूर्व संपादक। कन्नड और अंग्रेज़ी में अनेक पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : 'कावेरी', 131, जे-एक्सटेंशन, लक्ष्मी नगर, दिल्ली 110092

जीवन नरह : जन्म 1970। असमिया कवि। गुवाहाटी विश्वविद्यालय में अध्ययनरत। असमिया की तमाम प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ प्रकाशित। एक काव्य-संकलन प्रकाशनाधीन। संपर्क : आर सी सी-3, ब्वॉयज़ हॉस्टल, रूम नं. 45, गुवाहाटी विश्वविद्यालय, गुवाहाटी 781014

सावित्री शइकिया बरुवा : जन्म 1962, ग्राम ददरा, ज़िला कामरूप (असम)। 1979 से लेखनरत। असमिया कवयित्री। एक काव्य-संकलन *सुहृद अनुपल* प्रकाशित। संपर्क : व्याख्याता, दमदमा कॉलेज, कुल्हाटी 781104 (असम)

नीलिम कुमार : जन्म 1961, पाठशाला (असम)। असमिया के महत्त्वपूर्ण युवा कवि। चार कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : चिकित्सक, शुवालफुचि आयुर्वेदिक अस्पताल, ज़िला कामरूप (असम)

अनुपमा बसुमतारी : जन्म 5 जुलाई 1960, दरंगगिरी, ज़िला ग्वालपाड़ा (असम)। असमिया कवयित्री। हिन्दी, अंग्रेज़ी एवं बाङ्ला में कविताओं के अनुवाद। संपर्क : जीवन बीमा निगम, मंडल कार्यालय, एस.एस. रोड, गुवाहाटी 781001

अर्चना पुजारी : जन्म 10 जून 1960। असमिया कवयित्री। एक कविता-संग्रह *उपलब्धिर अभिज्ञान* प्रकाशित। संपर्क : व्याख्याता, आर्य विद्यापीठ कॉलेज, गुवाहाटी (असम)

सनंत तांती : जन्म 1952, काली नगर, चाय बाग़ान (असम)। असमिया कवि। *उज्ज्वल नक्षत्र संधानत, मई मानुहर अमल उत्सव, निजर विरुद्धे शेष प्रस्ताव, शब्दत अथवा शब्दहीनतात* काव्य-संकलन प्रकाशित। असमिया के वासंती देवी गोस्वामी स्मृति पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : प्रचार अधिकारी, निधि भवन, वशिष्ठ लालमाटी, गुवाहाटी 781028 (असम)

समीर तांती : जन्म 1956, विहोरा चाय बाग़ान, जोरहाट

(असम)। असमिया कवि। *युद्ध भूमिर कविता, काफ़्री कविता, शोकाकुल उपत्यका, अत्याचारर टोकाबही, सेउजीया उत्सव, विषय दुर्भिक्ष* आदि काव्य-संकलन प्रकाशित। संपर्क : सह सूचना अधिकारी, पर्यटन विभाग, असम सरकार, स्टेशन रोड, गुवाहाटी 781001

नाहेन्द्र पादुन : द्वारा, दिनकर कुमार

दिनेश डेका : द्वारा, दिनकर कुमार

दिनकर कुमार : जन्म 5 अक्तूबर 1967, ब्रह्मपुरा (बिहार के मिथिलांचल) में। दस नाटकों का लेखन एवं निर्देशन। एक कविता-संकलन *आत्म निर्वासन* प्रकाशित। एक उपन्यास *ब्रह्मपुत्र की घाटी में* का धारावाहिक प्रकाशन। असमिया कविताओं के अनेक अनुवाद पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। संपर्क : *सेंटिनल* (हिन्दी दैनिक), जी.एस. रोड, दिसपुर, गुवाहाटी 781005 (असम)

शरणकुमार लिम्बाळे : जन्म 10 जून 1956। मराठी कवि। एक अरसे से आकाशवाणी की सेवा से संबद्ध। कविता, उपन्यास आदि विधाओं में *अक्करमाशी* सहित एक दर्जन से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। कुछ पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित। कुछ दिन मुक्त विद्यापीठ, नासिक में सेवा के बाद संप्रति महाराष्ट्र सरकार की सेवा में। संपर्क : बी-52, सरकारी कर्मचारी कॉलोनी, बांद्रा (पूर्व), मुंबई 400057

अरुणा ढेरे : जन्म 2 फ़रवरी 1957। मराठी कवयित्री। पुणे विद्यापीठ की ओर से दूरदर्शन प्रशिक्षण के लिए जापान में एक महीने की प्रतिनियुक्ति। अमेरिका में तीन महीने अतिथि व्याख्याता। संप्रति पुणे विद्यापीठ में सेवारत। कविता और कहानी लेखन में विशेष रुचि। कविता-संग्रह को राजकीय एवं अन्य पुरस्कार प्राप्त। संपर्क : 'विदिशा', 10 अभिराम सोसायटी, तुलसी बाग़ वाले कॉलोनी, पुणे 411009

नारायण कुलकर्णी कवठेकर : जन्म 30 सितंबर 1951। श्री शिवाजी कॉलेज, अकोला में मराठी के प्राध्यापक। प्रथम कविता-संग्रह को राजकीय एवं महाराष्ट्र साहित्य परिषद पुरस्कार। दूसरा कविता-संग्रह प्रकाशनाधीन। संपर्क : 'किताब', साहेब स्मृति बंगले के पीछे, रावजी वाडी, अकोला 444005

सुलभा कोरे : जन्म 4 दिसंबर 1962। मराठी और हिन्दी में लेखन। एक कविता-संग्रह; एक हिन्दी उपन्यास का मराठी अनुवाद प्रकाशित। संपर्क : यशोरमा अपार्टमेन्ट, तल मंज़िल, चार रास्ता, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद मार्ग, डोंबीवली (पूर्व), ज़िला ठाणे 421201

अरुण म्हात्रे : जन्म 25 अक्तूबर 1954। एक कविता संग्रह *ऋतु शहरातील* प्रकाशित। एक कथा-संग्रह तथा एक एकांकी-संग्रह प्रकाशनाधीन। लगभग 10 नुक्कड़ नाटकों का निर्देशन एवं प्रस्तुति। कविताओं के लिए बहिणाबाई पुरस्कार से सम्मानित। *अक्षर चळवळ* नामक साहित्यिक लघु पत्रिका के संपादन से संबद्ध। संपर्क : 3, श्रीनाथ अपार्टमेन्ट्स, 3 हनुमान चौक, मुलुंड (पूर्व), मुंबई 400 081

नितीन तेंडूलकर : जन्म 28 सितंबर 1957। कविता का उभरता हुआ स्वर। कुछ कविताएँ दूरदर्शन पर प्रस्तुत। *असम* कविता-संग्रह को राज्य सरकार पुरस्कार। संपर्क : 7 उषःकाल, साहित्य सहवास, बांद्रा (पूर्व), मुंबई 400051

अनुराधा पाटील : जन्म 5 अप्रैल 1953। अब तक तीन कविता-संग्रह प्रकाशित। हिन्दी, उर्दू, अंग्रेज़ी में अनुवाद संबंधित भाषाओं की 'वार्षिकी' में शामिल। मराठवाड़ा साहित्य परिषद, महाराष्ट्र साहित्य परिषद सहित राज्य सरकार पुरस्कार प्राप्त। *प्रतिष्ठान* मासिक पत्रिका के संपादक मंडल की सदस्य। साहित्य अकादेमी के मराठी सलाहकार मंडल की सदस्य। संपर्क : शांति नगर, फ़ायर ब्रिगेड के पीछे, औरंगाबाद (महाराष्ट्र) 431001

रमेश इंगळे उत्रादकर : जन्म 1964। मराठी के उदीयमान तरुण कवि। संपर्क : 171, शिवाजी गृह निर्माण संस्था, वार्ड नं. 19, बुळढाणा

विवेक मोहन राजापुरे : 1957-1987। मराठी युवा कविता के सशक्त हस्ताक्षर। आठवें दशक में मराठी कविता में एक नई ताज़गी लाने वालों में प्रमुख। कहानियाँ भी लिखीं। रचनाओं में जीवन के तल्ख़ अनुभवों की अभिव्यक्ति। 30 वर्ष की अल्पायु में रेल दुर्घटना में दुखद अंत। मृत्यूपरांत एक कविता-संकलन *सामोरा* प्रकाशित। रचनाओं के लिए संपर्क : 237/2, गवर्नमेन्ट कॉलोनी, बांद्रा (पूर्व), मुंबई 400051

रवि कुरसुंगे : जन्म 10 जुलाई 1951, मुंबई। कविता के अलावा चित्रकला, शिल्प और सैट डिज़ाइन में भी गहरी सक्रियता। एक काव्य-संकलन *इंद्रिय अरण्य* तथा एक नाटक *अतिथि* प्रकाशित। संपर्क : द्वारा पीपुल्स बुक हाउस, 15 कावसजी पटेल स्ट्रीट, फ़ोर्ट, मुंबई 400001

अशोक नायगावकर : जन्म 29 दिसंबर 1947। मराठी की युवा पीढ़ी के सर्वाधिक चर्चित कवियों में से एक। एक कविता-संग्रह *वाटेवरच्या कविता* प्रकाशित। संपर्क : डी-87, अनंतधाम, करंबेलकर वाडी, चेम्बूर गावठाण रोड नं. 3, मुंबई 400071

रजनी परूळेकर : जन्म 16 जून, 1945, पावस (रत्नगिरी)। मराठी की चर्चित युवा कवयित्री। *प्रतिष्ठान, युगवाणी, सत्यकथा, अस्मितादर्श* आदि मराठी की अनियतकालीन पत्रिकाओं में कविताएँ प्रकाशित। अब तक तीन कविता-संग्रह *काही दीर्घ कविता, दीर्घ कविता* और *स्वीकार* प्रकाशित। इंडियन कौंसिल फ़ॉर कल्चरल रिलेशंस द्वारा प्रकाशित *इंडियन पोएट्री टुडे* में कविताएँ संकलित। संपर्क : जी/12, आंबे वाडी, गिरगाव, मुंबई 400004

वसंत सीताराम पाटणकर : जन्म 20 जनवरी 1952। *कविता दशकाची* प्रातिनिधिक काव्य-संग्रह में प्रमुख कवि के रूप में कविताएँ संकलित। कुछ कविताओं का

हिन्दी, गुजराती, उर्दू तथा अंग्रेज़ी में अनुवाद। मराठी में 20 से अधिक समीक्षात्मक लेख प्रकाशित। *विजनांतील कविता*- संग्रह पर महाराष्ट्र सरकार राज्य पुरस्कार तथा बा.सी. मर्ढेकर पुरस्कार। संपर्क : मराठी विभाग, मुंबई विश्वविद्यालय, कालिना कैम्पस, विद्यानगरी, मुंबई 400098

चंद्रकांत बांदिवडेकर : जन्म 4 नवंबर 1932, रत्नगिरी। मुंबई विश्वविद्यालय के भूतपूर्व हिन्दी प्रोफ़ेसर। मराठी में तीन तथा हिन्दी में छह पुस्तकें प्रकाशित। इन के अलावा अनूदित और संपादित पुस्तकें। दो राज्यीय और दो केन्द्रीय पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : 7, शाकुंतल, साहित्य सहवास कॉलोनी, बांद्रा (पूर्व), मुंबई 400051

अरुंधती देवस्थले : जन्म 15 सितंबर 1956। मराठी से हिन्दी और अंग्रेज़ी में अनेक अनुवाद पुस्तकाकार प्रकाशित। साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली में कार्यरत। संपर्क : बी-57डी, गंगोत्री एन्क्लेव, अलकनंदा, नई दिल्ली 110019

विजय कुमार : जन्म 11 नवंबर 1948, मुंबई। एक कविता-संग्रह *अदृश्य हो जाएँगी सूखी पत्तियाँ* और एक आलोचना पुस्तक *साठोत्तरी कविता : परिवर्तित दिशाएँ* प्रकाशित। संपर्क : 8-नटराज, आर.बी. मेहता रोड, घाटकोपर (पूर्व), मुंबई 400077

सी.बी. कोचले : जन्म 15 अक्तूबर 1955, वाई (महाराष्ट्र)। मराठी से हिन्दी में कुछ छुटपुट अनुवाद। संपर्क : ए-8, प्रूडेंशियल सोसायटी, शिवम् कॉम्पलेक्स, राजाजी रोड, राम नगर, डोम्बिवली (पूर्व), महाराष्ट्र 421201

श्याम विमल [श्याम सुंदर शर्मा] : जन्म 1931, शुजाबाद (पाकिस्तान)। हिन्दी कवि। *कविता अष्टावक्र* नाम से आठ हिन्दी कवियों की दस-दस कविताओं का मराठी अनुवाद प्रकाशित। *उन्हाचे तुकडे* मराठी कविता पाण्डुलिपि पर भारत सरकार के शिक्षा एवं संस्कृति मंत्रालय द्वारा पुरस्कार। *छान झालं हेही* (अच्छा हुआ यह भी) नामक अपने उपन्यास का मराठी में प्रकाशन। संपर्क : 'विमल वाटिका', बी-96, सैक्टर-26, नोएडा 201301, उ.प्र.

माया सरदेसाय : जन्म 19 मार्च, 1966। कोंकणी की पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ प्रकाशित। ऑल इंडिया रेडियो पर कविता व लेख प्रसारित। संपर्क : 4, सेंट एंथनी, विला मरीना के सामने, एन.आई.ओ. सर्कल, दोनापावला, गोआ 403004

अरुण साखरदांडे : कोंकणी के कवि। धेंपो कॉलिज ऑफ़ कॉमर्स, पणजी, गोआ में लैक्चरार। *एका धराक झाड जाय* कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : धेंपो कॉलिज ऑफ़ कॉमर्स, एलटिनहो, पणजी 403001, गोआ

काशिनाथ शांबा लोलयेकार [शिवानंद डी. तेन्डुलकर] : कोंकणी के युवा कवि। *काशी म्होन्नत्ता* कविता-संकलन प्रकाशित। संपर्क : शिवानंद डी. तेन्डुलकर, 60-ए, स्टेट बैंक मेन ऑफ़िस, दयानंद स्मृति, पणजी 403001, गोआ

मनोहर राय सरदेसाय : जन्म 1925 पणजी, गोआ। *गोंया तुज्या मोगारवातीर, जायात जागे, राम-गीता, जायो-जुयो, ओनोरे द् बाल्झाक* कविता-संग्रह प्रकाशित। साहित्य अकादेमी, गोआ कला अकादेमी तथा राष्ट्रीय हिन्दी अकादेमी पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : ए-3, वनराय, तेओफिलो ब्रागा, ताळगाँव, गोआ 403003

मोहन निराश : जन्म 21 मार्च 1934, श्रीनगर, कश्मीर। कश्मीरी तथा हिन्दी में लेखन एवं अनुवाद। चार कविता-संकलनों के अलावा तीन सहसंपादित। संपादित पुस्तकें प्रकाशित। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय पुरस्कार सहित अनेक पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : 'कश्मीरा', ए/41, इंदिरा एंकलेव, नेब सराय, नई दिल्ली 110068

रश्मि धवन : जन्म 31 अगस्त 1942, सूरत (गुजरात) में। साहित्य एवं कला में रुचि। चंद्रशेखर रथ के उपन्यास *नवजातक* का ओड़िया से हिन्दी में अनुवाद। संपर्क : 664, शहीद नगर, भुवनेश्वर 751007

प्रेमशंकर रघुवंशी : जन्म 8 जनवरी 1936, होशंगाबाद ज़िले की सिवनी मालवा तहसील के पहाड़ी गाँव जमानी बैंगनिया में। *आकार लेती यात्राएँ, पहाड़ों के बीच* काव्य-संग्रह। *देखो साँप, तक्षक नाग* लंबी कविता पुस्तक। *फुल्लो की गुड़िया, भारत की अरुणाई* बालोपयोगी। *भवानी भाई* (भवानी प्रसाद मिश्र पर संपादित ग्रंथ)। संपर्क : शासकीय महाविद्यालय, हरदा 461331

शेफालिका वर्मा : जन्म 9 अगस्त 1943, भागलपुर, बिहार। हिन्दी, मैथिली में समानरूप से लेखन। *स्मृति रेखा* संस्मरण-संग्रह, *विप्रलब्धा* काव्य-संग्रह, *एकटा आकाश* कथा-संग्रह मैथिली में प्रकाशित। एक कविता-संग्रह *ठहरे हुए पल* हिन्दी में प्रकाशित। अनेक पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : 7/सी-14, प. आनंदपुरी, पटना 9

देवशंकर नवीन : मैथिली के कवि एवं अनुवादक। संपर्क : नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, ए-5, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली

सुखचैन मिस्त्री : जन्म 1953, अहमदगढ़, ज़िला संगरूर। अब तक दो काव्य-संग्रह *मिट्टी दा मोर* और *हुनाली धुप्प* (डॉ. सतिन्दर बजाज के अंग्रेज़ी कविताओं का पंजाबी अनुवाद) प्रकाशित। हिन्दी की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं के अलावा कविताएँ अंग्रेज़ी और तेलुगु में भी प्रकाशित। संपर्क : 75, आशापुरी (अग्गर नगर), लुधियाना (पंजाब) 141001

सौभाग्यवंत महाराणा : जन्म 15 अगस्त 1951, बोलांगीर, ओड़िशा। एक कविता-संग्रह *सागुआ शतर शहर* प्रकाशित। एक काव्य-संग्रह *अनावृत अज्ञातवास* प्रकाशनाधीन। बसंत मुदुलि कविता पुरस्कार, धरित्री

कविता पुरस्कार तथा बसंत मिलन कविता पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : सहायक प्रशासनिक अधिकारी, भारतीय जीवन बीमा निगम, कुचिन्डा, ज़िला संबलपुर 768222

श्रीनिवास उद्गाता : जन्म 6 जनवरी 1935, बोलांगीर। कवि, उपन्यासकार, कथाकार, अनुवादक और चित्रकार। विभिन्न विषयों में 60 के लगभग पुस्तकें प्रकाशित। हिन्दी से भगवतीचरण वर्मा, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, यशपाल और अमृतलाल नागर आदि की पुस्तकों का ओड़िया में अनुवाद। साहित्य अकादेमी के अनुवाद पुरस्कार के अलावा अनेक पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : कवि कुटीर, बोलांगीर 767001 (ओड़िशा)

क़ादिर ज़मां : जन्म 5 अक्तूबर 1933, ज़िला करीम नगर (आंध्र प्रदेश)। दो उर्दू कथा-संग्रह और एक नाट्य-संग्रह के अलावा अनेक अनुवाद प्रकाशित। *मॉडर्न थॉट एंड कंटंप्रेरी लिटरेरी ट्रेंड्स* का संकलन/संपादन। संपर्क : 16-10-49, न्यू मल्कापेट, हैदराबाद 500036

ओम प्रकाश शर्मा : जन्म 11 जून 1940। पंजाबी के कहानीकार। पंजाबी, हिन्दी, उर्दू और अंग्रेज़ी में लेखन एवं अनुवाद। साहित्यिक विषयों पर अनेक लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। अनेक महत्त्वपूर्ण संकलनों में रचनाएँ संकलित। संपर्क : उप सचिव, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली 110001

शमोएल अहमद : जन्म 4 मई 1950, भागलपुर, बिहार। हिन्दी-उर्दू के कहानीकार। रचनाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। *बगूले, सिंगारदान* कहानी-संग्रह और *नदी* उपन्यास प्रकाशित। संपर्क : 301, ग्रैंड अपार्टमेन्ट, न्यू पाटलिपुत्र कॉलोनी, पटना 800013

ओबैद क़मर : जन्म 4 सितंबर 1948, अज़ीमाबाद, पटना। कहानी-संग्रह *आख़री कश* प्रकाशित और *नंगी आवाज़ की गूँज* प्रकाशनाधीन। निखार अदबी अवार्ड (मऊनाथ भंजन) स्वर्णपदक के अलावा 1983 में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पुरस्कार तथा 1993 में बिहार सरकार द्वारा 'साहित्य संवर्द्धन सम्मान'। संपर्क : मोहम्मदपुर, शाहगंज, महेन्द्रू, पटना 800006

निशांतर [आर.के. नारायण] : जन्म 4 दिसंबर 1959, लहेरियासराय, बिहार। कहानी, कविता, आलोचना तथा अनुवाद आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। संपर्क : नीरा भवन, सूढ़ी टोला, महेन्द्रू, पटना 800006

अली इमाम नक़वी : द्वारा, खुर्शीद अकरम

खुर्शीद अकरम : संपर्क : सी-76, हनुमान रोड फ़्लैट, बंगला साहब लेन, नई दिल्ली 110001

प्रेम प्रधान : जन्म 1 जून 1948। नेपाली के कहानीकार, कवि, आलोचक और अनुवादक। एक कहानी-संग्रह *कालो सर्प* प्रकाशित। *दिव्यालो* नेपाली साहित्यिक पत्रिका के संपादक/प्रकाशक। संपर्क : सरस्वती निवास, 35 लाडेनला रोड, दार्जिलिङ्ग (पश्चिम बंगाल)

किताब सिंह राई : जन्म 1947। नेपाली के कवि, कहानीकार और अनुवादक। नेपाली और हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। *जीवन फूल* कविता-संग्रह, *पहेंलो गुलाब को फूल* कहानी-संग्रह, *आँखी भूयालबाट* लेख-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : बिरपाड़ा नेपाली उच्च विद्यालय, पो. बिरपाड़ा, ज़िला जलपाइगुड़ी (प.बं.) 735204

रामसरूप अणखी : जन्म 1932, पंजाब। पंजाबी में आठ उपन्यास और चौदह कहानी-संग्रह प्रकाशित। *कोठे खड़क सिंह* पर साहित्य अकादेमी पुरस्कार। भारतीय भाषा परिषद, कलकत्ता और पंजाबी साहित्य अकादेमी, लुधियाना से भी पुरस्कृत। हिन्दी में चार उपन्यासों के अलावा सौ से अधिक कहानियों के अनुवाद प्रकाशित। *कहानी पंजाब* पत्रिका का संपादन। संपर्क : कच्चा कॉलेज रोड, बरनाला 148101 (पंजाब)

शांता ग्रोवर : जन्म 3 मार्च 1959, दिल्ली। अनेक पंजाबी कहानियों और कविताओं का हिन्दी में अनुवाद। बाल कहानियाँ और लेख प्रकाशित। पंजाबी से *जंगल टापू* जसबीर भुल्लर के बाल उपन्यास का अनुवाद साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित। संपर्क : डी-14, अजय एंकलेव, तिलक नगर, नई दिल्ली 110018

शकुंतला पंडा : जन्म 15 नवंबर 1938, कटक। ओड़िया की कथाकार एवं उपन्यासकार। अब तक तीन कहानी-संग्रह, एक उपन्यास और एक बाल पुस्तक प्रकाशित। ओड़िया मासिक *सुचित्रा* की संपादिका। विशुव मिलन अवार्ड सहित अनेक पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : संपादक, 'सुचित्रा', 431 शहीद नगर, भुवनेश्वर 751007 (ओड़िशा)

केतकी महापात्र : जन्म 12 जनवरी 1954, पुरुलिया (प.बं.)। ओड़िशा और हिन्दी की अनुवादिका। 'श्रेष्ठ कहानी लेखन पुरस्कार 1971' से सम्मानित। संपर्क : द्वारा श्री गंगाधर महापात्र, भूतपूर्व मंत्री, ओड़िशा सरकार, सौर साही, पुरी (ओड़िशा)

ग्रेस [माणिक गोडघाटे] : जन्म 10 मई 1940, नागपुर। मराठी के जाने-माने कवि और निबंधकार। *संध्याकाळच्या कविता, राजपुत्र आणि डार्लिंग, चंद्रमाधवीचे प्रदेश* कविता-संग्रह। *चर्चबेल* तथा *मितवा* निबंध-संग्रह। *चंद्रमाधवीचे प्रदेश* राज्य सरकार द्वारा पुरस्कृत। संपर्क : 1/बी, गवर्नमेन्ट नॉर्मल स्कूल क्वार्टर्स, सीताबर्डी, नागपुर-13

रंजना अरगडे : जन्म 11 जनवरी 1957, दाहोद, गुजरात। *कवियों का कवि शमशेर* का संकलन एवं संपादन—*काल तुझसे होड़ है मेरी* तथा *कुछ और गद्य रचनाएँ*। वाणी पुरस्कार तथा माता कुसुमकुमारी अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित। पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ तथा निबंध एवं अनुवाद प्रकाशित। संपर्क : 12, रीडर्स रो हाउसेज़, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद 380009

बटरोही [लक्ष्मण सिंह बिष्ट] : जन्म 25 अप्रैल 1946, छानागाँव, अल्मोड़ा, उ.प्र.। हिन्दी के कहानीकार, उपन्यासकार और समालोचक। अब तक तीन कहानी-संग्रह, चार उपन्यास, तीन शोध-आलोचना पुस्तकें और चार बाल-साहित्य की पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क: एस.आर. कॉटेज, तल्लीताल, नैनीताल 263002

कर्त्तारसिंह दुग्गल : जन्म 1 मार्च 1917, धामियाल, ज़िला रावलपिन्डी (पाकिस्तान)। पंजाबी और हिन्दी के वरिष्ठ लेखक। *हाल मुरीदाँ दा, माँ पिउ जाए, जल की प्यास न जाए, पाने मेरे, इक छिट चानन दा, नन्हे-नन्हे गुनाह* आदि अनेक कृतियाँ पंजाबी और हिन्दी में प्रकाशित। अनेक पुरस्कारों के अलावा साहित्य अकादेमी द्वारा तथा वर्ष 1989 में राष्ट्रपति द्वारा 'पद्मभूषण' से सम्मानित। संपर्क : पी-7, हौजख़ास एंकलेव, नई दिल्ली 110016

हरप्रसाद दास : जन्म 1945, ओड़िशा। अब तक *आलोकित बनबास, मंत्रपाठ* और *गर्भगृह* काव्य-संग्रह तथा *लुब्धकर तिनि प्रहर* कहानी-संग्रह ओड़िया में प्रकाशित। नई कविता में क्लासिकी नवीनता के मुहावरों व शैली के प्रयोग के लिए भारतीय भाषा परिषद, कलकत्ता तथा उत्कल सम्मान से सम्मानित। संपर्क : महालेखाकार, सचिवालय मार्ग, भुवनेश्वर 751001 (ओड़िशा)

अभय कुमार दुबे : जन्म 1956, इटावा (उ.प्र.)। राजनीति, समाजशास्त्रीय और आर्थिक विषयों पर तीन पुस्तकें और लेखों का प्रकाशन। बच्चों के लिए भी कुछ ज्ञानवर्द्धक पुस्तिकाओं की रचना। दैनिक *जनसत्ता* में मुख्य उपसंपादक। संपर्क: वाई ए-3, सहविकास अपार्टमेन्ट, 68, पटपड़गंज, दिल्ली 110092

जयंत परमार : जन्म 11 अक्तूबर 1954, अहमदाबाद। कवि एवं चित्रकार। गुजराती दलित कविता में अलग पहचान। उर्दू में भी कविताएँ प्रकाशित। *तरन्नुम* काव्य-संग्रह संपादित। संपर्क : 3 मधुबन अपार्टमेंट्स, गायत्री विद्यापीठ, जूना वार्डन, अहमदाबाद 380013

माता प्रसाद : जन्म 1925, मछली शहर, ज़िला जौनपुर (उ.प्र.)। कवि, नाटककार एवं दलित साहित्य के संकलनकर्ता। *अछूत का बेटा, धर्म के नाम पर धोखा, धर्म-परिवर्तन, वीरांगना झलकारीबाई, एकलव्य, भीम-शतक, दलित समाज संबंधी आंचलिक गीत और राजनीतिक दोहे, दलित काव्य-धारा* आदि प्रकाशित कृतियाँ। राष्ट्रीय दलित अकादमी द्वारा 1988 में राष्ट्रीय सम्मान। संपर्क: राज्यपाल, राजभवन, ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश

कृष्णदत्त पालीवाल : जन्म 4 मार्च 1943, सिकंदरपुर, ज़िला फ़र्रूख़ाबाद (उ.प्र.)। हिन्दी के कवि और समालोचक। *हथेली पर लिखा अध्याय, क्यों न इनको पंख दूँ* कविता-संग्रह। *सर्वेश्वर और उनकी कविता, भवानीप्रसाद मिश्र का काव्य-संसार, समय से संवाद* आदि प्रमुख समीक्षा-पुस्तकें। संपर्क : 162, सैक्टर-8, पॉकेट सी-8, रोहिणी, दिल्ली 110085

एम. शेषन : जन्म मदुरै, तमिलनाडु में। वरिष्ठ लेखक समालोचक। अब तक *तमिष़ के शैव संत, तमिष़ का भक्ति साहित्य, तमिष़ साहित्य : एक झाँकी, तमिष़ साहित्य का इतिहास* प्रकाशित। प्रथम तीन पुस्तकें पुरस्कृत। उ.प्र. हिन्दी संस्थान एवं द.भा. हिन्दी प्रचार सभा द्वारा सम्मानित। संपर्क: 'गुरु कृपा', प्लॉट 790, डॉ. ए. रामास्वामी सलाई, के.के. नगर (पश्चिम), मद्रास 600078

अमर गोस्वामी : जन्म 1945, मुलतान। हिन्दी में *हिमायती, महुए का पेड़, अरण्य में हम, उदास राघोदास* कथा-संग्रह प्रकाशित। *हिमायती* केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा पुरस्कृत। संपर्क : सी-412, सैक्टर-22, नोएडा (उ.प्र.)

मोहन थपलियाल : हिन्दी के कहानीकार और पत्रकार। *सोलोमन ग्रुंडे और अन्य कहानियाँ* प्रकाशित। जर्मन से ब्रटोल्ट ब्रेष्ट की कविताओं और लघु कथाओं के हिन्दी अनुवाद। संपर्क : एच-2/641, जानकीपुरम् कुर्सी रोड, पो. निराला नगर, लखनऊ 226001

मिथिलेश श्रीवास्तव : जन्म 25 जनवरी 1958, गोपाल गंज (बिहार)। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ प्रकाशित। कला और साहित्य पर निरंतर लेखन। संपर्क : 80/5 सैक्टर-1, पुष्प विहार, साकेत, नई दिल्ली 110017

मूलचंद गौतम : जन्म 13 अप्रैल 1954, अलीगढ़ (उ.प्र.) के पास एक गाँव में। समीक्षात्मक लेख हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। हिन्दी की साहित्यिक पत्रिका *परिवेश* का संपादन। संपर्क : शक्ति नगर, चँदौसी, मुरादाबाद 202412

करुणानिधान : जन्म 1932, वाराणसी। चित्रों का प्रथम ग्रुप शो 'आर्टिस्ट कम्बाइन' वाराणसी द्वारा आयोजित (1958)। एकल प्रदर्शनी पैराडाइज़ कैफ़े वाराणसी (1967)। युगल प्रदर्शनी मैक्स गैलरी काठमांडो (नेपाल, 1968)। शिल्पी चक्र दिल्ली द्वारा आयोजित चार कलाकारों की प्रदर्शनी में शिरकत। शनिवार कला मेला, दिल्ली में दो साल तक भाग लिया। बाङ्ला से हिन्दी में अनूदित रचनाएँ प्रकाशित। संपर्क: 34, चौहानपुरा, करावल नगर रोड, दिल्ली 110094

प्रो. इंद्रनाथ चौधुरी, सचिव, द्वारा साहित्य अकादेमी के लिए प्रकाशित तथा नवचेतन प्रिंटर्स, 1-ई/2 झण्डेवालान एक्सटेंशन नई दिल्ली-110055 में मुद्रित/संपादक : **गिरधर राठी**

INDIAN LITERATURE

Not a Journal, but a Tradition

- □ An Authentic Cross-Section of Indian Literary Sensibility Today.
- □ The only English Journal that brings you creative and critical writing from 22 Indian languages

INDIAN LITERATURE

- □ Each issue a Special Number!
- □ Stories • Poems • Interviews • Critical Essays • Book Reviews • Symposia • Plays • Debates
- □ Evaluating the Past, Presenting the Present

INDIAN LITERATURE

- □ Sahitya Akademi's Bi-monthly Journal. In the 36th year of Publication.
- □ An Awareness of the Old. A Search for the New.

SOME RECENT SPECIAL ISSUES:

GUJARATI DALIT LITERATURE (No. 159)
LITERARY CRITICISM : THE NEW CHALLENGES (No. 160)
TAMIL WRITING TODAY (No. 161)
THE ART OF TRANSLATION (No. 162)

Price per copy : Rs. 15/-
Subscription (Yearly) Rs. 80; three years Rs. 220.
Please send your draft/M.O. to **Secretary, Sahitya Akademi,** "Swati" Mandir Marg, New Delhi 110 001.

साहित्य अकादेमी नई दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता
श्रृंखला : मूल्य 15/- प्रत्येक

अप्पर/तमिष
अब्दुल हक़/उर्दू
अज्ञेय/हिन्दी
आचार्य शिवपूजन सहाय/हिन्दी
आनंदराम ढेकियाल फूकन/असमिया
आनंदराम बरुआ/असमिया
इलंगो अडिगल/तमिष
ईश्वरचंद्र गुप्त/बाङ्ला
ईश्वरचंद्र विद्यासागर/बाङ्ला
ए.आर. राजाराजा वर्मा/मलयाळम
ए.एस. कृष्णराव/कन्नड
कबीर/हिन्दी
कंबन/तमिष
कल्हण/संस्कृत
काका कालेलकर/मराठी
काज़ी नज़रुल इस्लाम/बाङ्ला
कुमारन् आशान/मलयाळम
कुशललाभ/राजस्थानी
कृपाराम खिड़िया/राजस्थानी
कृष्ण चंदर/उर्दू
केशवदास/हिन्दी
केशवसुत/मराठी
कृष्ण राज़दान/कश्मीरी
कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर/मराठी
गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'/हिन्दी
ग़ालिब/उर्दू
गुरज़ाड/तेलुगु
गुरुनानक/पंजाबी
गोरखनाथ/हिन्दी
गोवर्धनराम/गुजराती
घनानंद/हिन्दी
चकबस्त/उर्दू
चंडीदास/बाङ्ला
चंदूमेनन/मलयाळम
जांभोजी/राजस्थानी
जायसी/हिन्दी
ज़िन्दा कौल/कश्मीरी
चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी'/हिन्दी
जयदेव/हिन्दी
जयशंकर प्रसाद/हिन्दी
जिगर मुरादाबादी/उर्दू
जीवनानंद दास/बाङ्ला
तरुदत्त/ ,,
ताराशंकर वंद्योपाध्याय/बाङ्ला
तिरुवल्लुवर/तमिष
तुकाराम/मराठी
ठाकुर रघुनाथ सिंह साम्याल/डोगरी
दंडी/संस्कृत
दत्तकवि/मराठी
दादू दयाल/हिन्दी
दुरसा आढ़ा/राजस्थानी
देवकीनंदन खत्री/हिन्दी
धनीराम चात्रिक/पंजाबी
नज़ीर अकबराबादी/उर्दू
नंददुलारे वाजपेयी/हिन्दी
नम्मालवार/तमिष
नरसिंह चिन्तामणि केलकर/मराठी
नर्मदाशंकर/गुजराती
नाटककार श्रीहर्ष/संस्कृत
नानालाल/गुजराती
नामदेव/मराठी
नामक्कल रामलिंगम पिल्लै/तमिष
निराला/हिन्दी
परमानंद अलमस्त/डोगरी
पांजे मंगेश राउ/कन्नड
पुरन्दरदास/कन्नड
पोतन्ना/तेलुगु
प्रमथ चौधरी/बाङ्ला
प्रिथीराज राठौड़/राजस्थानी
प्रेमचंद/हिन्दी
फ़क़ीर मोहन सेनापति/ओड़िया
फणीश्वरनाथ रेणु/हिन्दी
बंकिमचंद्र चटर्जी/बाङ्ला
बलरामदास/ओड़िया
बसवेश्वर/कन्नड
बाणभट्ट/संस्कृत
बाबा फ़रीद/पंजाबी
बाबूराव विष्णु पराड़कर/हिन्दी
बारहठ ईसरदास/राजस्थानी
बालमुकुंद गुप्त/हिन्दी
बिहारी/हिन्दी
बी.एन. श्रीकंठय्या/कन्नड
बुद्धदेव बोस/बाङ्ला
बैकुंठनाथ भागवत भट्टाचार्य/असमिया
भगवतीचरण वर्मा/हिन्दी
भवभूति/संस्कृत
भवानीप्रसाद मिश्र/हिन्दी
भाई वीरसिंह/पंजाबी
भारती/तमिष
भारतेन्दु हरिश्चंद्र/हिन्दी
भास्कर रामचंद्र तांबे
मंघाराम मल्काणी/सिन्धी
मणिलाल नभु भाई द्विवेदी/गुजराती
महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर/बाङ्ला
महाकवि उल्लूर/मलयाळम
महावीर प्रसाद द्विवेदी/हिन्दी
माइकेल मधुसूदन दत्त/बाङ्ला
माघ कवि/संस्कृत
माणिक वंद्योपाध्याय/बाङ्ला
मणिक्कवायकर/तमिष
माधवदेव/असमिया
मीर अनीस/उर्दू
मुहंता नैणसी/राजस्थानी
मुल्ला वजही/उर्दू
मेघाणी/गुजराती
मोमिन खां मोमिन/उर्दू
मोहन राकेश/हिन्दी
मोहन सिंह/पंजाबी
मोहित लाल मजूमदार/बाङ्ला
यशपाल/हिन्दी
रतननाथ सरशार/उर्दू
रहीम/हिन्दी
रांगेय राघव/हिन्दी
राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह/हिन्दी
राजा राममोहन राय/बाङ्ला
रामदासु/तेलुगु
रामनरेश त्रिपाठी/हिन्दी
राधानाथ राय/ओड़िया
राहुल सांकृत्यायन
रैदास/हिन्दी
लक्ष्मीनाथ बैज़बरुआ/असमिया
वल्लत्तोल/मलयाळम
विद्यापति/मैथिली
विभूतिभूषण वंद्योपाध्याय/बाङ्ला
विशाखदत्त/संस्कृत
विष्णु सखाराम खांडेकर/मराठी
वीरेशलिंगम/तेलुगु
वृंदावनलाल वर्मा/हिन्दी
वेदम वेंकटराय शास्त्री/तेलुगु
वेमना/तेलुगु
शाह लतीफ़/सिन्धी
शिबली/उर्दू
श्री अरविन्द/
श्रीधर पाठक/हिन्दी
श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर/मराठी
सचल सरमस्त/सिन्धी
सारलादास/ओड़िया
सरोजिनी नायडू/भारतीय अंग्रेज़ी
सुभद्रा कुमारी चौहान/हिन्दी
सुधीन एन. घोष/भारतीय अंग्रेज़ी
सुनीतिकुमार चटर्जी/बाङ्ला, अंग्रेज़ी
सुमित्रानंदन पंत/हिन्दी
सूर्यमल्ल मिश्रण/राजस्थानी
स्वामी दयानंद सरस्वती/हिन्दी
हजारीप्रसाद द्विवेदी/हिन्दी
हब्बा खातून/कश्मीरी
हरिऔध/हिन्दी
हरिनारायण आप्टे/मराठी
हेमचंद्र बरुआ/असमिया
क्षेत्रय्या/तेलुगु
क्षेमेन्द्र/संस्कृत
ज्ञानदेव/मराठी

अधिक जानकारी व सूचीपत्र के लिए अपने आदेश भेजें :
साहित्य अकादेमी [बिक्री]
'स्वाति', मंदिर मार्ग
नई दिल्ली 110001. फोन : 3735297